प्राचीन भारत की सस्कृति और सभ्यता

एक ऐतिहासिक रूपरेखा

दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली • पटना

मूल्य रु० ३० ००

द्वितीय पुनरनुवादित संस्करण १९७७

प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
८, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली ११०००२

मुद्रक गजेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस
नवीन शाहदरा दिल्ली ११००३२

प्राक्कथन

निस्सन्देह इतिहास लिखने की बजाय इसे बदलना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, ठीक उसी प्रकार जैसे मौसम के बारे में केवल बातें करने की बजाय उसके बारे में कुछ करना बेहतर है। स्वतन्त्र संसदीय लोकतन्त्र में प्रत्येक नागरिक यह अनुभव करता माना जा सकता है कि वह, उसकी ओर से बातें करनेवाले और चुनाव के विशेषाधिकार के लिए उस पर टैक्स लगानेवाले प्रतिनिधियों का चुनाव करके स्वयं इतिहास रच रहा है। किन्तु कुछ लोगों को अब सन्देह होने लगा है कि इतने से ही काम नहीं चल सकेगा, कि यदि शीघ्र ही कुछ और न किया जाये तो परमाणु युग के साथ समूचा इतिहास ही अचानक समाप्त हो जा सकता है।

भारत के गौरवशाली अतीत के बारे में, तथ्य अथवा सहज बुद्धि की परवाह किये बिना, जो कुछ कहा गया है उसमें से बहुत-सा भारतीय चुनावों से भी अधिक स्वेच्छापूर्ण है। अनिश्चित तिथियों और राजाओं तथा पैगम्बरों की उचित ही सन्दिग्ध जीवनियों की ही अधिकतर चर्चा होती है। मुझे लगता है कि ऐसी स्रोत सामग्री के अभाव में भी, जो दूसरे देशों में इतिहासकारों के लिए अनिवार्य समझी जायेगी, भारतीय इतिहास की प्रमुख धाराओं को अंकित करने की दिशा में कुछ अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। कम से कम यह पुस्तक, पण्डिताऊ प्रदर्शन के बिना, यही करने का प्रयास करती है।

पुस्तक को इसके घोषित उद्देश्य के उपयुक्त बनाने में, चित्रों का चयन करने में तथा इसकी छपाई में श्री जोन इरविन का जो सहयोग मिला है उसके लिए मैं उनका विशेष कृतज्ञ हूँ। उनका और प्रोफेसर आर्थर एल० बाशम का मैं इसलिए कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इसके लिए एक अंगरेज प्रकाशक खोज निकाला। श्री सुनील जाना की कृपा रही कि उन्होंने भारतीय कबीलाई एवं ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित अपने कुछ बढ़िया चित्रों का समावेश करने की अनुमति दी। मानचित्रों और रेखाचित्रों की परिश्रमपूर्वक जाँच करने के लिए कुमारी मार्गरेट हाल को और सोवियत संघ की चित्र सामग्री की अनुकृतियाँ तैयार करने तथा छायाचित्र उतारने के लिए श्री सेम्यान त्युलायव को भी मैं धन्यवाद देना चाहता हूँ।

इस पुस्तक मे यदि कुछ मौलिकता है तो वह स्वतन्त्र रूप से किये गये मेरे क्षेत्र अनुसधान पर आधारित है। जिन मित्रो और छात्रा ने मेरी पद्धतिया मे आस्था प्रकट की है और बडे उत्साह से उनका समथन किया है, उनके प्रति चद पक्तियो मे कृतज्ञता व्यक्त करना सम्भव नही है।

—दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी

मकान न० ८०३,
पुणे ४,
३१ जुलाई, १९६४

विषय-सूची

छायाचित्र

(पृष्ठ १६० और १६१ बीच)

[illegible] = [illegible] का [illegible] १८२४-२६ ई०
[illegible] [illegible] मार्जो दरो
[illegible] सिन्धु मुद्रा पर [illegible]
[illegible] सिन्धु मुद्रा — [illegible]
[illegible] सिन्धु मुद्रा [illegible] हुआ [illegible]
[illegible] सिन्धु मुद्रा [illegible] हुआ [illegible] माता
[illegible] सिन्धु मुद्रा [illegible] धारण किया हुआ [illegible]
[illegible] [illegible] की [illegible] मुद्रा पर [illegible] पुरुष और [illegible]
[illegible] [illegible] मुद्रा पर [illegible] वृषभ की [illegible] हुए [illegible]
[illegible] [illegible] मुद्रा पर [illegible] पर [illegible] जैसी [illegible]
[illegible] [illegible] मुद्रा [illegible] और [illegible] में मुठभेड़
[illegible] [illegible] [illegible] की [illegible]
[illegible] [illegible] के सिक्के पर [illegible] (नोमुनि) का [illegible]
[illegible] [illegible] (दु[illegible]) के [illegible] सिक्के पर [illegible] और [illegible]
[illegible] [illegible] के सिक्के पर [illegible] का [illegible]
[illegible] [illegible] के सिक्के पर [illegible] का [illegible]
[illegible] [illegible] के सिक्के पर [illegible] का [illegible]
[illegible] [illegible] के सिक्के पर [illegible] का [illegible]
[illegible] [illegible] का [illegible]
[illegible] [illegible] के [illegible] सिक्का
[illegible] [illegible] के [illegible] सिक्का
[illegible] [illegible] का सिक्का
[illegible]

६९ जीवदामन का सिक्का
७० रुद्रसिंह-प्रथम का सिक्का
७१ कुषाण सम्राट कनिष्क (द्वितीय ?) की स्वर्णमुद्रा
७२ कुषाण सम्राट हुविष्क की स्वर्णमुद्रा
७३ वृष्णि कबीले का चाँदी का सिक्का
७४ चन्द्रगुप्त प्रथम व कुमार देवी की स्वर्णमुद्रा
७५ वीणाधारी समुद्रगुप्त की स्वर्णमुद्रा
७६ धनुर्धारी चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्वर्णमुद्रा
७७ गैंडे का शिकार करते हुए कुमारगुप्त-प्रथम की स्वर्णमुद्रा
७८ साम तसेन का चांदी का सिक्का
७९ अशोक-स्तम्भ का वृषभ शीर्ष, रामपुरवा
८० भारहुत स्तूप की वेदिका का भाग
८१ अनाथपिण्डिक जेतवनाराम खरीदते हुए, उच्चित्रित गोल फलक, भारहुत
८२ भारहुत पट्टिका नागराज एरापत्र बुद्ध की पूजा कर रहा है
८३ साँची के विशाल स्तूप का उत्तरी तोरण-द्वार
८४ मायादेवी का उच्चित्र, साँची
८५ मदोन्मत्त नालगिरि हाथी को वश में करते हुए बुद्ध
८६ कार्ले की चैत्यगुफा का भीतरी भाग
८७ कार्ले की चैत्यगुफा का स्तम्भशीर्ष
८८ स्फिंक्स शीर्ष, कार्ले
८९ मिथुन युगल, कार्ले
९० मार की सेना के दानव, गान्धार उच्चित्र
९१ स्तम्भशीर्ष पर किन्नर भाजा
९२ धन की सुरक्षा के लिए निर्मित बौद्ध विहार की कोठरी, शिरवल
९३ ऊँचे धनुष के साथ भारतीय क्षत्रिय, कोंडणे चित्रवल्लरी
९४ बुद्ध के भिक्षापात्र के उत्थापन के साथ नागों का नृत्य उच्चित्रित फलक अमरावती
९५ काल्पनिक पशुओं का शिकार, अमरावती उच्चित्र
९६ महिषासुर का संहार करती हुई दुर्गा, मामल्लपुरम
९७ कैलास गुफा, एलोरा
९८ धर्मचक्रमुद्रा में बुद्ध सारनाथ

प्रथम अध्याय

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

१ १ भारत की झांकी

भारत का तटस्थता और सूक्ष्मता से अवलोकन करनेवाले किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति को दो परस्पर-विरोधी विशेषताएँ अवश्य दिखायी देंगी अनेकरूपता के साथ साथ एकता भी ।

यहां की अन्तहीन विविधता आश्चयजनक, प्राय बेमेल, जान पडती है । वश भूषा, भाषा, लोगो का शारीरिक रग-रूप, रीति-रिवाज, जीवन-स्तर, भोजन, जलवायु भौगोलिक विशेषताएँ —सभी में अधिक-से-अधिक भिन्नताएँ दिखायी देती हैं । धनी भारतीय लोग या तो यूरोपीय पोशाक मे दिखायी देंगे, या मुस्लिम प्रभाववाले पोशाक मे, अथवा भारतीय ढग के रग बिरगे और ढीले ढाले कीमती परिधान मे । सामाजिक अवस्था के निम्न छोर पर ऐसे भी भारतीय हैं जो चिथडे पहनते हैं और कमर से घुटनो तक की धोती के अलावा प्राय नगे बदन ही रहते हैं । सारे देश की कोई एक राष्ट्रभाषा नही, राष्ट्रलिपि नही । दस रुपय के नोट पर दजन भर भाषाए और लिपिया दिखायी देती हैं । भारतीय जाति जैसी भी कोई चीज नही है । भारत मे गोर वण और नीली आँखोवाले लोग हैं, तो श्याम वण और काली आखोवाले भी हैं । इन दोनो के बीच हर सम्भव मध्यवर्ती प्रकार के लोग भी हमे देखने को मिलते हैं, यद्यपि आमतौर पर बाल सभी के काले होते हैं । विशिष्ट प्रकार का कोई भारतीय भोजन भी नहीं है यद्यपि यूरोप की अपेक्षा यहा भात मसाले तथा साग सब्जिया अधिक खायी जाती है । उत्तर भारत के निवासी को दक्षिण भारत का भोजन अस्वादिष्ट लगता है, तो दक्षिण भारतीय को उत्तर भारत का भोजन । कुछ लोग मास, मछली और अण्डो का छूत तक नही । बहुत-से लोग मर जायेंगे,

लेकिन गोमास खाना पसन्द नही करते। पर ऐसे भी लोग हैं जो इन पाबन्दियो का नहीं मानते। भोजन सम्बन्धी ये रिवाज रुचि पर नहीं बल्कि धार्मिक भावना पर आधारित है। देश का जलवायु भी सतरगी है हिमालय मे सदा बर्फ जमी रहती है कश्मीर मे उत्तरी यूरोप-जैसा मौसम रहता है, राजस्थान मे तप्त रेगिस्तान हैं, दक्षिणी प्रायद्वीप मे बेसाल्ट की पर्वत श्रेणियाँ और ग्रेनाइट के पहाड हैं, दक्षिणी छोर पर उष्णकटिबधीय गरमी और पश्चिमी घाट की ककरीली मिट्टी मे घने जगल हैं। दो हजार मील लम्बा समुद्रतट, जलोढ मिट्टी की चौडी और उपजाऊ घाटी म महान गगा और उसकी सहायक नदियो का समूह छोटे समूहवाली अन्य बडी नदियाँ, कुछ प्रमुख झीलें, कच्छ और उडीसा के दलदल — इन सबसे इस उपमहाद्वीप का मानचित्र पूरा हो जाता है।

एक ही प्रात के, यहाँ तक कि एक ही जिले अथवा नगर के भारतीय निवासियो मे उतनी ही अधिक सास्कृतिक असमानता है जितनी कि भारत के विभिन्न भागो मे प्राकृतिक असमानता है। विश्व साहित्य म गौरव का स्थान पानेवाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म आधुनिक भारत म हुआ, परन्तु ठाकुर के अंतिम निवास (शान्तिनिकेतन) से थोडी ही दूर पर रहनेवाले ऐसे भी सथाल और अन्य अनपढ आदिवासी लोग मिलेंगे जो रवीन्द्र के बारे मे आज भी कुछ नही जानते। इनमे से कुछ आदिवासी आज भी अन्न सग्रह की अवस्था से विशेष आगे नही बढे हैं। किसी भव्य आधुनिक शहरी इमारत का जसे, बक, सरकारी कार्यालय, कारखाने अथवा वज्ञानिक सस्थान का, डिजाइन किसी यूरोपीय वास्तुविद, अथवा उसके भारतीय शिष्य न भले ही तैयार किया हो, परन्तु इमारत खडी करनेवाले दरिद्र मजदूर आमतौर पर पुराने किस्म के अनपढ औजारो का ही इस्तेमाल करते है। उनकी मजदूरी का एकमुश्त भुगतान उस फोरमैन अथवा चौधरी को भी किया जा सकता है जो उनकी छोटी-सी श्रेणी का प्रधान होने के साथ-साथ उनकी जमात का मुखिया भी होता है। निश्चय ही ये मजदूर उन लोगो की गतिविधियो के बारे म कुछ भी नही जानते जिनके लिए य इमारतें खडी की गयी है। वित्त व्यवस्था नौकरशाही कारखानो म पचीदा मशीनो से होनेवाला उत्पादन और विज्ञान की मूलभूत मान्यताएँ उन इन्सानो की समझ से परे की चीजें हैं जो सीमान्त तक अतिकर्षित भूमि अथवा जगलो म बसकर तगहाली का जीवन व्यतीत करत रहे। जगल म भुखमरी की हालत पदा होने से इनमे से अधिकाश लोग विवश होकर शहरो म चले आय है और कोल्हू के बैल की तरह कडी मेहनत करनेवाले सबसे सस्त मजदूर बन गय हैं।

परन्तु इस प्रत्यक्ष अनेकरूपता के बावजूद यहा दोहरी एकता भी मौजूद है। शासक वग के कारण ऊपरी स्तर म कुछ समान विशेषताए है। भारतीय

पूंजीपतियों का यह वर्ग भाषा, प्रादेशिक इतिहास आदि के मामले में विभक्त होने पर भी समान स्वार्थों के कारण दो समूहों में एकत्र है। पूंजी और कारखानों का यान्त्रिक उत्पादन असली उद्योगपतियों पूंजीपतियों के हाथों में है, और उत्पादन के वितरण पर मुख्यतः उन दूकानदार निम्न पूंजीपतियों का प्रभुत्व है जो अपनी बड़ी संख्या के कारण बड़े शक्तिशाली बन गये है। अनाज का उत्पादन अधिकतर छोटे छोटे खेतों में होता है। करों और कारखानों में उत्पादित वस्तुओं की कीमत का भुगतान नकद पैसा में करना जरूरी है, इसलिए किसान को निम्न-पूंजीपतियों के एक अनिच्छुक और पिछड़े हुए पक्ष की शरण में जाने के लिए विवश होना पड़ता है। खेती की सामान्य अतिरिक्त उपज पर भी उन आढ़तियों और महाजनों का कब्जा रहता है जो आमतौर पर बड़े पूंजीपति नहीं बन पाते। सबसे धनी किसानों में और महाजनों में कोई खास अन्तर नहीं है। चाय, कॉफी, कपास, तम्बाकू, पटसन, काजू, मूंगफली, गन्ना, नारियल आदि की नकदी पैदावार अन्तर्राष्ट्रीय बाजार अथवा कारखानों में होनेवाले उत्पादन से जुड़ी हुई है। कभी कभी आधुनिक पूंजीपति भी बड़े बड़े भूखण्डों में मशीनों की सहायता से इन चीजों का उत्पादन करते हैं। इनमें लगायी जानेवाली पूंजी से जो अक्सर विदेशी होती है, इन वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है और मुख्य लाभांश भी वही पूंजीपति हथिया लेते हैं। दूसरी ओर, दैनिक आवश्यकता की बहुत-सी चीजें, मुख्यतः भांड बर्तन और वस्त्र, आज भी दस्तकारी के तरीकों से तैयार होती हैं और कारखानों में होनेवाले उत्पादन के साथ प्रतिस्पर्धा होने पर भी ये उद्योग जीवित हैं। देश की राजनीतिक परिस्थितियों पर पूंजीपति-वर्ग के इन दो समुदायों का पूर्ण प्रभुत्व है, और पेशेवर (वकील आदि) तथा बाबू लोगों का वर्ग इन्हें विधान-मण्डलों और शासन-तन्त्र के साथ जोड़ने का काम करता है।

यह ध्यान देने की बात है कि भारत में, ऐतिहासिक कारणों से, सरकार ही एकमात्र सबसे बड़ी व्यवसायी-ठेकेदार भी है। एक बड़े पूंजीपति जैसी इसकी सम्पत्ति भारत के सारे स्वतन्त्र पूंजीपतियों की सम्पत्ति के बराबर है, यद्यपि यह खास प्रकार के विनियोगों में लगी हुई है। रेलें, हवाई सेवाएँ डाक-तार रेडियो और टेलीफोन, कुछ वर्कें, जीवन बीमा और सुरक्षा उद्योग तो पूरी तरह राज्य के हाथ में हैं ही, कुछ हद तक बिजली और कोयले का उत्पादन भी राज्य द्वारा ही होता है। तेल के कुओं पर राज्य का अधिकार है। बड़े बड़े तेल शोधक कारखाने आज भी विदेशी कम्पनियों के हाथों में हैं, परन्तु सरकारी तेल-शोधक कारखाने जल्दी ही अपनी पूरी क्षमता में उत्पादन करने लग जायेंगे। इस्पात का उत्पादन अधिकतर निजी अधिकार-क्षेत्र में होता था, परन्तु अब सरकार ने भी बड़े पैमाने पर लोहे और इस्पात का उत्पादन शुरू कर दिया है।

इसके विपरीत, सरकार अनाज का उत्पादन नही करती। जब अनाज की दुर्लभता (प्राय दुकानदारो और दलालो द्वारा पैदा किये गये नकली अभाव) के कारण सस्ते मजदूरो के शहर छोडकर चले जाने की स्थिति पैदा होती है, तो सरकार विदेश से मँगाये गये अनाज का प्रमुख औद्योगिक केन्द्रो मे राशन व्यवस्था द्वारा वितरण करती है। इस व्यवस्था से बडे और छोटे दोनो वर्गों के पूजीपति खुश रहते हैं, क्योकि इससे दोनो म से किसी के भी मुनाफे पर कोई आच नही आती। अनाज की इस अस्थिर स्थिति को सुस्थिर बनाने का स्पष्ट उपाय यही है कि कृषि-कर जिन्सो मे लिए जायें और अनाज भण्डार तथा वितरण की कारगर व्यवस्था सरकार अपने हाथ मे ले ले। यह सुझाव कई बार दिया गया है—और प्राचीन भारत मे भी यही प्रथा थी—परन्तु इस दिशा मे कुछ भी नही हुआ है। आयात किये हुए अनाज को न ही कारगर चूषण पम्पा द्वारा जहाजा स उतारा जाता है, न ही आधुनिक ढग के उत्थापित भण्डारा मे जमा रखा जाता है, और न ही इसे यान्त्रिक तरीका से साफ भी किया जाता है। उपभोग की वस्तुआ का उत्पादन निजी क्षेत्र मे होता है। इस क्षेत्र म भी दो कारणो से सरकारी हस्तक्षप जरूरी है। एक, इसके बिना अर्थ-व्यवस्था असयत लोभ और अनियन्त्रित उत्पादन के कारण, छिन्न भिन्न हो जायगी, विशेषत इसलिए भी कि बहुत-सा कच्चा माल और प्राय सारी मशीनें विदेशा से मँगानी पडती हैं, जिसके लिए विदेशी मुद्रा की बडी कमी है। दूसरे, पूजीपति-वर्ग ने दोनो महायुद्धो से जनित अभावा के दिना म वस्तुआ की दुर्लभता, नियन्त्रित उत्पादन और काले बाजार के अर्थशास्त्र का पूर्ण ज्ञान हासिल किया और इसी के बल पर सत्ता हथिया ली। दरअसल, इन्ही महायुद्धा और अभावा के कारण पूजी का सचय हुआ, और अन्तत अग्रेजा के हाथा से सत्ता भारतीयो के हाथा मे आ गयी। सरकार को, उदाहरण के तौर पर, प्रतिजैविक पदार्थों (एन्टीबायोटिक्स) और औषधिया का एकाधिकारी उत्पादक बनने के लिए विवश होना पडा है, क्योकि इस क्षेत्र में भी निजी उद्योग ने अपने लोभ और मानव कल्याण के प्रति अतिघातक अवहेलना का परिचय दिया है। नियन्त्रण का काम सँभालनेवाली और भविष्य के विकास की योजनाएँ बनानेवाली सरकार सभी वर्गों स परे जान पडती है। अग्रेजा स उत्तराधिकार म मिले हुए प्रशासन तथा उच्च अधिकारी-तन्त्र की यह खूबी है कि यह तन्त्र खुद को अपने को भारतीय स्तर से ऊपर समझता रहा है और वैसा आचरण करता रहा है। निस्सन्देह अन्तिम विश्लेषण म सरकार का सचालन पूजीपति वर्ग के हाथ म है। अन सरकार किसकी और कस नियन्त्रित करती है यह इस बात पर भी निर्भर है कि सरकार पर किसका नियन्त्रण है। हाल म चीन के साथ हुई सीमा-सम्बन्धी झडपा के कारण केन्द्रीय राजसत्ता को विशेष तानाशाही अधिकार ग्रहण करने का मौका मिला है जिसके

फलस्वरूप समाजवाद अथवा अन्य किसी लक्ष्य तक जल्दी से पहुचा जा सकता है। यदि तब भी देश पहले की तरह ही समाजवाद से कोसो दूर रहता है, तो फिर इस व्यग्योक्ति मे कुछ सचाई अवश्य होगी कि हमने सही दिशावाला माग नही पकडा है। इसके बावजूद, कट्टर-से-कट्टर आलोचक को भी यह स्वीकार करना होगा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रगति हुई है फिर वह जितनी अधिक होनी चाहिए थी या हो सकती थी उतनी भले ही न हुई हो। ब्रिटिश शासन के अन्तिम दिनो मे जिन *अनावश्यक मानव निर्मित अकालो के कारण बगाल और* उडीसा म लाखो लोगो की जानें गयी, वे आज उतने की अयथाथ लगते हैं जितने कि औपनिवेशिक कुशासन के जमाने के अन्य भयावह दु स्वप्न।

१ २ आधुनिक शासक-वग

शहरो मे आबाद भारतीय पूजीपति-वग की सबसे स्पष्ट विशेषता है—विदेशी प्रभाव। आजादी के बाद चौदह साल गुजर गये, फिर भी भारत मे प्रशासन, बडे व्यवसाय और उच्च शिक्षा की भाषा आज भी अग्रेजी ही है। इस स्थिति को बदलन के ठोस प्रयास नही हुए, यद्यपि असमथ समितियो ने नेक इरादे के प्रस्ताव पास किये हैं। बुद्धिजीवी, न केवल अपने वस्त्रो मे, बल्कि उससे भी बढकर साहित्य और कला म, नवीनतम ब्रिटिश फशन की नकल करता है। आधुनिक उपन्यासो और कथाओ की रचना, देशी भाषाओ म भी, विदेशी नमूना अथवा विदशी प्रेरणा पर आधारित है। भारतीय नाटक दो हजार साल से भी अधिक पुराना है, किन्तु आज के भारत का शिक्षित रगमच, और उससे भी बढकर भारतीय सिनेमा, दूसरे देशो के रगमच और सिनेमा की नकल करता है। भारतीय काव्य मे यह विदेशीपन कुछ कम है, यद्यपि विषय-वस्तु और मुक्तछन्दो के चुनाव मे यह विदशी प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है।

इस बुद्धिजीवी वग ने यूरोपीय महाखण्ड की साहित्यिक और सास्कृतिक परम्परा के रत्नकोष की प्राय उपेक्षा ही की है। इस निधि से इनका सम्पक अग्रजी माध्यम की घटिया पुस्तको तक ही सीमित रहा है। दरअसल, भारत मे पूजीपति-वग के सम्पूण ढाचे का विकास बाह्य शक्तियो से प्रभावित हुआ है। देश मे सामन्ती और सामन्ती पूव काल की सम्पत्ति का अपार सचय था, जो सीधा आधुनिक पूजी म नही बदला। इसके काफी बडे अश को अग्रेज अठारहवी और उन्नीसवी सदी मे लूट ले गये। यह धन जब इग्लैण्ड पहुचा तभी उस देश म महान औद्योगिक क्रान्ति हुई और तभी यह धन यान्त्रिक उत्पादन से जुडकर सही अथ मे आधुनिक पूजी मे रूपान्तरित हुआ। इस परिवतन के कारण भारत का अधिक शोषण होन लगा, क्योकि प्रशासन और सनिक प्रबन्ध का बोझ लगातार बढता ही गया। पेंशन लाभाश तथा ब्याज का पसा अधिकतर इग्लैण्ड को ही जाता था। विजेता ही भारत के कच्चे माल की कीमत निर्धारित करते थे। नील,

पटसन, चाय, तम्बाकू तथा कपास की खेती इतने बड़े पैमाने पर की गयी कि पूरे जिले की अर्थ व्यवस्था ही बदल गयी। नियन्त्रण विदेशियों के हाथों में रहा, विशेषत इसलिए कि पक्का माल इग्लैण्ड में तैयार होता था। इस तैयार माल का एक अंश काफी अनुकूल कीमत में भारत के बहुत बड़े बाजार में बेचा जाता था। मुनाफा लन्दन के पूँजीपतियों और बर्मिंघम तथा मैन्चेस्टर के कारखानेदारों की जेबों मे पहुँचता था। साथ ही बम्बई मद्रास और कलकत्ता के नये शहरों में भी पूंजी की आनुषगिक वृद्धि हुई। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में यह आविष्कार किया गया कि भारतीय श्रमिकों से सस्ती मजदूरी पर मशीनों का काम कराया जा सकता है। इस आविष्कार के फलस्वरूप और १८५७ के विद्रोह के दमन का खर्च निकालने के लिए ब्रिटिश कपड़ा पर लगाये गये करों के कारण ही बम्बई मे सूती वस्त्रों के कारखाने और कलकत्ता मे पटसन के कारखाने अस्तित्व में आये। रेलो के लिए भी मशीनों जानकारीवाले कर्मियो की जरूरत थी। और पहले ही किये गये जिस आविष्कार के कारण भारत मे पहले पहल कालेजो और विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, वह यह था कि प्रशासन तथा हिसाब किताब के लिए विदेश से क्लर्कों का आयात करने की बजाय भारतीय क्लर्क को प्रशिक्षित करने मे निश्चय ही कम खर्च पड़ता है। भारतीयो ने काम को न केवल जल्दी सीख लिया, बल्कि एक विदेशी को दिये जानेवाले वेतन के तीसरे से दसवें हिस्से तक का वेतन पाकर भी कुशलता और ईमानदारी से काम करते थे। निस्सन्देह सभी ऊँचे पद विजेता शासक वर्ग के लिए सुरक्षित थे। अन्तत भारतीय बिचौलियो ने देखा कि वे अपने स्वतन्त्र कारखाने स्थापित कर सकते हैं। इस क्षेत्र में पहल बम्बई के पारसियों ने की। इनमे से अनेक पारसियो ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारी सहयोगी बनकर, विशेषत चीन पर थोप गये अफीम के व्यापार में सहयोग देकर काफी धन जमा कर लिया था। भारत के इन बड़े पूंजीपतियों और कारखानेदारो के साथ साथ ही सन् १८८० से एक नये प्रकार के भारतीय राष्ट्रवाद का और एडमण्ड बर्क और स्टुअर्ट मिल से आह्वत उत्प्रेरित भारतीय राजनेताओ का अधिकाधिक उत्थान हुआ।

यद्यपि इस पूंजीपति वर्ग का उदय विदेशी व्यापारियो के सहयोगियों के रूप मे हुआ था परन्तु इसमे वर्ण विभाजन पर आधारित प्राचीन भारतीय समाज के कई वर्ग सम्मिलित थे। दरअसल, आधुनिक भारतीय पूंजी का एक बड़ा हिस्सा पुराने सामन्तो और महाजनों की जमा सम्पत्ति के रूपान्तरण से ही बना है। आधुनिक काल में भारत के सामन्ती राजाओं को भी अपनी कलंकित संचित सम्पत्ति शेयरो और ऋणों मे लगानी पड़ी अन्यथा उनका दिवाला निकल जाता। सामन्तों और सेठ-साहूकारों के परिवार, विशेषत इनका स्त्री समाज धार्मिक अंधविश्वासो के बाह्याडम्बर से कभी भी मुक्त नही हुए। बुद्धिजीवी और पेशेवर

लोग इन दोना से भिन्न वर्गो से आये। इन्होने अग्रेजा के औपनिवेशिक शासन को हिलाने के लिए छेडे गये सघप के दौरान देशभक्ति और राष्ट्रीय स्वाभिमान को जगाने की तीव्र आवश्यक्ता महसूस की। फलस्वरूप यह बुद्धिजीवी वग अपने देश के अतीत की खोज करने मे जुट गया, और कभी कभी ऐसा भी गौरवमय अतीत खोज निकाला कि जिसका कही काई अता पता ही नहीं था। (एशियाई देश जापान न भी हाल ही म आधुनिक युग मे कदम रखे ह, परन्तु वहा यह समस्या कभी पैदा नही हुई। जापान की राष्ट्रीय परम्परा सदैव सशक्त और सुलिखित रही। जापान का औद्योगीकरण राष्ट्रीय और स्वदेशी पूजीपति-वग द्वारा विदशी आधिपत्य के बिना ही हुआ। फिर भी, जापानी बुद्धिजीवी वग ने अपने मेइजी युग मे पाश्चात्य सस्कृति के अध्ययन और अनुकरण का काम बडी कमठता से किया। इसस स्पष्ट होता है कि ऐसे सास्कृतिक परिवतना के गहरे और बुनियादी कारण होते है। सनिक आधिपत्य अथवा नये लोकाचार के अनुकरण के आकपण से इस प्रवृत्ति की व्याख्या सम्भव नही है।) परन्तु भारत के इसी पूजीपति वग ने एक लम्बे और कटु सघप के बाद शक्तिशाली ब्रिटिश शासको को देश से बाहर निकाल दिया। यदि भारतीय जनता का एक बडा भाग इस पूजीपति-वग के एक समुन्नत पक्ष का नेतृत्व स्वीकार न करता तो अग्रेजा को देश से निकालना सम्भव न होता। इस सघप मे भारतीय पक्ष शस्त्रसज्जित नही था। महात्मा गाधी के जिन्होने मुक्ति-आन्दोलन का सचालन किया और तिलक जैसे अनेक पूववर्ती नेताओ के भी, तरीके और सिद्धात भारतीय विशेषता के जान पड पडते हैं, यद्यपि गाधी स्पष्ट रूप से *तॉलस्ताय, और इस प्रकार सिल्वियो पैलिको से, जुडे हुए हैं। वतमान सदी के* आरम्भ मे जैसी विशिष्ट परिस्थितियाँ थी, उनमे इन तरीको को अपनाये बिना कोई नेतृत्व कारगर सिद्ध होता, इसमे सन्देह है। *इसलिए यह तथ्य कि*, इस सघप के दौरान और इसके बाद भी मध्य वग का पाश्चात्य सस्कृति के प्रति लगाव बढता ही गया, तो इसके कुछ विशिष्ट और बुनियादी कारण हैं। सास्कृतिक परिवतन के मूलाधार की खोज हमे उन बाह्य अभिव्यक्तियो के परे करनी होगी, जिन्हें अक्सर हम सस्कृति का सारतत्त्व समझ बैठते हैं।

तकनीकी योग्यता के मामले मे भारत का नया पूजीपति वग, जमनी और इग्लण्ड की बात तो दूर रही, जापान की तुलना मे भी पिछडा हुआ था। इस वग को किसी नये यान्त्रिक साधन अथवा महत्त्व के आविष्कारा का श्रेय प्राप्त नही है। औद्योगिक उत्पादन की आधुनिक मशीनो का, वित्त प्रणाली का यहाँ तक की राजनीतिक सिद्धान्तो का भी, ज्यो-का-त्यो इग्लण्ड से आयात किया गया। चूकि देश मे भूमिहीन गरीब मजदूरा का एक बडा वग पहले म मौजूद था, इसलिए भारत के यन्त्रकुशल सवहारा वग की अपेक्षा यहाँ के नय पूजीपति



अफगानिस्तान
काबुल
स्वात
कश्मीर
खबर दर्रा
सिंध
झेलम
चिनाब
रावी
सतलुज
दिल्ली
यमुना
पाकिस्तान
थर रेगिस्तान
नर्मदा
ताप्ती
बम्बई
गोदावरी
कृष्णा
मद्रास
कावेरी
श्रीलंका
समुद्रतट पट्टी
0 100 200 300 400 किमी

वग का अधिक तेजी से विकास हुआ। औद्योगीकरण की वास्तविक समस्याएँ स्वाधीनता के बाद ही सामने आयी। इस दिशा मे भारत ने अग्रेजो के सम्पूर्ण शासन काल मे जितनी प्रगति की थी, उससे कही अधिक प्रगति पिछले पन्द्रह सालो मे की है। शेष कहानी भविष्य का हिस्सा है। आइए, अब हम सुदूर अतीत की ओर मुडें। इस अतीत से भारतीय पूजीपति-वग का कोई सम्बन्ध नही है यद्यपि कभी-कभी इस अतीत का उसकी मन सृष्टि पर गहरा प्रभाव पडता है परन्तु इससे कठोर परिश्रम या तकनीकी निपुणता के बिना ही शीघ्र लाभ कमाने की उसकी लालसा मे कोई रुकावट पैदा नही होती।

१ ३ इतिहासकार की कठिनाइयाँ

अब तक जो कुछ कहा गया है, उससे यदा-कदा व्यक्त की जानेवाली इस धारणा को बल मिल सकता है कि भारत कभी भी एक राष्ट्र न था कि भारतीय सम्यता और सस्कृति विदेशी—चाहे मुस्लिम, चाहे ब्रिटिश - विजय की ही उपज है। यदि ऐसा होता तो लिखने योग्य भारतीय इतिहास केवल विजेताओ का ही इतिहास होता। विदेशी लेखक जो पाठयपुस्तकें छोड गये हैं, उनस सहज ही इस धारणा को बल मिलता है। परन्तु जिस समय मकदूनिया का सिकन्दर हिन्द के कल्पित वभव और जादुई नाम को सुनकर पूव की ओर आकर्षित हुआ था, उस समय इग्लण्ड और फ्रान्स अभी-अभी लौह-युग मे कदम रख रहे थे। भारत के लिए नय व्यापारी माग खोजने क प्रयास मे ही अमरीका की खोज हुई है। यही वजह है कि अमरीका के मूल निवासियो को अब भी 'इडियन' कहा जाता है। अरब लोग जिस समय बौद्धिक दृष्टि से ससार मे सबसे प्रगतिशील और सक्रिय थे उस समय उन्होने अपने चिकित्सा-ग्रन्थ, और काफी हद तक गणित के ग्रन्थ भी भारतीय स्रोतो के आधार पर तैयार किय। एशियाई सस्कृति और सम्यता के दो प्राथमिक स्रोत चीन और भारत ही है। सूती वस्त्र ('कालिको, छीट, डूगरी, पजामा', सश' और 'गिगम' शब्द भारतीय उत्पत्ति के हैं) और शक्कर रोजमर्रा के जीवन को भारत की देन हैं, तो चीन की देन है—कागज चाय, चीनी मिट्टी और रेशम।

भारत म जो विविधता है मात्र उसी से देश की प्राचीन सम्यता का वशिष्टय लक्षित नही होता। अफ्रीका अथवा चीन के केवल एक प्रान्त युनान मे भी इतनी ही विविधता मौजूद है। परन्तु मिस्र की महान अफ्रीकी सस्कृति मे वसी निरन्तरता नही देखने को मिलती, जैसी कि हम भारत मे पिछले तीन हजार या इससे भी अधिक वर्षों मे देखते हैं। आज की मिस्री और मसोपोटामियाई सस्कृतिया का अतीत अरबी सस्कृति के पीछे नही जाता। इसी प्रकार, किसी अलग युनानी सस्कृति का अस्तित्व नही है। चीन की उन्नति भी तभी हुई जब सारे देश म हान लोगो का प्रभुत्व स्थापित हुआ और जल्दी ही एक सुदढ

साम्राज्यी शासन की नींव पड़ी। चीन की अन्य अनार्य कौमों का देश की उन्नति में इतना अधिक योगदान नहीं रहा। स्पेनिश विजय के तुरन्त बाद ही इंकाओं और अजटकों का लोप हो गया। मेक्सिको, पेरू और लातीनी अमरीका की संस्कृति सर्वसाधारणतः यूरोपीय है, देशज नहीं। भूमध्यसागरीय क्षेत्र पर मौर्यो विजय प्राप्त करने के बाद ही रोमनों ने विश्व संस्कृति पर अपनी छाप छोड़ी। यहाँ भी निरन्तरता मुख्यतः उन्हीं क्षेत्रों में दिखायी देती है जहाँ कैथोलिक चर्च ने लैटिन भाषा और संस्कृति को आगे बढ़ाया। इसके विपरीत, भारत की आग में किसी प्रकार के बलप्रयोग के बिना ही भारतीय धर्म दर्शन का चीन और जापान में स्वागत हुआ, जबकि शायद ही कोई भारतीय पर्यटक इन देशों में पहुँचा हो या किसी भारतीय ने इन देशों के साथ व्यापार किया हो। इंडोनेशिया, वियतनाम, थाईदेश, बर्मा और श्रीलंका के सांस्कृतिक इतिहास पर भारत का काफी अधिक प्रभाव पड़ा है, यद्यपि ये देश कभी भी भारतीय आधिपत्य में नहीं रहे।

भारतीय संस्कृति की सम्भवतः सबसे बड़ी विशेषता है—अपने ही देश में इसकी निरन्तरता। भारतीय संस्कृति ने दूसरे देशों को किस प्रकार प्रभावित किया, यह अन्य ग्रन्थों का विषय है। यहाँ हमारा उद्देश्य भारतीय संस्कृति के उद्गमों और इसके विकास के प्रमुख लक्षणों का अन्वेषण करना है।

परन्तु शुरू में ही एक ऐसी बाधा उपस्थित होती है जो अलघ्य प्रतीत होती है। भारतीय इतिहास के बारे में लिखित स्रोत-सामग्री नहीं के बराबर है। चीनी साम्राज्य के इतिवृत्त, प्रादेशिक विवरण, स्सू मा चिएन-जैसे [illegible] इतिहासकारों के ग्रन्थ, समाधि-लेख तथा हड्डियों पर उत्कीर्ण देववाणी-[illegible] आदि से चीन का इतिहास लगभग १४०० ई० पू० से बहुत-कुछ [illegible]। रोम और यूनान का इतिहास इतना प्राचीन नहीं है, परन्तु इन [illegible] हासिक साहित्य बहुतर है। मिस्र, बेबीलोन, असीरिया तथा [illegible] भी पढ़े जा चुके हैं। दूसरी ओर, भारत में केवल अस्पष्ट [illegible] है जिनमें मिथकों और आख्यानों के स्तर से ऊपर की [illegible] थोड़ी मिलती है। इनके आधार पर हम एक पूर्ण [illegible] सकते। कभी-कभी तो पूरे राजवंशों को ही भुला दिया गया है [illegible] बचा है, वह इतना अस्पष्ट है कि मुस्लिम काल की [illegible] के किसी प्रमुख व्यक्ति की तिथि निर्धारित [illegible] हो जाता है। किसी बड़े राजा का कितने प्रदेश पर शासन था [illegible] हैं। राजवृत्तान्त भी नहीं मिलते आखिर [illegible] भारतीय साहित्य की विभूतियाँ के [illegible]। [illegible] उपलब्ध है, परन्तु लेखक की तिथि [illegible]

[illegible]

यदि भाग्य ने साथ दिया तो मोटे तौर पर यह मालूम हो सकता है कि रचना किस सदी की है, अन्यथा, अधिकतर यही कहा जा सकता है कि रचनाकार अवश्य हुआ है। कभी-कभी तो यह भी सन्दिग्ध होता है, बहुत-सी कृतियाँ जो एक लेखक के नाम से प्रसिद्ध हैं, सम्भवत एक ही लेखक की रचनाएँ नहीं हो सकती।

इन सब कारणों से बुद्धिमान पण्डित भी यह कहने लगे हैं कि भारत का कोई इतिहास नहीं है। निश्चय ही, रोम या यूनान के इतिहास की तरह प्राचीन भारत का तथ्यपूर्ण एव ब्योरेवार इतिहास प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। लेकिन इतिहास क्या है ? यदि इतिहास का अर्थ केवल बडी-बडी लडाइयो और कुछ खास अहकारी नामो का सिलसिला ही है, तो भारत का इतिहास लिखना कठिन है। परन्तु यदि किसी राजा के नाम की बजाय यह जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसके राज्य के किसान हल का इस्तमाल करते थे या नही, तो भारत का इतिहास मौजूद है। इस ग्रन्थ मे मैं इस परिभाषा को लेकर चलूगा उत्पादन के साधनों और सम्बन्धो मे होनेवाले क्रमिक परिवर्तनो का कालक्रम से प्रस्तुत किया गया विवरण ही इतिहास है। इस परिभाषा का लाभ यह है कि ऐतिहासिक घटनाओ के सिलसिले को प्रस्तुत किये बिना ही इतिहास लिखा जा सकता है। तब हमे समस्त जन-समुदाय की लाजिमी जीवन-पद्धति का विवरण प्रस्तुत करने के लिए सस्कृति शब्द को भी मानवजातिवेत्ता के अर्थ मे ही ग्रहण करना होगा। यहा इन परिभाषाओ पर अधिक सूक्ष्मता से विचार करना जरूरी है।

कुछ लोग सस्कृति को धर्म, दर्शन, कानून व्यवस्था, साहित्य, कला सगीत आदि के साथ जोडकर नितान्त बौद्धिक तथा आध्यात्मिक मूल्यो के रूप म ही ग्रहण करते हैं। कभी कभी इसका विस्तार करके शासक वर्ग के शिष्टाचारो का भी इसमे समावेश कर लिया जाता है। इन पण्डितो के मतानुसार, इतिहास ऐसी ही सस्कृति पर आधारित है और इतिहास मे केवल इसी 'सस्कृति' का विवरण होना चाहिए अन्य बातो का कोई महत्त्व नही। परन्तु इस प्रकार की सस्कृति को इतिहास का प्रेरणास्रोत मानने मे अनेक कठिनाइया हैं। ऐसी ही शानदार तीन महानतम सस्कृतिया—भारतीय, चीनी और यूनानी—का मध्य एशिया म सम्मिलन हुआ, और साथ ही दो बडे धर्मों—बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म—का भी मिलन हुआ। व्यापार की दृष्टि से इस केन्द्रीय क्षेत्र का विशेष महत्त्व था, और कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत इसका राजनीतिक महत्त्व भी बढ गया था। मध्य-एशिया की खुदाई मे आज भी खूबसूरत पुरावशेष प्राप्त हो रहे हैं। परन्तु मानव-सस्कृति और मानव इतिहास को इस सुविकसित मध्य एशिया का मौलिक योग-दान काफी कम रहा। अरबो का उत्थान निश्चय ही कम 'सस्कृत' परिवेश म हुआ परन्तु उन्होने यूनानी और भारतीय विज्ञान के महान आविष्कारो को

सुरक्षित रखने, विकसित करने और उन्हे भावी पीढियो तक पहुचाने का महत्काय किया है। इस काय मे भाग लेनेवाले मध्य एशिया के अल्-बेरूनी-जैसे इक्के-दुक्के पण्डितो ने भी अरबी मे ही लिखा—एक मध्य एशियाई नही, बल्कि इस्लामी सस्कृति के एक सदस्य के रूप मे। 'असस्कृत' मगोल विजय ने पल्लवित मध्य-एशिया को जड मूल से नष्ट कर डाला, परन्तु चीनी सस्कृति पर ऐसा कोई प्रभाव नही पडा, बल्कि उसे आग विकसित होने की प्रेरणा ही मिली।

यह सच है कि आदमी केवल रोटी पर ही जीवित नही रहता, परन्तु हमन अभी तक आदमी की कोई ऐसी नस्ल तैयार नही की है जो रोटी के बिना अथवा किसी न किसी प्रकार की भोजन-सामग्री के बिना जीवित रह सके। दरअसल, खमीर-रहित रोटी की खोज नवपाषाण युग मे काफी बाद मे हुई, जो खाद्य-सामग्री को तैयार करने और उसे सुरक्षित रखने की दिशा मे एक बडी प्रगति थी। 'हम हमारी आज की रोटी दो', यह कथन आज भी ईसाइयो की रोज की प्रार्थना का एक अग है यद्यपि ईसाई धर्म-दशन आत्मा के जगत को सभी भौतिक निमित्तो से परे मानता है। किसी भी समुन्नत सस्कृति का मूलाधार है अनाज की सुलभता, और वह भी वास्तविक अनाज उत्पादक की अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के बाद बचे हुए अनाज की सुलभता। मेसोपोटामिया के भव्य जिक्कुरात मन्दिर, चीन की महान दीवार, मिस्र के पिरामीड या आधुनिक गगनचुम्बी इमारतें खडी करने के लिए उस उस काल म अतिरिक्त अनाज की उतनी ही अधिक सुलभता भी अवश्य रही होगी। अतिरिक्त उत्पादन निभर करता है खेती के तरीको और इस्तेमाल किये जानेवाले औजारो पर, जो, अतिप्रयुक्त किन्तु सुविधाजनक शब्दावली मे कह तो, 'उत्पादन के साधन' हैं। जिस प्रणाली से अतिरिक्त उत्पादन —न केवल अतिरिक्त अनाज, बल्कि अन्य सभी उपज—अन्तिम उपभोक्ता के हाथो मे पहुचता है, वह न केवल समाज के स्वरूप से निर्धारित होती है, अपितु उससे समाज का स्वरूप भी निर्धारित होता है, और यही 'उत्पादन के सम्बन्ध' कहलाते हैं। आदिम अन्न-सग्राहको का जो थोडा-सा अतिरिक्त अनाज होता था, वह प्राय सग्रहकर्ता गिरोह की स्त्रियो मे बराबर बाट दिया जाता था। अधिक विकास हुआ, तो बँटवारे का काम कुलपति और कबीले के मुखिया करने लगे, प्राय परिवार को इकाई मानकर। जब अतिरिक्त उत्पादन बहुत अधिक होता, तो पुरोहित वग या कुलीन वग द्वारा उसके सग्रह और वितरण की व्यवस्था का निणय कोई महान मन्दिर अथवा परन करता था। दासप्रथावाले समाज म उत्पादन और विनिमय पर दासो के स्वामियो का अधिकार होता है, परन्तु यह सम्भव है कि नये कामो मे जुटे हुए इन दासस्वामियो का विकास भी पहले के पुरोहितो, कुलीनो अथवा कुलपतियो से हुआ हो। सामन्ती व्यवस्था मे कृषिदासो पर नियन्त्रण रखनेवाला मुख्य एजेण्ट सामन्ती सरदार होता है। उसके प्रतिपक्षी

—व्यापारी और सेठ-साहूकार—कारीगरों की श्रेणियों पर नियन्त्रण रखते हैं। व्यापारी वर्ग उत्पादन के जरिये अपना रूप बदलकर उस पूंजीवादी युग में पहुंच जा सकता है जिसमें आदमी शरीर रूप में तो स्वतन्त्र रहता है, किन्तु उसका श्रम एक पण्य वस्तु का रूप ले लेता है। इन सबमें स्वरूप और अन्तवस्तु की भिन्नता हो सकती है। ब्रिटेन में सभी तरह के सामन्ती कुलीन (लॉर्ड और नाइट) मौजूद हैं, परन्तु प्राथमिक उत्पादकों के रूप में कृषिदासों का अब वहां अस्तित्व नहीं है। इसके बावजूद अंग्रेज-समाज पूर्णतः पूंजीवादी है, यही पर समुन्नत पूंजीपति वर्ग का सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास हुआ है। एडवर्ड सप्तम का राज्याभिषेक एडवर्ड कन्फेसर के काष्ठ पीठासन पर उसी के मठ में भले ही हुआ हो, परन्तु इन दो राजाओं ने जिस इग्लैण्ड पर शासन किया वह इस बीच इतना बदल चुका था कि पहचानना भी कठिन था। अन्तिम दो बड़े आधुनिक पूंजीपति वर्गों ने, यानी जापान और जर्मनी के पूंजीपति-वर्गों ने तो सम्राट के प्रति असीम निष्ठा की आड़ में सामन्तवाद को नष्ट करते हुए कुछ सामन्ती प्रथाओं को और भी अधिक सुदृढ़ बनाया।

हमारा दृष्टिकोण यान्त्रिक नियतिवाद से बहुत हटकर होना चाहिए विशेषतः भारत पर विचार करते समय। क्योंकि भारत में बाह्य रूप को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है और अन्तवस्तु की उपेक्षा की जाती है। आर्थिक नियतिवाद भी किसी काम का नहीं है। यह अनिवार्य नहीं, सत्य भी नहीं, कि एक निश्चित मात्रा की धनराशि से एक निश्चित प्रकार का विकास अवश्य होगा। जिस सम्पूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया में समाज के स्वरूप का विकास होता है, उसका भी विशिष्ट महत्त्व है। अमरीका महाखण्ड के जिस सोने चांदी ने वहां के मूल निवासियों को बर्बरावस्था में रखा था, उसी ने स्पेनवासियों के हाथों में पहुंचकर सामन्ती और धार्मिक प्रतिगामिता को और अधिक सुदृढ़ बनाने का काम किया। जब उसी धन-दौलत के एक छोटे हिस्से को ड्रेक और दूसरे अंग्रेज कप्तानों ने लूटा तो उसने इग्लैंड को सामन्ती युग से निकालकर व्यापारी और पूंजीवादी युग में पहुंचाने में बड़ी मदद की। प्रत्येक अवस्था में हर सामाजिक आन्दोलन पर पुराने जीवित ढांचे का और उच्च वर्गों की विचारधारा का—चाहे परम्परा से चाहे परम्परा के विरुद्ध छेड़े गये विद्रोह से—भारी प्रभाव पड़ता है। भाषा भी नयी वस्तुओं, नये विचारों और उनके साथ साथ चलनेवाले उनके शब्दों के आदान प्रदान की प्रक्रिया से ही बनी है। जब उत्पादन के साधनों में महत्त्वपूर्ण प्राप्ति होती है तो उसके तुरन्त बाद ही जनसंख्या में भी महती वृद्धि होती है जिससे अनिवार्यतः उत्पादन के सम्बन्धों में भी परिवर्तन होता है। जो मुखिया अकेले ही सौ लोगों का नियमन करने में समर्थ था, वह एक लाख लोगों का नियमन बिना सहायता के नहीं कर सकता था। इसीलिए कुलीनवर्ग अथवा वयोवृद्धों की परिषद

अस्तित्व मे आयी। जिस जिले मे आदिम अवस्था के केवल दो खेडे हो उसमे किसी प्रकार के प्रशासन की आवश्यकता नही है, परन्तु उसी जिले मे यदि २०,००० बडे गाव हो तो प्रशासन अत्यावश्यक है और वह जिला उस प्रशासन का भार भी वहन कर सकता है। इस प्रकार यह एक विचित्र और टेढी मेढी प्रक्रिया है, विशेषत भारत के सदर्भ मे। यदि कही पर पहले के स्वरूप मे कोई स्पष्ट परिवतन होता है तो उत्पादन का एक नया स्तर जन्म लेता है, यदि उत्पादन आदिम स्तर का है तो परिवतन धार्मिक किस्म का होता है। यदि नये स्वरूप से उत्पादन बढता है, तो उसका स्वागत होता है और वह जम जाता है। परन्तु इससे जनसख्या मे भी निश्चित रूप से वृद्धि होती है। यदि विकास के दौरान इस सम्पूर्ण अधिरचना का समायोजन नही होता तो अन्तत सघर्ष पैदा होता है। कभी-कभी पुराने रूप को सुधारान्दोलन की शक्ल मे हुई क्रान्ति द्वारा तोड दिया जाता है। कभी-कभी पुराने रूप को कायम रखने म जिस वग का हित होता है उसकी विजय होती है, और तब गतिरोध, अध पतन अथवा अवनति की शुरुआत होती है। भारतीय समाज की आरम्भिक प्रौढता और बाद के विदेशी आक्रमणो के सामने उसकी विचित्र दुबलता से इस सामान्य स्थापना की पुष्टि होती है।

१ ४ ग्रामीण और कबीलाई समाज के अध्ययन की आवश्यकता

जब लिखित स्रोत-सामग्री इतनी थोडी है, तो भारत का इतिहास कैसे लिखा जाय? लेकिन रोम-जैसी विलुप्त सभ्यता का इतिहास आधुनिक काल मे कैसे लिखा गया? लिखित सामग्री उपलब्ध थी, परन्तु उसके बहुत से शब्दो का आज के सदभ म कोई अथ ही नही था। उपलब्ध पुरावशेषो के तुलनात्मक अध्ययन से ही इन शब्दो के अथ मालूम हो सके। जिन जिन व्यक्तियो के सिक्के, मूर्तिया, समाधि प्रस्तर, स्मारक और अभिलेख मिले, उनका अस्तित्व प्रमाणित मान लिया गया। इस पुष्टि के बाद लिखित सामग्री को भी महत्त्व मिला। पुरातत्त्ववेत्ताओ ने अतीत के दबे हुए अनेक अवशेष खोज निकाले। साहित्यिक स्रोतो को अब उसी हद तक विश्वसनीय माना जाता है, जिस हद तक उनका पुरातात्त्विक विधियो से समथन होता है। अन्त म, पुरातत्त्व लिखित सामग्री का यह बताने म भी सहायता देता है कि विलुप्त युग के लोग वस्तुत किस प्रकार का जीवन बिताते थे, यद्यपि कुछ साकेतिक शब्दो के अथ बदल चुके है। पुरावशेषो के उत्खनन और दुनिया के अन्य भागो के आदिवासियो के वैज्ञानिक अध्ययन से भी लिखित सामग्री उपलब्ध होने के पहले के युग की सस्कृति की पुनरचना सम्भव है। इसे प्रागितिहास कहते हैं।

इन सभी विधियो का भारत म इस्तेमाल हो सकता है, यद्यपि ये पर्याप्त नही हैं। भारतीय पुरातत्त्व ने इतनी अधिक उन्नति नही की है कि वह इन वस्तुत

महत्त्वपूर्ण सवालों को हल कर सके, या कि इन सवालों को उठा भी सके। फिर भी, इस देश में एक बड़ी भारी सुविधा प्राप्त है, जिसका अभी हाल तक इतिहासकारों ने लाभ नहीं उठाया था। सुविधा यह है कि विभिन्न सामाजिक स्तरों में जो अनेक पुराने रूप जीवित हैं उनके आधार पर सर्वथा भिन्न प्राचीन अवस्थाओं की पुनरचना की जा सकती है। इन स्तरों की खोज करने के लिए शहरों से निकलकर देहातों में जाना होगा। कभी-कभी यह भी देखने को मिलेगा कि इन स्तरों पर शिक्षा, हाल की राजनीतिक हलचलों, सिनेमा, रेडियो और शहरी उत्पादन की प्रभुतावाले व्यापार का प्रभाव पड़ा है, इसलिए इस प्रभाव को अलग करके देखना होगा। परिवहन के नये द्रुतगामी साधनों से दूर दूर तक बड़े परिवर्तन हुए हैं, जैसे, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से रेलों के कारण और १९२५ से मोटर बसों के सड़क परिवहन के कारण। इनके प्रभाव को ध्यान में रखने में कठिनाई नहीं है विशेषत इस विशाल देश के दूर के देहाती इलाकों में जाने पर। ब्यौरे में जाने पर स्थानीय भिन्नताएँ दिखायी देती हैं। देश में कुछ ऐसे भाग हैं जहाँ एक या दो अवस्थाएँ गायब हैं, कभी कभी परिवर्तन का दौर आगे पीछे भी रहा है। लेकिन जहाँ तक वस्तुत महत्त्वपूर्ण मूलभूत परिवर्तनों का प्रश्न है, मुख्य रूपरेखा एक-सी ही है।

भारत आज भी किसानों का देश है। कृषि का विकास बहुत अधिक हुआ है परन्तु यह आज भी पुराने तरीकों से की जाती है। दो हजार वर्षों की खेती से अधिकांश भूमि अतिकर्षित हो गयी है और चराई भी बहुत अधिक हुई है। खेती पुराने तरीकों से होती है और खेत इतने छोटे हैं कि आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं, इसलिए प्रति एकड़ उपज बहुत ही कम होती है। भूमि को हवाई जहाज से देखने पर जो खास बात नजर आती है वह है परिवहन का भारी अभाव। यूरोप या अमरीका में सड़कों और रेलमार्गों का जैसा घना जाल बिछा हुआ देखने को मिलता है, वैसा यहाँ नहीं है। इसका अर्थ यह है कि स्थानीय उपज काफी अधिक होती है और वहीं पर उसकी खपत भी होती है। उत्पादन के इसी पिछड़े हुए अक्षम और स्थानीय स्वरूप के कारण अनेक पुराने कबीलाई समुदाय अब तक जीवित बचे हैं हालाँकि वे अब विनाश के कगार पर खड़े हैं। सम्पूर्ण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मौसमी वर्षा—मानसून—पर आधारित है। देश के विभिन्न भागों में साल भर में २० से २०० इंच तक मानसूनी वर्षा होती है। इससे कम वर्षा होने का अर्थ है अकाल का क्षेत्र अथवा सिंचाई की व्यवस्था। यह वर्षा अधिकतर जून से सितम्बर तक के चार महीनों में होती है। परन्तु मानसून का आरम्भ दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में देरी से होता है। पूर्वी समुद्रतट के प्रदेश में अन्तिम मानसून दो पृथक लहरों में आता है। इन विभिन्नताओं के कारण प्रत्येक क्षेत्र का वार्षिक चक्र अलग अलग है। भारी वर्षा के बावजूद (हवाई जहाज से देखने पर) देश

का अधिकाश भाग हालैण्ड या इग्लैण्ड के हरे-भरे खेतो की तुलना मे रेगिस्तान-जैसा दिखायी देता है। घास का नामो निशान नही, पानी के तेज बहाव से ऊपर की मिट्टी बह जाती है। यह एक नयी विशेषता है, पिछली सदी के अन्त समय मे बनकटाई अपनी सीमा पार कर गयी। परन्तु यहा जिस प्राचीन युग से हमे सरोकार है, उसके बारे मे यह ध्यान मे रखना होगा कि मौसमी वर्षा से उत्पन्न समस्याएँ देश के भिन्न भिन्न प्रदेशो मे भिन्न भिन्न थी। दक्षिणी पजाब, सिंध और राजस्थान का अधिकाश भाग मरुक्षेत्र अथवा अर्द्ध-मरुक्षेत्र जैसा था, परन्तु मिट्टी जलोढ है और इतनी उपजाऊ है कि सिंचाई अथवा थोडी वर्षा से ही बढिया फसल होती है। गगा की द्रोणी की मिट्टी भी जलोढ है और अत्यधिक उपजाऊ है, परन्तु यहा (और कुछ हद तक उत्तरी पजाब मे भी) वर्षा बहुत अधिक होती है। अत प्राचीन काल मे इस क्षेत्र मे विशेषत पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और बगाल म, घने जगल और दलदल थे। पश्चिमी घाट और असम के पहाडो मे, भारी बनकटाई के बावजूद, आज भी जगल मौजूद हैं। समुद्रतट के समीप की समतल भूमि मे, जहा के जगल अब काट दिये गये हैं साल भर मे तीन फसलें निकल सकती है, परन्तु यहाँ की घनी आबादी केवल स्थानीय उपज पर जीवित नही रह सकती, यहा की अर्थव्यवस्था नारियल जैसी नकदी फसलो पर निर्भर है। मध्य भारत और दक्षिणी प्रायद्वीप के कुछ पहाडी क्षेत्रो के खनिज भण्डारो का काफी हद तक सही इस्तेमाल अब होने लगा है। नृवशवेत्ता आज भी यहा के कबीलाई लोगो (भील, नीलगिरी के टोडा, सथाल, उराँव आदि) का अध्ययन कर रहे हैं। दक्षिणी पठार मे घने जगल न कभी थे, न आज हैं, यहा जगह-जगह पर नगी पहाडिया है पश्चिमी भाग म बेसाल्ट की और दूर दक्षिण-पूव मे ग्रेनाइट की। यहा की औसत मिट्टी अधिक उपजाऊ नही है, परन्तु कुछ खास क्षेत्रो की काली मिट्टी कई फसलो के लिए विशेषत कपास के लिए, बढिया है। इस काली मिट्टी की नियमित खेती के लिए भारी हल की जरूरत होती है। गुजरात की अपनी खास लोएस यानी पवनोढ मिट्टी है। ये भिन्नताएँ इन क्षेत्रो के ऐतिहासिक विकास मे भी प्रतिबिम्बित होती हैं, यद्यपि हर क्षेत्र के विकास का भाग पृथक रहा है।

देश की इस नानारूप भूरचना और सवसामान्य उष्ण जलवायु न किसान वग के आन्तरिक विभेदीकरण को—जिसका कारण भिन्न भिन्न स्थानीय इतिहास है—और अधिक बढावा दिया। भारतीय समाज की मुख्य विशेषता जो देहाती इलाको म सबसे अधिक प्रबल है, जाति प्रथा है। इसका अथ है समाज के ऐसे विभक्त समूह जो पास पास तो रहते हैं, परन्तु अक्सर मिल-जुलकर रहते हुए दिखायी नही देते। विभिन्न जातियो के लोग धम के आधार पर आपस मे शादी-ब्याह नही कर सकते, यद्यपि इसके लिए अब कानून न पूरी

आजादी दे रखी है। इस बड़ी प्रगति का कारण है पूंजीवादी व्यवस्था, जिसके कारण शहरों में, राजनीतिक और आर्थिक गुटों को छोड़कर, जाति प्रथा लुप्त होने लगी है। अधिकांश किसान नीची जाति के आदमी के हाथ से पकाया गया खाना अथवा पानी ग्रहण नहीं करेंगे अर्थात्, जाति-व्यवस्था की एक मोटी श्रम परम्परा है। व्यवहार में ऐसी जातियों की संख्या हजारों तक पहुँचती है। परन्तु सिद्धान्त में केवल चार ही जाति-वर्ण हैं ब्राह्मण या पुरोहित जाति, क्षत्रिय (योद्धा), वैश्य (व्यापारी और किसान) और सबसे निम्न शूद्र, जो सामान्यतः मजदूर वर्ग की सूचक है। यह सैद्धान्तिक व्यवस्था मोटे तौर पर वर्ग मूलक है, जबकि व्यवहार में दिखायी देनेवाली जातियों और उपजातियों का विकास स्पष्ट रूप से विभिन्न मानववंशों के कबीलाई समूहों से हुआ है। उनके नामों से यह साफ जाहिर है। छोटी स्थानीय जातियों की सापेक्ष स्थिति सदैव इस बात पर निर्भर करती है कि आम बाजार का विस्तार कितना है और उसमें जाति विशेष की आर्थिक प्रतिष्ठा कैसी है। बिहार के किसी जुलाहे को यदि एकाएक महाराष्ट्र के किसी आगरिया के देहात में पहुंचा दिया जाय, तो उसे अपने आप कोई स्पष्ट हैसियत नहीं मिलेगी। परंतु बिहार में उसकी प्राथमिक प्रतिष्ठा इस बात पर निर्भर करती है कि सामान्यतः जिन गाँवों से उसका सम्बन्ध है उनमें उसकी जाति की हैसियत क्या है। सामान्यतः यह हैसियत विभिन्न जातियों के सापेक्ष आर्थिक सामर्थ्य से निर्धारित होती है। जातियों की इस श्रम-परम्परा में एक ही जाति की दो भिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग स्थितियाँ हो सकती हैं। यदि यह विभेद कुछ समय तक कायम रहता है, तो दोनों शाखाएं अक्सर अपने को अलग-अलग जातियाँ मानने लगती हैं, और उनमें आपस में शादियां भी नहीं होतीं। जिस जाति का आर्थिक स्तर जितना नीचा होता है, सब मिलाकर उसका सामाजिक स्तर भी उतना ही नीचा होता है। सबसे नीचे के स्तर में आज भी विशुद्ध कबीलाई समूहों को देखा जा सकता है, जिनमें से अधिकांश कबीले अन्न-संग्राहक की अवस्था में हैं। उनके चहुँओर का सामान्य समाज अब अन्न उत्पादक है। इसलिए अत्यन्त निम्न जाति के ये लोग अन्न-संग्रह की बजाय आमतौर पर अब भीख मांगने या चोरी करने लगे हैं। ऐसे ही निम्नतम समूहों को भारत के अंग्रेज शासकों ने जरायमपेशा जातियाँ कहा था क्योंकि ये लोग आमतौर पर अपने कबीले के बाहर की कानून व्यवस्था को नहीं मानते थे।

भारतीय समाज के स्तरविन्यास का कार्यक्षेत्र में जाकर यदि बिना पक्षपात के अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट होगा कि यह न केवल भारतीय इतिहास में प्रतिबिम्बित होता है, अपितु काफी हद तक इसकी व्याख्या भी करता है। यह आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि अनेक जातियों का निम्न सामाजिक और

आर्थिक स्तर इस कारण है कि उन्होंने पहले या आधुनिक काल मे अन्न-उत्पादन और हल की खेती को अपनाने से इनकार किया है। निम्नतम जातियाँ अक्सर अपने अनुष्ठानो, सस्कारो और मिथको को सुरक्षित रखती हैं। थोडे ऊँचे स्तर मे इन धार्मिक अनुष्ठानो और आख्यानो को हम सक्रमण की स्थिति मे देखते हैं, अक्सर दूसरी समानान्तर परम्पराओ मे आत्मसात् होते देखते हैं। एक सीढी और ऊपर जाने पर दिखायी देता है कि ब्राह्मणो न अपनी सुविधा के लिए और पुरोहित वग ने अपनी जाति का प्रभुत्व जमाने के लिए इन्हे फिर से लिखा है। सामान्यत निम्न जातियो की पुरोहिती ब्राह्मणो के हाथो मे नही है। और ऊँचे स्तर मे पहुचने पर हम उन साक्षर परम्पराओ के दशन होते हैं जो प्राय काफी पुरानी ह और हिन्दू सस्कृति के नाम से जानी जाती हैं। पर देवो और दैत्यो की ये कथाएँ मूलत निम्न वर्गों मे भी ऐसी ही हैं। ब्राह्मण धम का मुख्य काय यही रहा है कि इसने इन आख्यानो को एकत्र किया, इन्हें कथाचक्रो मे बाँधकर फैलाया और फिर एक अधिक विकसित सामाजिक चौखट मे रखकर इन्हे प्रस्तुत किया। या तो बहुत-से मूलत भिन्न देवताओ और सम्प्रदायो को एक रूप बनाया गया (सहतिवाद), या कई देवी देवताओ का एक परिवार खडा किया या देवताओ का एक राज दरबार ही बना डाला। सबसे ऊँचे स्तर मे उन दाशनिक मतो के दशन होते हैं जिनका प्रतिपादन भारतीय इतिहास के महान धार्मिक नेताओ ने किया है। इनमे से किसी मत विशेष का जब पहली बार प्रतिपादन हुआ, उस समय आमतौर पर वह काफी उन्नत भारतीय समाज का सूचक रहा है। लेकिन बाद मे, जब समाज आगे बढ गया तो वही मत भारत को पिछडा हुआ रखने मे भारी योग देने लगा, क्योकि सगठित धार्मिक सम्प्रदायो के नेता अपने-अपने सम्प्रदाय के सस्थापक की मान्यताओ से रत्तीभर भी आगे बढने को तैयार नही थे। ये धार्मिक सम्प्रदाय स्वय इतिहास के अग नही हैं, परन्तु इनके उत्थान और इनकी काय प्रणाली के परिवतन मे इतिहास की बढिया सामग्री मिलती है। जान पडता है कि भारतीय समाज का विकास रक्तपात की बजाय क्रमागत धार्मिक रूपान्तरणो से अधिक हुआ है, और यही कारण है कि बाद मे जब काफी रक्तपात भी मचाया गया तो भी इसका विकास नही हो सका। प्राचीन भारत के अधिकाश उपलब्ध ग्रन्थो म धम और अनुष्ठानो की चर्चा बहुत अधिक है। इनके लेखको का इतिहास अथवा वास्तविकता से कोई मतलब नही था। जिस समय ये ग्रन्थ लिखे गये थे उस समय के भारतीय समाज की वास्तविक रचना का यदि कुछ पूवज्ञान न हो तो इनसे इतिहास की सामग्री निकालने के प्रयास या तो निष्फल रहगे या ऐसे हास्यास्पद निष्कष निकलेंग जसे कि भारत के अधिकाश 'इतिहासो मे पढने को मिलते हैं।

न केवल जाति प्रथा की, बल्कि धर्म के बोलवाले की और एतिहासिक दृष्टि-कोण के अभाव की भी व्याख्या करना जरूरी है। इनमे से एतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव का कारण काफी स्पष्ट है इसका सम्बन्ध ग्रामीण उत्पादन और 'ग्रामीण जीवन की मूढता' से है। ग्रामीण जीवन के लिए ऋतुचक्रो का ही सर्वाधिक महत्त्व है, जब कि देहाता मे साल दर-साल का सचित परिवतन बहुत कम नजर आता है। यही कारण है कि विदेशी पयवक्षको के मन मे एक प्रकार के 'कालातीत पूव' की भावना जन्म लेती है। भारहुत के १५० ई० पू० के शिल्पा मे दिखायी देनेवाली बलगाडी और न्वापडी अथवा २०० ई० के कुषाण उच्चित्रा मे दिखायी देनेवाले हल और हलवाहे यदि एकाएक आज के भारतीय देहात मे दीख जायें, तो इससे किसी को कोई आश्चय नही होगा। इससे यह भूलना आसान हो जाता है कि, नियत भूखण्डा पर हल से की जानेवाली खेती की देहाती *अथव्यवस्था का ढाँचा उत्पादन के साधना की महती प्रगति का सूचक है।* इसी के अनुरूप उत्पादन के सम्बन्धो का भी अन्न सग्रह की अवस्था से अधिक जटिल होना स्वाभाविक था। आधुनिक भारत के देहातो म घोर दरिद्रता और निस्सहायता का वातावरण साफ दिखायी देता है। दूकानें भी प्राय ऐसे ही देहाता म मिलेंगी जो आसपास के देहातो के लिए केन्द्रीय मार्केट जसे हैं, और साव-जनिक इमारत के नाम पर मिलेगा किसी देवी-देवता का देहात की सीमा पर खडा कोई मन्दिर जो धूप और वर्षा के आघाता को झेलता रहता है। उपयोगी वस्तुएँ या तो कभी कदा आनेवाले फेरीवाला से या फिर कुछ खास देहाता म लगनेवाले साप्ताहिक हाटो से खरीदी जाती हैं। गाँवा मे होनेवाली उपज की बिक्री अधिकतर बिचौलियो के हाथो मे होती है, और महाजन भी यही लोग होत है। देहाती अथव्यवस्था इनके शिकजे मे होने से किसान कजदार हो गये हैं, और इस समस्या का सरकार अथवा खासगी सस्थाओ ने कोई हल नही खोजा है, सिवाय कागजा पर कोरी योजनाएँ बनाते जाने के। मानसून के खत्म होते ही अधिकाश देहाता मे पानी की कमी लगातार बढती ही जाती है, पीने का अच्छा पानी तो किसी भी मौसम मे नसीब नही होता। भारत मे भूख और बीमारी बडे पमाने पर व्याप्त है। चिकित्सा और स्वच्छता की व्यवस्था के अभाव से ता गाँवा की परम्परागत उदासीनता सबसे अधिक उजागर हो जाती है, और यही गाँव देश की राजनीतिक अथव्यवस्था के मूल घटक और निरकुश शासन के आधारस्तम्भ रहे हैं। ऐसी गरीबी और अधोगति मे रहनेवाले लोगो से वसूल की गयी अतिरिक्त उपज ही भारतीय सस्कृति और सभ्यता की भौतिक नीव रही है, आज भी है।

देहाता की दुख-दयनीयता भले ही एकरूप दिखायी देती हो, परन्तु उसके पीछे

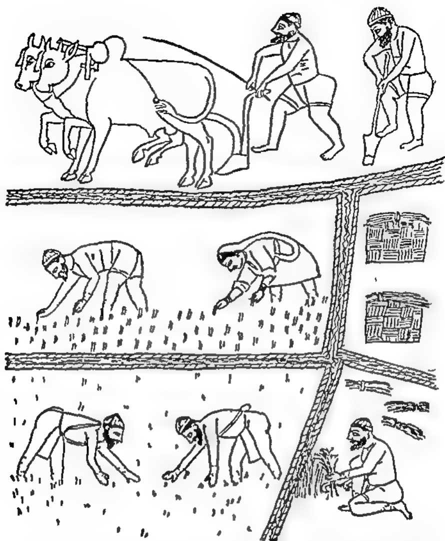






चित्र १ हल जोतना, ढेले फोड़ना, बीज बोना और कूँड़ों में बीज ढूँकना। बोया जानेवाला धान्य सम्भवतः गेहूँ है। लन्दन के इण्डिया आफिस ग्रन्थागार (प्राच्य खण्ड संख्या ७१) की उन्नीसवीं सदी की एक फारसी हस्तलिपि का चित्र। यह दृश्य कश्मीर का है, पर भारत के शेष भागों में भी सिवाय किसानों के भिन्न भिन्न पहनावे के, कृषिक्रम ऐसा ही है।

भिन्नता छिपी हुई है। अधिकांश उत्पादनकर्ता वे किसान हैं जिनके छोटे छोटे खेत हैं। कुछ किसान आत्मनिर्भर हैं। कुछ तो जमींदार-वर्ग की तरह शक्तिशाली बन गये हैं, दरअसल भूमि-सम्बन्धी मौजूदा कानून से इन्हें और भी अधिक बल



चित्र २ धान की खेती। बियाड़ में से निकालकर धान की पौध को पहले से तैयार किये गये टखनों तक कीचड़ भरे खेतों में रोपा जा रहा है। सिंचाई की नालियाँ भी दिखायी गयी हैं। पानी भरने से पहले ही खेतों की जुताई की जाती है अन्यथा बैलों के स्थान पर भारतीय भैंसों को उपयोग में लाना पड़ता है। रोपन से पहले पौध को किसी उर्वरक में डुबोया जाता है। खाली हुए बियाड़ में तब फलियाँ बोई जाती हैं और इस प्रकार फसल अपने-आप बारी-बारी से बदलती रहती है। चित्र पहले के ही स्रोत से।

मिला है। उर्वर खेतों पर अधिकतर उन लोगों का कब्जा है जो स्वयं किसान नहीं हैं न ही वे स्वयं खेती का काम करते हैं। बड़े जमींदार आमतौर पर देहातों में नहीं रहते, भूमि पर उनका स्वामित्व सामान्यतः सामंती युग से चला

आ रहा है। अंग्रेजो के आने पर इनमे से बहुतो ने अपनी सामन्ती जिम्मेदारियाँ छोड दी और ये पूजीवादी भूस्वामी बन गय। परन्तु अंग्रेजो ने इनके सारे पट्टो का पजीकरण करके नकद कर निर्धारित कर दिय। इसका अर्थ यह हुआ कि आज कोई भी देहात स्वत पूण नही है। यहा तक कि दूर दराज के देहात को भी कुछ-न-कुछ बेचना ही पडता है—न केवल थोडा कपडा और घरेलू चीजें खरीदने के लिए बल्कि कर अथवा लगान देने के लिए भी। वैसे भी देहात पूणत आत्म-निभर नही हो सकते थे। अधिकतर भारत म कपडा की गिनती भौतिक आवश्यकताआ म नही होती, यद्यपि ये सामाजिक आवश्यकता अवश्य बन गये हैं। परन्तु नमक की आवश्यकता सदैव ही रही है, और नियमित कृपिकम के लिए धातुआ की थोडी-बहुत जरूरत अवश्य पडती है। भारतीय देहात कालातीत' भले ही प्रतीत हो, परन्तु एक पूजीवादी अथव्यवस्था के ढाचे मे यह भी अब जिन्सो के उत्पादन मे बँध गया है।

फिर भी यह सच है कि भारतीय गाव काफी हद तक स्वत पूण है। जन-सख्या म वद्धि के कारण जब कोकण अथवा मलाबार के लोग दूर के बडे शहरो मे नौकरी करने जात हैं और घर पसा भेजते है, तभी देहातो पर शहरो के नियन्त्रण का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अन्यथा, देहाता का शहरा से सम्पक दौरे पर निकले हुए मुख्यत उन्ही अफसरो के माध्यम से होता है जो प्राय उसी समय यह कष्ट उठाते हैं जब बकाया करा की वसूली करनी होती है। आजकल वोट बटोरनेवाल राजनीतिज्ञ भी पाच साल मे एक बार, चुनाव के पहले, देहातो मे पहुचने लगे हैं। इस अथव्यवस्था मे स्पष्टत प्रति व्यक्ति जिन्स उत्पादन बहुत कम है। जिन्स उपभाग की वह चीज अथवा वस्तु है जो आदान प्रदान के द्वारा अन्तिम उपभोक्ता के हाथो मे पहुचती है। जो कुछ भी मनुष्य अपने लिए अथवा अपने परिवार के लिए अथवा अन्य सगोत्रीय परिवारा के लिए पैदा करता है और उसी सीमित समूह मे उस पदावार का इस्तेमाल होता है या जमीदार अथवा उसका भी कोई स्वामी उस पैदावार का बिना मूल्य चुकाए ही ले जाता है तो वह जिन्स या पण्य वस्तु नही कहलाती। कुछ वस्तुआ के उत्पादन म विशेष तकनीकी ज्ञान की जरूरत होती है। यद्यपि भारतीय देहाता म धातु का इस्तेमाल बहुत कम होता है, परन्तु गाववाला को बतनो की जरूरत हाती ही है, विशेषत मिट्टी के बतना की। अत गाव मे कुम्हार का होना जरूरी है। इसी प्रकार, औजारो की मरम्मत के लिए और हल का फाल गढने के लिए लाहार की तथा घर बनाने के लिए और लकडी के साधारण हल आदि तैयार करने के लिए बढई की जरूरत पडती है। गाव के आवश्यक धार्मिक अनुष्ठाना की जिम्मेदारी पुरोहित का सँभालनी पडती है। सामान्यत कोई ब्राह्मण ही पुरोहित होता है, यद्यपि कुछ निम्न सम्प्रदायो के लिए यह आवश्यक नही है। कुछ पेशे, जैसे नाई का या मरे हुए



चित्र ३ सब्जी की खेती या बगीचा। आदमी गड्ढे से 'शादूफ' द्वारा पानी निकाल रहा है जिसके दण्ड के एक सिरे से घड़ा बंधा है और दूसरे सिरे पर भार संभालनेवाला वजन है। स्त्री का काम है यह देखना कि गाजर तथा अन्य सब्जियों को नालियों से ठीक से पानी पहुँचे। चित्र पूर्वोल्लिखित स्रोत से।

जानवरों की खाल उतारनेवाले का निम्न कोटि के माने जाते हैं, परन्तु नाई के काम और चमड़े की चीजें अत्यावश्यक हैं। इसीलिए गाँव में नाई और चमार का होना जरूरी है, जाहिर है कि इनकी जाति अलग-अलग है। सामान्यत ऐसे प्रत्येक पेशे की अपनी अलग जाति होती है, जो भारतीय सन्दर्भ में मध्ययुगीन श्रेणी (गिल्ड) के समकक्ष है। स्वतः पूर्ण प्रतीत होनेवाली भारतीय गाँवों की अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी समस्या यही थी कि प्रत्येक गाँव के लिए ऐसे आवश्यक कारीगर प्राप्त किए जायें यद्यपि ये कारीगर अपनी अपनी जातियों के कारण देहात के किसान समुदाय से और एक दूसरे से अलग थे। एक सामान्य ग्रामवासी ये सब धंधे नहीं कर सकता था, और इन पेशों के श्रमिक अपने पेशे की जाति

को छोडकर अन्य पेशे की जाति मे विवाह नही कर सकते थे। एक औसत गाँव एक कारीगर-पशे के केवल एक ही परिवार का भार वहन कर सकता था। साथ ही परिवहन के साधन दुलभ थे और जिन्स-उत्पादन (प्रति व्यक्ति जिन्स उत्पादन) का घनत्व कम था। अन्य कई देहाता की जरूरता की पूर्ति के लिए जिन्म उत्पादका की जैसे बढई या लोहारा की बस्ती स्थापित करना सम्भव नही था, अपवाद हैं तो केवल आरम्भिक भारतीय इतिहास के कुछ सक्षिप्त युग। अत कारीगरा का नियमित रूप मे कीमत चुकाना एक समस्या थी, इस समस्या का हल, चूकि माँग अनियमित थी, उत्पादित वस्तु के मूल्य को विनिमय का आधार मानकर एक विनिमय अथव्यवस्था द्वारा सुलझाना सम्भव नही था। तब गाँवो की सवा करने के लिए कारीगरा का किस प्रकार तैयार किया जाय ? बडी चतुराई स इस समस्या का जा हल खाजा गया वह मन्दगति भारतीय गाँवा की अथव्यवस्था का मेरुदण्ड था, विशेषत सामन्ती युग म। इस पुरानी पद्धति के बच-खुचे अवशेष अब भी देहाता म देखने को मिलते हैं, यद्यपि अब इसके स्थान पर नकद भुगतान का रिवाज बढता जा रहा है। यातायात की सुविधा है, इसलिए नाई या लोहार का गाँव गाँव घूमते रहना एक आम बात हो गयी है। टिन के कनस्तर और धातु के भाँडे बतन उपलब्ध होने से कुम्हारा की तादाद घट गयी है। य कुम्हार अब अक्सर नकद पसा मे बिकनेवाला माल ही तैयार करत है। परन्तु कुम्हार को भी कुछ ऐसे अनुष्ठानमूलक काय पूर करन होते है जिनके स्रात सम्भवत प्रागतिहासिक युग की कलश शवाधान की प्रथा मे हैं और जो इतन प्रतिष्ठित हो चुके है कि कुछ निम्न जातियाँ कुम्हार को करीब-करीब अपना पुरोहित ही मानती हैं। हड्डी बिठाने के लिए मिट्टी का प्लास्टर लगाना कुम्हार की ही खोज है। उसी प्रकार, युद्ध म अथवा बीमारी के कारण क्षतिग्रस्त हुई नाक को प्लास्टिक सजरी से पुन ठीक करना उस नाई जाति की खोज है जिसे कुछ हीन दृष्टि से ही देखा जाता है। अठारहवी सदी मे इन दोना का ही खूब प्रचलन था, परन्तु प्लास्टर लगानेवाले और प्लास्टिक सजरी करनेवाले निम्न जाति के थे और इनसे लाभ उठानेवाले उच्च जाति के लोग विज्ञान को तुच्छ समझत थे, इसलिए इनका पूरा विकास पश्चिमी दशा मे ही हो सका।

देहात मे जो विभेदीकरण देखन का मिलता है, उसका आधार जातिप्रथा है, और यह विभेदीकरण केवल किसान-वग और कारीगर अथवा पुरोहित तक ही सीमित नही है। यदि समीप ही जगल है, तो उनमे आज भी ऐसे लोग देखने को मिलेंग जो अन्न सग्रह की अवस्था से मुश्किल से बाहर निकल पाये है, जैस, पश्चिमी घाटा के कटकरी लोग या बिहार के मुण्डा और उराव। रोग, नशाखोरी, वनकटाई और सभ्यता तथा महाजना की बढोत्तरी के कारण ऐस सीमावर्ती कबीले मिटते जा रहे हैं। यदि ये लोग खेती भी करत हैं तो वह प्राय हर बार

नये भूखण्ड के जंगल को काटकर और जलाकर ही की जाती है। यदि वे फसल की कटाई के समय भूमिधर किन्तु सबसे गरीब किसानों के साथ कुछ दिनों के लिए मजदूरी करते है, तो उन्हे कम मजदूरी मिलती है और यह भी प्राय अनाज के रूप मे चुकाई जाती है। फसल की कटाई के बाद आमतौर पर उन्ह सिल्ला बीनने का भी अधिकार होता है—चाहे उन्होंने फसल काटने मे मदद दी हो, या न दी हो। थोडा बहुत शिकार, कीडे मकोड, चूहे साँप, बन्दर (जिसको खाना दूसरे अधिकाश भारतीयो की दृष्टि मे एक वीभत्स कृत्य है), और सिल्ला तथा भूसी स उनका उदर निर्वाह होता है। उनके जादू-टोने के अभिचार किसानों के एस अभिचारो से अधिक क्रूर होत है, कम से-कम भारतीय समाचारपत्रो मे दो चार साल के अन्तर पर समाचार पढने को मिलते ही है कि आनुष्ठानिक हत्या (मानव बलि) के सन्देह मे कबीले के स्त्री पुरुषो की सामूहिक गिरफ्तारी हुई है और उन पर मुकदमा चल रहा है। उनके आदिम कबीलाई देवताओ म और गाँवो म निम्नकोटि के देवताओ मे कुछ साम्य पाया जाता है। वे अक्सर गाव के देवताओ की पूजा करत हैं और ग्रामवासी भी उनके देवी-देवताओ को मानते हैं। गाव के जिन मेलो म दूर-दूर के ग्रामवासी एकत्र होत हैं, उनकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी-न किसी आदिम कबीले से है भले ही वह कबीला अब लुप्त हो गया हो। इस आदिम उत्पत्ति का समर्थन ग्रामीण पूजापद्धतियो के नामो से भी होता है। अक्सर यह देखने को मिलता है कि एक किसान-समुदाय की जाति का नाम भी वही होता है जो कि उसी क्षेत्र के किसी आदिवासी कबीले का होता है। ये दो समुदाय आपस मे शादी-ब्याह नही करते, क्योकि किसान का दर्जा ऊचा हो गया है। दरअसल खाद्य-सामग्री की उपलब्धि मे अन्तर के कारण और पर्याप्त तथा अधिक नियमित भोजन मिलने से न केवल शारीरिक गठन म बल्कि कुछ ही पीढियो मे चेहरे की बनावट मे भी परिवर्तन होता है। फिर भी सहोदगम के कुछ चिह्न बचे हुए हैं और इन्हे स्वीकार भी किया जाता है। कभी-कभी सामूहिक वार्षिक पूजा म य प्रकट होते हैं विशेषत मातृदेवियो की पूजा मे, जिनके नाम इतने विलक्षण होते हैं कि दूसरे गाँवो को उनकी जानकारी भी नही होती। लेकिन किसान दूसरे कुछ उच्च श्रेणी के देवताओ की भी पूजा करता है, य देवता काफी पुराने जान पडत हैं परन्तु ये स्थानीय देवताओ से एक सीढी ही ऊपर होते हैं। जसे, एक पत्थर पर उत्कीर्णित नाग देवता को 'क्षेत्रपाल' माना जाता है। पूर्वजो के स्मारक के रूप म एक प्रस्तरशिला पर स्त्री पुरुष के एक जोडे की आकृति उत्कीर्णित की जाती है। उस शिला की पूजा सामान्यत उस खेत के एक कोने मे होती है जिस पर उस जोडे के सीधे वशधर कई पीढियो से खेती करते आये हैं। पूरे-के पूरे इलाको मे महिषासुर (म्हसोबा) किसानो का आम देवता है यद्यपि हर किसान उसके रूप की कल्पना भिन्न भिन्न

रूप में करता है। अन्य छोटे देवताओं को जुताई, बोआई, कटाई और पिटाई-कुटाई के अवसर पर सन्तुष्ट करना होता है। वेताल पिशाचों का राजा है, पर एक देवता भी है। और भी ऊंचे स्तर पर ब्राह्मण देवता हैं—शिव, विष्णु, विष्णु के राम और कृष्ण जैसे अवतार और उनकी देवी-पत्नियां। कभी कभी स्थानीय आदिम देवी या देवता को ब्राह्मणधर्म के ग्रन्थों में वर्णित किसी देवी-देवता के रूप में भी पहचाना जा सकता है। पुराने देवताओं को खत्म नहीं किया गया, उन्हें अपनाकर नये रूप में ढाला गया। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म ने उन सामाजिक समूहों को कुछ हद तक एकजुट किया जिनमें आपस में कोई एकसूत्रता नहीं थी। इस प्रक्रिया का भारतीय इतिहास में निर्णायक महत्त्व है, क्योंकि प्रथम इसने देश को कबीले से समाज व्यवस्था की ओर आगे बढ़ाया और फिर इसने देश को अन्ध-विश्वास के गन्दे दलदल में फँसाकर रखा।

ग्रामीण परम्परा की सहायता से भारतीय इतिहास का अध्ययन करने में जो कठिनाई सामने आती है, वह है कालक्रम का अभाव। पचास साल पहले की घटनाएँ और डेढ़ हजार साल पुरानी परम्पराएँ ग्रामवासी की दृष्टि में प्रायः समान स्तर की हैं, क्योंकि उसका जीवन ऋतुओं से बँधा रहता है। भारतीय आख्यानों में वर्णित चार युगों का चक्र ऋतुचक्र के चार प्रमुख परिवर्तनों से ठीक मेल खाता है। माना जाता है कि चार युगों का अन्त एक विश्वव्यापी जल प्रलय में होता है, और उसके बाद पुनः नये युगचक्र की शुरुआत होती है। देहाती इलाके में मानसून के बाद मोटे तौर पर यही होता है। हर साल प्रायः एक सा होता है, अन्तर केवल इतना ही है कि किसी साल अच्छी फसल होती है तो किसी साल अकाल और महामारी का सामना करना पड़ता है। कोई लेखा-जोखा नहीं रखा जाता, क्योंकि किसान प्रायः पूर्ण निरक्षर होता है। यदि उसने कुछ पढ़ना लिखना सीखा भी हो, तो भी जीवन कुछ ऐसा होता है कि ग्रामीण के लिए साक्षरता का कोई उपयोग नहीं होता और वह धीरे धीरे फिर अनपढ़ बन जाता है। औसत देहात में किताबें, अखबार या अन्य वाचन सामग्री नहीं पहुंच पाती। अतः ग्रामीण परम्परा के तत्त्वों को पृथक करने में विशेष सावधानी बरतना आवश्यक है। दूसरी ओर, इसमें प्रकट होता है कि अत्यन्त प्राचीन रीति रिवाज, उनके बाह्य रूपों में विशेष परिवर्तन हुए बिना, किस प्रकार अब तक जीवित रहे हैं। इन स्थानीय रीति रिवाजों को प्रायः सामन्ती सरदारों या ब्राह्मण-पुरोहितों ने अपना लिया है, शायद बाह्य रूप में ये दिखावटी मात्र हैं। इतिहास की जो परिभाषा हमने दी है उसके अनुसार भारत का विस्तृत इतिहास यहीं के देहातों में मौजूद है, परन्तु इस इतिहास को समझने के लिए व्यापक और गहन दृष्टि की आवश्यकता है।

१.६ सारांश

ऊपर सर्वप्रथम यह बताया गया है कि भारत में उच्च वर्ग की ...

जीवन पर विदेशियो की छाप है और इन्होने ही उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली भारत पर लादी है। दूसरे व्यापक रूप से ग्रामीण अचला पर और भारतीय धर्म सम्प्रदायो पर इनकी आदिम उत्पत्ति की अमिट छाप मौजूद है, क्योकि भारत के बहुत-से भागो मे आदिम जीवन पद्धतियाँ जीवित रह पायी हैं और आज भी हैं। इनमे से प्रथम कथन को आमतौर पर स्वीकार किया जाता है, यद्यपि देश-भक्ति के कारण बहुत से लोग भारत के आधुनिक इतिहास म विदेशी आक्रमण कारियो की भूमिका को कम करके आँकते हैं। दूसरे कथन से मध्य वर्ग के अधिकाश भारतीय क्रुद्ध हो जाते हैं क्योकि उन्हे लगता है इससे उनके देश का उपहास होता है या उनका अपना अपमान होता है। परन्तु आदिम सस्कृतियाँ तब तक हास्यास्पद और गौरवहीन नही होती जब तक वे सामन्ती अथवा पूँजीवादी प्रणाली से उत्पन्न दूषित प्रथाओ के सम्पर्क मे नही आती। भारत का विकास अपने ढग से दूसरे देशो की अपेक्षा अधिक 'सभ्य' रहा है। पुरानी पूजाविधियो को बलप्रयोग से नष्ट नही किया बल्कि आत्मसात् किया गया। अधविश्वास ने हिंसा की आवश्यकता को कम कर दिया। यदि यूरोप या अमरीका के इतिहास के अनुरूप ही भारतीय इतिहास का भी विकास हुआ होता तो यहाँ कही अधिक क्रूरता की आवश्यकता होती।

इससे पता चलता है कि भारतीय इतिहास प्रवाह की अपनी कुछ सुस्पष्ट विशेषताए हैं। बाद मे कोई गलतफहमी पैदा न हो, इसलिए इन विशेषताओ पर यहा थोडा प्रकाश डालना जरूरी है। भारत के जिस इतिहास मे केवल इतिवृत्तो, आख्यानो, राजवशावलियो महत्त्वपूर्ण युद्धो की तिथियो और शासको तथा सास्कृतिक महत्त्व के व्यक्तियों की जीवनियो का ही उल्लेख है, वह यथार्थ इतिहास नही है। यदि कोई पाठक अकस्मात किसी ग्रन्थ मे प्राचीन भारत से सम्बन्धित ऐसे वैयक्तिक एव घटनामूलक विस्तृत विवरण को देखता है, तो उसे ऐसे इतिहास ग्रन्थ का वाचन एक रोमानी कल्पित-कथानक की भाँति ही करना चाहिए (जैसे वह भारतीय रेलो की समय सारिणी हो!), परन्तु उस पर यकीन नही करना चाहिए। दूसरे छोर पर, कुछ गलतफहमी की भी सम्भावना है। माना जाता है कि मानव-समाज क्रमश इन उत्पादन प्रणालियो मे से होकर गुजरा है आदिम साम्यवाद, पितृसत्तात्मक पद्धति (पुरानी बाइबिल के अब्राहम) और/अथवा एशियायी पद्धति (अपरिभाषित), प्राचीन यूनान तथा रोम का दासप्रथावाला समाज सामन्तवाद, पूजीवादी पद्धति और कुछ देशो मे समाजवाद। भारतीय इतिहास को इस सुनिश्चित ढाचे मे भी ठीक ठीक प्रस्तुत करना सम्भव नही है। पहली बात, जैसाकि पहले बताया जा चुका है यह है कि देश के सभी भाग एक साथ एक ही अवस्था म नही रहे। प्रत्येक अवस्था म, देश के प्राय हर भाग मे, पहले की सभी अवस्थाओ के कई लक्षण जीवित रहे और उनके साथ-साथ अनेक

पूर्ववर्ती व्यवस्था के उत्पादन के तरीके और रीति रिवाज भी। ऐसे कुछ लोग हमेशा मौजूद रहे जो पुरानी पद्धति से हठपूर्वक चिपके रहना चाहते थे, और चिपके रहे। परन्तु हमें उसी एक-एक विशिष्ट पद्धति पर ध्यान देना है जिसका प्रभाव इतना अधिक व्यापक हो गया कि वह देश के अधिकांश हिस्सों पर लागू हो गयी। दूसरे, प्राचीन यूरोप में जिस प्रकार की दासप्रथा का अस्तित्व रहा है, वैसी दासप्रथा भारत में किसी भी अवस्था में देखने को नहीं मिलती। कुछ भारतीयों को पुरातन युग से लेकर वर्तमान सदी के मध्यकाल तक आजादी नसीब नहीं हुई। इन पंक्तियों के लिखे जाते समय प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार, कुछ कबीलाई लोग केरल के खुले बाजारों में आज भी पशुओं की भाँति बेचे जाते हैं। परन्तु उत्पादन के सम्बन्धों और उत्पादन के लिए आवश्यक मजदूरों को प्राप्त करने की दृष्टि से चल-सम्पत्ति रूप दासप्रथा का महत्त्व यहाँ नगण्य रहा। जिस दास के अतिरिक्त उत्पादन को हथियाया जा सकता था, उसका स्थान प्राचीन भारत में निम्नतम शूद्र-वर्ग ने ले लिया था। सामन्ती युग में खरीदे हुए या अपहृत दासों का महत्त्व अधिक बढ़ गया क्योंकि इनके कारण शासक या सामन्त को अपने अनुयायियों पर कम आश्रित रहना पड़ता था। परन्तु इसे भी हम यूरोप की पुरातन दासप्रथा के समकक्ष नहीं रख सकते, क्योंकि सामन्त लोग इन शाही दासों को सामन्ती शासन के लिए खतरनाक समझते थे। इसके अतिरिक्त, ऐसा कोई भी दास असीम सम्पत्ति जमा कर सकता था और सामन्ती समाज में किसी भी अन्य व्यक्ति के समान ऊपर उठ सकता था। उदाहरण के लिए, दिल्ली के सबसे योग्य और श्रेष्ठ आरम्भिक सम्राट और अहमदनगर के बहमनी वंश के योग्य संस्थापक, सब दासों से ऊपर उठे थे। अतः भारतीय सामन्तवाद की भी अपनी कुछ खास विशेषताएँ हैं (लेकिन इंग्लैण्ड का सामन्तवाद भी रूमानिया के सामन्तवाद से भिन्न था)। न केवल सामन्ती युग में बल्कि उसके पहले और बाद में भी अपराधी दासों, घरेलू दासों, खरीदे हुए नर्तकों, गायकों, विदूषकों और अन्तःपुर के दासों का अस्तित्व रहा है परन्तु इनके साथ, प्रायः पहले वर्ग के दासों को छोड़कर, वेतनभोगी मजदूरों की अपेक्षा अच्छा बरताव किया जाता था, क्योंकि इनको प्राप्त करने में धन खर्च होता था। यह स्थिति यूरोप की पुरातन दासप्रथा से नितान्त भिन्न है और यूरोप के उस सामन्ती युग की स्थिति से भी भिन्न है जिसमें दासप्रथा ही मिटती गयी। ब्राजील में सामन्तवाद के पहले दासप्रथा का कोई युग नहीं था। अमरीका में दासप्रथा, बिना किसी सामन्तवाद के ही, कपास की खेती के विकास के लिए पूँजीवादी वर्ग के साथ आयी, इसका अन्त कोई सौ वर्ष पहले एक ऐसे रक्तरंजित गृहयुद्ध के बाद हुआ जिसकी गूँज संसार के सबसे उन्नत पूँजीवादी प्रजातन्त्र के दक्षिणी राज्यों में आज भी सुनायी पड़ती है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास की इस संक्षिप्त रूपरेखा का कोई मताग्रही

प्रयोजन नही है। मुझे यहाँ एक निश्चित परिभाषा एव कार्यविधि को अपनाना था, क्योंकि अन्य परिभाषाएँ काफी कष्टकर अनुभव के बाद निरर्थक सिद्ध हो चुकी हैं। आगे के अध्यायों का सम्बन्ध, न केवल अतीत से, बल्कि अनिवार्यत भारतीय समाज की वर्तमान अवस्था से भी घनिष्ठ रूप से है।

इतिहासकार का काम न तो अतीत से प्रेम करना है, न अतीत से छुटकारा पाना, बल्कि वर्तमान को स्पष्ट करनेवाली एक कुंजी के रूप में अतीत की गहराई में जाकर उसे खोलकर समझना है। इतिहासकार का अतीत-सम्बन्धी चित्र जब वर्तमान की समस्याओं को समझनेवाली अन्तर्दृष्टि से आलोकित होता है तभी महान् इतिहास रचा जाता है। इतिहास से सीखना केवल एकतरफा प्रक्रिया नही है। अतीत के प्रकाश में वर्तमान को समझने का अर्थ वर्तमान के प्रकाश में अतीत को समझना भी है। इतिहास का प्रयोजन है—अतीत और वर्तमान के बीच के अन्त सम्बन्ध द्वारा इन दोनों के बारे में अधिकाधिक गहन जानकारी प्राप्त करते रहना।'

ऐसे इतिहास की रचना करने के लिए सम्भव है कि, इन पंक्तियों के लेखक में पर्याप्त शास्त्रीय क्षमता न हो। लेखक का यह प्रयास पाठक को किसी अन्य कारण से भी असंतोषप्रद लग सकता है परन्तु उसे कम से कम यह तो मालूम रहेगा ही कि वह क्या अपेक्षा रखे। इस संक्षिप्त ग्रन्थ में मुख्यत इन विकासों का विवेचन होगा आदिम समाज और कबीलाई जीवन। सिन्धु घाटी की सभ्यता। आर्यों का आक्रमण जिसके कारण यह सभ्यता नष्ट हुई, परन्तु जिसके फलस्वरूप पूर्व की ओर बस्तियाँ स्थापित हुई। जाति व्यवस्था, लोहे के औजार और हल की सहायता से गंगा की द्रोणी का उद्घाटन। मगध का और बौद्धधर्म का उत्थान। मौर्यों की सारे देश पर विजय, और इसके साथ ही ग्रामीण खेती की पैदावार पर आधारित एक साम्राज्य की स्थापना। साम्राज्य का पतन दक्षिणापथ में राज्यों का उत्थान और समुद्रतटवर्ती पट्टियों में बस्तियों की स्थापना। उद्गामी सामंतवाद का लम्बा दौर और बौद्धधर्म की अवनति। इसके बाद मुस्लिम युग और भारतीय मध्ययुग की शुरुआत होती है अर्थात् इसके साथ उस युग का अन्त होता है जिसे हम यथोचित रूप में प्राचीन भारतीय संस्कृति का युग कह सकते हैं।

टिप्पणी जो पाठक उस पांडित्यपूर्ण समीक्षा और अन्तहीन विवाद में रुचि रखते हैं जो भारत का कोई प्रामाणिक इतिहास लिखने के प्रयास के पहले हुआ करते हैं, उन्हें मेरी निम्न रचनाएँ कुछ रोचक लग सकती हैं, इन रचनाओं को प्रस्तुत ग्रन्थ की पाद टिप्पणियाँ ही समझना चाहिए

(१) An Introduction to the Study of Indian History (बम्बई, १९५६) दूसरा संशोधित संस्करण १९७५,

(२) Myth and Reality (बम्बई, १९६२),

(३) Exasperating Essays (पुणे, १९५७),

इन तीन ग्रंथो मे उल्लिखित निबंधो के अलावा मेरे इन निम्न लेखो से भी इस क्षेत्र की शास्त्रीय कठिनाइयो को समझने मे सहायता मिल सकती है

'घेनुकाक्ट' (जनल आफ द एशियाटिक सोसायटी, बम्बई, खण्ड ३०, १९५७, पृष्ठ ५० ७१),

The Text of the Arthaśāstra (जनल आफ द अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, खण्ड ७८, १९५८, पृ० १६९-७३),

Indian Feudal Trade Charters (जनल फॉर द इकॉनामिक एण्ड साशियल हिस्ट्री ऑफ द ओरियण्ट, लीडेन, १९५९, प० २८१ ९३)

Primitive Communism (न्यू एज, दिल्ली, खण्ड ८, फर० १९५९, प० २६-३९),

The Use of Combined Methods in Indology (इण्डो ईरानीयन जनल, खण्ड ६, १९६३, पृ० १७७ २०२),

The Autochthonous Elements in the Mahābhārat (जनल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, शीघ्र प्रकाश्य),

The Beginning of the Iron Age in India (जनल फॉर द इकानामिक एण्ड सोशियल हिस्ट्री ऑफ द ओरियण्ट, खण्ड ६, १९६४),

इनके अतिरिक्त, मैं निम्नलिखित ग्रंथो को पढने का सुझाव दूगा

ए० एल० बाशम The Wonder That Was India (दूसरा सस्करण, लन्दन, १९६४),

एल० पेटेख Indien bis zur Mitte des 6 Jahrhunderts (Propyläen Weltgeschichte/Eine Universalgeschichte 1962)

एल० रेनाउ, जे फिलिजा और अन्य L'Inde classique (पेरिस, खण्ड १, १९४७, खण्ड २, १९५३)

अपने विषय के अधिकारी विद्वानो द्वारा लिखे गये इन ग्रंथो का दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से भिन्न है। कालक्रम को समझने के लिए एल० दे ला वाली

पूसी के इन दो ग्रन्थो को पढने की मैं विशेष रूप से सलाह दूगा L'Inde aux temps des Mauryas et des Barbares Grecs, Scythes Parthes et Yue tchi (पेरिस १९३०) और Dynasties et Histoire de l'Inde depuis Kanishka jusqu' aux invasions musulmanes (पेरिस १९३५),

दो अन्य विशिष्ट निबन्ध अधिक पाठको की अपेक्षा रखते हैं, ये है

जे० गेर्ने Les Aspects economiques du Bouddhisme dans la societe Chinoise du Ve au VIe siecle (सगोन, १९५६), और

विलहेल्म राउ Staat und Gesellshaft in alten Indien nach den Brahmana Texten Dargestellt (वाइसबाडेन, १९५७)

इस अध्याय के अन्तिम अश मे जो उद्धरण है वह इ० एच० कार के ग्रन्थ What is History ? (लन्दन, १९६२) के पृष्ठ २०, ३१ ६२ से लिया गया है।

दूसरा अध्याय

आदिम जीवन और प्रागैतिहास

२ १ स्वर्णयुग

परिपूर्णता की एक पूर्वकालिक अवस्था से मानव का पतन हुआ है, इस मान्यता के आख्यान कई देशों और कौमों की पुराणकथाओं में देखने को मिलते हैं, भारत में भी। आधुनिक हिन्दू वर्तमान को मानव-जाति का कलियुग कहते हैं। कहते हैं कि इसके पहले तीन बेहतर युग बीत चुके हैं। इनमें पहला और सबसे अच्छा युग था—सत्ययुग या कृतयुग। तब न रोग थे, न किसी चीज का अभाव था। तब आदमी न परिश्रम करते थे, न सूत कातते थे क्योंकि इस सुफला धरती से अपने आप ही सब कुछ भरपूर उपजता था। हर व्यक्ति शांतिप्रिय, निष्पाप, निष्कपट तथा सदाचारी होता था और हजारों साल तक जीवित रहता था। तब आदमी में लोभ पैदा हुआ, आदमी व्यक्तिगत सम्पत्ति जोड़ने लगे, जमाखोरी बढ़ने लगी। इन कुकर्मों के फलस्वरूप क्रमश तीन युग और आये—त्रेता, द्वापर और कलियुग, जिनमें प्रत्येक युग पहले के युग से अधिक बुरा था। आदमी की आयु घटती गयी। पुण्य का क्षय होने से मानव जाति युद्ध व्याधि, दरिद्रता और क्षुधा से आक्रान्त हो गयी। कुछ इसी प्रकार के आख्यान बौद्ध और जैन धर्मग्रन्थों में भी देखने को मिलते हैं। ब्राह्मणों के ग्रन्थ इन सबसे अधिक अर्वाचीन हैं, इसलिए उनमें अन्तहीन युगचक्र (मन्वन्तरों) का एक और सिद्धान्त जोड़ दिया गया। इस वर्तमान कलियुग का अन्त एक विश्वव्यापी जल प्रलय में होगा। इस जल प्लावन से समस्त जीव-जगत नष्ट हो जाने के बाद धरती पानी से निकलेगी और पुन एक नये स्वर्णयुग का आरम्भ होगा। इसके बाद कालक्रम में अधिकाधिक अवनति के तीन युग और आयेंगे, जिनका अन्त पुन एक जल प्लावन में होगा। अतीत में ऐसा ही होता रहा है और भविष्य में

भी चना या यही सिलसिला चलता रहेगा। निरथक एतिहासिक पुनरावृत्ति का यह नराश्यपूण दृष्टिकोण, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भारतीय देहात के नीरस ऋतुचक्रीय जीवन का प्रक्षप मात्र है। अक्तूबर की फसल के बाद स्वास्थ्य और अमन-चन की शीत ऋतु आती है। उसके बाद अभाव बढता जाता है, और अन्त म वह समय आता है जब बोआई के लिए सूखे खेतो को तयार करने के लिए कठोर परिस्थितिया मे बडी मेहनत करनी पडती है। अन्त म मानसून की घनघोर वर्षा सारी भूमि को आप्लावित कर देती है। हर साल ऋतुचक्र का यही सिलसिला रहता है।

इस व्यापक आख्यान के बावजूद, बाद के कवियो और पुरोहितो के कल्पना लोक मे बाहर मानव-जाति के आरम्भकाल मे किसी स्वणयुग का अस्तित्व नही रहा। सवप्रथम इसकी प्रत्यक्ष जानकारी हमे इतिहास की उस लिखित सामग्री के अध्ययन से मिलती है जो लगभग २५०० ई० पू० मे भारत के बाहर के कुछ स्थानो से प्राप्त हुई है। इससे पहले के अतीत को जानने के लिए पुरातत्त्व की शरण मे जाना पडता है। जब पुरातत्त्ववेत्ता किसी ऐसे स्थल की खुदायी करता है जहा की मिट्टी हाल के वर्षों म अधिक अस्त-व्यस्त नही हुई है तो वहा एक-दूसरे से स्पष्टत पृथक कई छोटे-बडे स्तर प्रकट होत हैं। जो स्तर जितना नीचे होता है, वह उतना ही पुराना होता है, इसलिए कालक्रम स्पष्ट रहता है। इनमे से कई स्तरो मे मानवीय क्रिया-कलाप के अवशेष प्राप्त होत हैं। इनम शरीरावशेष भी हो सकते हैं, जसे, हड्डी, खोपडी अथवा सिफ एक दांत। जिस आदमी का यह दात होता है उसके शारीरिक ढांचे के बारे मे इससे काफी जानकारी मिल जाती है। आदमी जिन जानवरो का शिकार करता था, उनकी हड्डियाँ अक्सर उसकी अपनी हड्डियो के साथ मिल जाती हैं, साथ ही उन पशुओ की भी हड्डियाँ मिलती हैं जिन्हे उसने पालतू बनाया था कुत्ता, गाय बल, भेड, घोडा। उत्खनन के स्तरो की तुलना करने से जाना जा सकता है कि कुत्ते को घोडे से काफी पहले पालतू बनाया गया था और गाय-बैल तथा भेड को बीच के किसी काल मे। मृत्भाण्ड, पत्थर के औजार और धातु की वस्तुएँ आदमी की बनायी हुई चीजें हैं, इसलिए इन्हे शिल्पवस्तुएँ कहते हैं। जहा जलवायु शुष्क है जसे कि मिस्र मे वहा लकडी की चीजें, हड्डी और हाथीदांत के हथियार, टोकरियाँ, ऊन या सन से बुने हुए कपडा के धागे, अनाज के दाने, चित्र और पपीरस पर लिखी गयी सामग्री सुरक्षित बची है। इनके आधार पर मोटे तौर पर हम यह बता सकते हैं कि मनुष्य ने किस क्रम म इन विभिन्न वस्तुओ को बनाना सीखा है। खेती के अनाजा की गिनती शिल्पवस्तुओ मे तो नही होती परतु मृत्भाण्डो की तरह इनकी उपज भी मानवीय क्रिया-कलाप से हुई है। इन सभी अनाजो का विकास हजारो वर्षों तक प्राकृतिक घासो

वे सबसे मोटे बीजो को सावधानी से चुनते रहने और उन्हे बार-बार बोने से हुआ है। यदि मानव के कार्य-कलाप बन्द पड जाते हैं, तो खेती के अनाज की किस्मे गायब हो जायेंगी या इनके स्थान पर, इन पौधो की कुछ ही पीढियो मे, अधिक सख्त आदिरूप जगली किस्मे उग आयेंगी। खुदाई के स्तरो के अवशेष ऐतिहासिक क्रम के द्योतक होते हैं, यदि बाद मे इन स्तरो में कोई हलचल हुई हो, जैसे ऊपरी परतो मे खोदा गया कोई गड्ढा, तो प्रशिक्षित पुराविद उसे पहचान लेता है और उसे पृथक करके अध्ययन करता है। विभिन्न स्थानो से प्राप्त पुरावशेषो की तुलना करने से पता चलता है कि किसी खास किस्म का औजार बर्तन या अनाज आदि कितनी दूर तक फैला हुआ था या इस्तेमाल होता था। अन्त मे, आधुनिक विज्ञान ने पुरावशेषो के काल निर्धारण के काफी अच्छे तरीके खोज निकाले हैं। ये तरीके पुरावशेषो मे फ्लोरीन की मात्रा के मापन, काठकोयले और हड्डी मे रेडियो धर्मिता की मात्रा, भूचुम्बकीय अवलोकन, ऋतु परिवर्तनो के साथ वृक्ष के वलयो मे होनेवाली वृद्धि (वृक्ष-तैथिकी) आदि के अध्ययन पर आधारित हैं। इस प्रकार पुनरचित अतीत अनेक सदियो पीछे चला जाता है (जिसमे अनेक अन्तराल होते हैं) और तब अन्त मे हम जावा-मानव, पेकिंग-मानव और मानव पूर्व अफ्रीकी प्रोकोन्सुल के कपाल जैसे मानव-प्रकारो तक पहुचते हैं। यहाँ हम पुरातत्त्व से भूविज्ञान के क्षेत्र मे पहुच जाते है इतिहास के क्षेत्र से स्तनपायी, रीढदार और अन्य प्रकार के प्राणियो के विकास के अध्ययन के क्षेत्र मे पहुचते हैं।

परन्तु इस समूचे अतीत मे कही किसी विलुप्त स्वर्णयुग के या गौरवशाली अवस्था के दर्शन नही होते। यह सही है कि मानव का विकास एकसमान या लगातार नही हुआ है, किन्तु कुल मिलाकर उसकी अवश्य ही प्रगति हुई है। वह एक काफी अक्षम पशु से औजार बनाने और उनका इस्तेमाल करनेवाला एक ऐसा प्राणी बन गया जो अपनी सख्या और अपने विविध कार्य-कलापो के कारण सारी धरती पर छा गया, और अब उसे केवल अपने आप पर ही नियन्त्रण प्राप्त करना शेष रह गया है। हजारो-लाखो साल पहले की खुदाई मे प्राप्त हुई हड्डियो के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन प्रस्तर युग के किसी मानव का चालीस साल की आयु तक जीवित रहना उसके लिए एक अदभुत उपलब्धि थी। उसका अधिक स्वस्थ होना तो दूर रहा, वह आयु को घटानेवाले परजीवी जन्तुओ और जर्जर कर देनेवाले रोगो से और भी अधिक ग्रसित था। यदि कही कोई स्वर्णयुग है, तो वह अतीत मे नहीं, भविष्य मे होगा।

२ २ प्रागितिहास और आदिम जीवन

पुराविद द्वारा खोजे गये पुरावशेष स्वय यह जानकारी नही दे सकते कि किसी युग विशेष के लोग वस्तुत किस प्रकार रहते थे। उस जीवन-पद्धति की

पुनरचना करने के लिए ससार के दूर दूर के दुगम क्षेत्रो म आज भी जीवित बच अनेकानेक आदिम कबीलो का तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। तभी क्रमश यह स्पष्ट होता है कि खास किस्म के औजार कब बनाये गये थे और उनका किस प्रकार इस्तेमाल होता था, कि इन औजारो का प्रयोग करने वाले सुदूर अतीत के लोग कैसा जीवन व्यतीत करते थे। कुछ हद तक सामाजिक सगठन—जब सामाजिक सगठन अस्तित्व म आया—के बारे म भी जानकारी मिल सकती है, परन्तु सुनिश्चित जानकारी नही। जब हम कहते हैं कि ऑस्ट्रेलिया अथवा ब्राजील के भीतरी भाग के किसी आदिम कबीले का अध्ययन किया जा सकता है, तो इसका मतलब है कि इन कबीलो के लोगो का बाहर की दुनिया से, और उन्नत सभ्यता से, कुछ सम्पर्क स्थापित हो चुका है। इस बात का हम ध्यान रखना होगा, क्योकि सम्पर्क का अर्थ है परिवर्तन। दूसरे कोई भी मानव-समूह दीर्घकाल तक एक स्थिर अवस्था म नही रह सकता। या तो वे विकसित होकर अधिक सक्षम बनेंगे या क्षीण होकर नष्ट हो जायेंगे। प्रागैतिहासिक काल के जिन मानव-समूहो का हम अध्ययन करना चाहते हैं वे दुनिया से लुप्त हो चुके हैं। इनमें से कुछ समूहो के वशज विकास करते-करते आधुनिक सभ्यता तक पहुंचे, दूसरे एकदम लुप्त हो गये। दुनिया के सुदूर क्षेत्रो म जो थोडे आदिम मानव-समूह जीवित बचे हैं उन्होने कुछ ऐसे विचार, मनोवृत्तियाँ, अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड और रीति रिवाज विकसित कर लिये हैं कि ये उन्हें नयी जीवन-पद्धतियो को अपनाने की कोशिश करने से रोकते हैं। सबका तो नही परन्तु आजकल के अधिकाश वन्य समूहो का सामाजिक ढाचा इतना दृढ है कि वह किसी प्रकार के नये प्रयास को बढावा नही दे सकता। सामाजिक विकास पर विचारो के प्रभाव की कोई भी भौतिकवादी उपेक्षा नही कर सकता।

ससार के विभिन्न क्षेत्रो म व्यापक खुदाई के फलस्वरूप जो पुरावशेष प्राप्त हुए हैं उनका क्रम मोटे तौर पर इस प्रकार है सबसे नीचे के स्तर म, इसलिए सबसे पुराने, तोडे हुए पत्थर के अनगढ टुकडे मिलते हैं। इनका औजारो की तरह इस्तेमाल होता था, और इनके साथ-साथ लकडी तथा हड्डी के दण्डो का भी जो आम तौर पर नष्ट हो चुके हैं। इस प्राचीन प्रस्तर युग के एक लाख या इससे भी अधिक वर्षों मे पत्थरो को छील छीलकर औजार बनाने की तकनीक का धीरे धीरे विकास हुआ। अन्त म इसके बाद पत्थरो के परिष्कृत औजारो का युग (नवपाषाण युग) आया। इन दोनो के बीच एक ऐसा युग रहा है जिसे मध्य-पाषाण युग का नाम दिया गया है परन्तु अब इस नाम का प्रचलन नही रहा, क्योकि इस युग की अवधि और सीमाएँ निर्धारित करना अनिश्चित है। ये नीचे के स्तर जिनमे केवल पत्थर के (और सम्भवत हड्डी, लकडी और सीग के भी) औजार मिलते हैं, बाद मे उन ऊपर के अन्य स्तरो के नीचे दब गये जिनमे धातुओ

के औजार तथा हथियार मिलते हैं। सर्वप्रथम ताँबे की धातु का ही व्यापक रूप में इस्तेमाल हुआ। ताँबे को इसकी कच्ची धातु से प्राप्त करने के लिए मिट्टी के बरतनों के आँवे से अधिक सक्षम भट्ठे की जरूरत नहीं थी। उत्तर-पाषाण युग में पत्थरों के औजारों के साथ-साथ मिट्टी के बर्तन भी मिलते हैं। ताँबा इतनी अधिक मुलायम धातु है कि इसे ठीक से तैयार किये बिना उपयोग में नहीं लाया जा सकता, साथ ही यह इतनी भंगुर धातु है कि इसे टीन जैसी धातु के साथ उचित अनुपात में मिलाने पर ही (जिससे काँसा बनता है) कठोर बनाया जा सकता है। चूँकि टीन हर जगह नहीं मिलता, इसलिए जाहिर है कि कांस्ययुग में इसकी दूर-दूर तक तलाश होती थी। ३००० ई० पू० या इससे भी पहले से दूर दूर तक व्यापार जोर शोर से होने लगा था। फिर भी काँसा दुर्लभ ही था और कुछ ही लोगों का इस पर आधिपत्य था। इसका अर्थ है, समाज का वर्गों में विभाजन। कांस्ययुग में कच्ची धातुओं और अच्छे जल स्रोतों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए दूर-दूर तक छापे मारे जाते थे, काफी लड़ाइयाँ होती थी। ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी (२००० १००० ई० पू०) में ऐसे अनेक घुमन्तू कबीले थे जो प्रचुर चल भोजन-सामग्री (प्राय मवेशी) साथ लेकर यूरेशिया महाखण्ड में घूमते रहते थे। परन्तु इनके एक हजार वर्ष पहले ही मिस्र और मेसोपोटामिया की प्राचीन नदी घाटी खेतिहर संस्कृतियों में नगर-राज्य, राजतन्त्र, मन्दिरों के पुरोहित वर्ग और युद्ध-तन्त्र का विकास हो चुका था। ऐसा विकास स्थानीय और अपवादात्मक था।

पुरातत्त्व की दृष्टि से वर्तमान युग लोहयुग है। लोहा इतनी सस्ती और व्यापक रूप से पायी जाने वाली धातु है कि इससे कृषिकर्म एक सर्वव्यापी सम्भावना बन गया है। सीमित रूप में कृषि की शुरुआत उत्तर पाषाण युग में हो चुकी थी, इसलिए हम कह सकते हैं कि उत्पादन के साधनों में यह एक 'नवपाषाण युगीन क्रान्ति' थी। परन्तु यह कुछ ऐसे ही विशेष क्षेत्रों तक सीमित थी जहाँ घने जंगलों का साफ करना जरूरी नहीं था। ये क्षेत्र थे मेसोपोटामिया (इराक), मिस्र, सिंधु घाटी, ईरान, तुर्की तथा फिलस्तीन के ऊँचे मैदान, डैन्यूब घाटी में लोएस मिट्टी के गलियारों के कुछ भाग, और सम्भवत चीन के कुछ लोएस क्षेत्र भी। पहली बार तैयार किया जाने वाला लोहा यद्यपि काँसे से मुलायम होता है परन्तु इससे जंगलों को साफ करने और हल से कड़ी मिट्टी को उलटने में मदद मिली। यह पहली धातु थी जो बहुतों को सुलभ हुई, इस पर केवल योद्धा-वर्ग का ही अधिकार नहीं रहा। आरम्भिक किसानों ने ७०००-८००० ई० पू० के आसपास पहली बार नगर स्थापित किये, जैसे, छतल हुयुक (तुर्की) और जेरिको (फिलस्तीन), परन्तु उनके अन्न उत्पादन के तरीके नजदीक के क्षेत्रों में व्यापक पैमाने पर इस्तेमाल में नहीं लाये जा सके। उनकी खेती मिस्र और इराक की खेती के स्तर की नहीं थी। खेती के साथ साथ वे अन्न-संग्रह और पशुपालन

भी करते थे, और यह क्रम तब तक चलता रहा जब ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के अन्त समय में लोहा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगा। सर्वप्रथम अच्छे तरीकों से लोहा तैयार करनेवाले लोग सम्भवतः हित्ती ही थे। लौह निर्माण की विधियों को अत्यन्त गोपनीय रखकर इस पर एकाधिकार रखनेवाले ये हित्ती लोग आज की तुर्की में रहते थे। १३५० ई० पू० में भी लोहा इतना दुर्लभ था कि फरुन तुतनखामन को सोने के ठोस ताबूत में तांबे, काँसे और हाथीदाँत की अनेकानेक वस्तुओं तथा अन्य कीमती चीजों के साथ एक समाधि-गृह में दफनाया गया था, परन्तु इनमें लोहे की एक ही वस्तु थी—उसके कपाल के नीचे बाँधा गया तावीज। सस्ते लोहे का आविष्कार अधिकांश लोगों के लिए सुखकर सिद्ध नहीं हुआ। काँस्ययुग में भी क्षुद्र एशिया की अलग-अलग छोटी खेतिहर बिरादरियों पर हमले करके उन्हें तहस-नहस कर दिया जाता था। जब बहुतायत में जनशक्ति (प्रायः दास या कृषक दास) उपलब्ध हुई, तभी लोहे के इस्तेमाल से अधिक अन्न उपजने लगा और इसके साथ-साथ उत्पीडन भी बढ़ा। व्यापारी मार्गों से दूर अलग-थलग पड़े हुए कुछ कबीले कृषि को अपनाने की बजाय अन्न संग्रह के पाषाण युगीन तरीकों से ही हठपूर्वक चिपके रहे (लगभग हाल के दिनों तक)। वे सभ्यता की ओर अग्रसर होनेवाले मार्ग में पिछड़ गये। प्रस्तर युग समाप्त हुआ, ऐतिहासिक युग शुरू हुआ, किन्तु तब भी जब-तब पत्थरों के औजारों का इस्तेमाल होता ही रहा। सन् १०६६ ई० की हेस्टिंग्स की लड़ाई में राजा हैरोल्ड की सेना के बहुत-से सैनिकों के पास पत्थर के कुल्हाड़े ही थे, यद्यपि इंग्लैण्ड बहुत पहले, जुलियस सीज़र के इस द्वीप पर ५४ ई० पू० में किये गये हमले के भी बहुत पहले, लौहयुग में पहुंच चुका था।

समग्र अन्न संग्राहक समाज की विशेषताओं को स्पष्ट करना आसान नहीं है। आधुनिक रोमानी विचारक मानने लगे थे कि आदिम मानव अवश्य ही एक उदात्त वन्य प्राणी था सभ्यता के कुप्रभावों से बचा हुआ प्रकृति-पुत्र था, और वह लोभ तथा दुष्कर्मों से मुक्त था। इस 'प्राकृतिक' पार्थिव स्वर्ग की कल्पना का उदय क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा कस्टील की रानी इसाबेला को लिखे गये एक पत्र से हुआ। यह साहसी खोजकर्ता जब भारत के स्वर्णमय नगरों तक नहीं पहुंच पाया, तो कम से कम यह बताने के लिए उतावला हो उठा कि उसने कुछ तो असाधारण खोज ही निकाला है—प्राकृतिक अवस्थावाला करीबियन मानव। इससे यूरोपवासियों की कल्पनाशक्ति विलोड़ित हुई क्योंकि उन्हें एक ऐसी चीज मिल गयी थी जो न तो (ईडन के उद्यान के बाद) बाइबिल में थी न ही पुनर्जागरण के युग में नये सिरे से खोजे गये प्राचीन यूनानी लैटिन ग्रन्थों के आदर्शलोकों में। इस 'प्राकृतिक' मानव की खोज से रूसो के सामाजिक सिद्धान्तों को और समकालीन समाज पर प्रबल प्रहार करनेवाले वाल्तेयर के व्यंग्यों को

बल मिला। कुछ लोग आदिम साम्यवाद की चर्चा कुछ इस प्रकार करते है कि मानो यह एक ऐसी आदर्श समाज-व्यवस्था थी जिसमे सभी लोग बराबर के साझीदार होते थे और अपनी सीमित आवश्यकताएँ मिल-जुलकर पूरी करते थे। अपने चरम रूप मे यह भी आधुनिक गुलाबी लिबास पहना हुआ 'स्वर्णयुग' का वही पुराना आख्यान है।

आरम्भिक अन्न-संग्राहक समाज बड़ी कठिन परिस्थितियो से घिरा हुआ था। प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक युग मे उसका विशिष्ट स्वरूप अल्प और अनिश्चित मात्रा मे उपलब्ध होनेवाली खाद्य सामग्री पर आश्रित था। ग्राहम क्लार्क-जैसे जिम्मेदार पुरातत्त्ववेत्ता का अनुमान है कि, ऊपरी पुरापाषाण युग मे इगलड और वेल्स की आबादी सम्भवत २५० आदमियो की थी, और ये दस छोटे गिरोहो मे बँटे हुए थे। मध्यपाषाण युग मे सम्पूर्ण ग्रेट ब्रिटेन की आबादी ४,५००, नवपाषाण युग के किसी भी काल मे २०,००० और ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी मे, जब कास्ययुग और अन्न-उत्पादन की भलीभाँति शुरुआत हो चुकी थी, यह आबादी चालीस हजार से कुछ कम ही थी। भारत के लिए ऐसे आकडे प्रस्तुत करना सम्भव नही है, क्योकि इसके लिए आज पुरातत्त्व के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नही हैं। परन्तु प्रस्तर युग मे इस भारतीय उप महाखण्ड के किसी भी विस्तृत क्षेत्र की आबादी प्रति दस वर्ग मील मे एक व्यक्ति से अधिक रही है, तो यह एक आश्चर्य की ही बात होगी। जहाँ प्रकृति कृपालु है, वहा भी सभी मौसमो मे यह एक-सी उदार नही है। लगातार कई साल तक अभाव की स्थिति बनी रहने की सम्भावना थी। किसी-न किसी प्रकार के अन्न भण्डार के बिना बड़ी आबादी और स्थायी बस्तियो के होने का प्रश्न ही नही उठता। खाद्य-सकलन-वाले जीवन मे खाद्य को सुरक्षित रखने की अवस्था अपेक्षाकृत बाद मे आती है। मास और सूखी मछली को सुरक्षित रखने के लिए नमक की जरूरत होती है, और यह दूर से ही प्राप्त हो सकता है, खाद्य सामग्री को सुरक्षित रखने के लिए टोकरियो, चमडे की थलियो और मिट्टी के बर्तनो जैसे पात्रो की भी जरूरत पड़ती है। फिर, सब प्रकार की भोजन-सामग्री को सुरक्षित रखना सम्भव भी नही है। कड़े छिलकेवाले फलो, अनाजो और कुछ कन्दमूलो को भलीभाँति सुरक्षित रखा जा सकता है। परन्तु इनमे से अधिकाश का पकाए बिना पचा पाना सम्भव नही है और पकाने का अर्थ है आग पर अधिकार और मिट्टी के कुछ भाडे-बर्तनो की आवश्यकता। इस अवस्था तक पहुचने के काफी पहले मनुष्य सामाजिक जीवन की विशिष्ट पद्धतिया विकसित कर चुका था, क्योकि वह कई हजार वर्षों से औजारो का इस्तेमाल करनेवाले एक प्राणी का जीवन व्यतीत करता आ रहा था।

यहा दो विशेषताए स्पष्ट हैं। यदि भोजन सामग्री को सुरक्षित रख पाना

म्भव नही है, तो उसे जल्दी खा लेना जरूरी हो जाता है। इसका अर्थ है, तिरिक्त भोजन सामग्री हो तो उसे आपस मे बाट लेना, या अधिकाश लोगा ना भूखे रह जाना। परन्तु बहुत से पशु समूह भी अतिरिक्त भोजन-सामग्री को बाटकर खाते हैं। जो आदिम मानव समूह भारी अभाव की अवस्था से आगे बढे हुए होते है, उनमे खाद्य सामग्री को आपस मे बाट लेना एक सामाजिक बाध्यता हो जाती है, जैसे, विशेष अवसरो पर भोज देने की आवश्यकता। इसका अर्थ यह नही कि प्रत्येक व्यक्ति एकत्र किये गये सारे खाद्य म से हिस्सा प्राप्त करने का अधिकारी था। दूसरे, अन्न सकलन करनेवाले समूह क्वचित ही आवश्यकता से अधिक पशुओ को मारते है या खाद्य सग्रह करते हैं। उनमे अन्न सग्रह का लोभ नही होता न ही वे महज शौक के लिए शिकार करके मास को सडने के लिए छोड देते हैं। इस हद तक 'स्वर्णयुग' के आख्यान मे कुछ सचाई है। परन्तु आदिम मानव की अधिकतर शक्ति खाद्य सामग्री की खोज म ही खच हो जाती थी। खाद्य सकलनकर्ताओ की सबसे बडी इकाई, जिसका आकार सदव ही परिवेश से निर्धारित होता था, किसी एक प्रकार की खाद्य सामग्री पर अधिक निर्भर रहती है, जैसे, कोई पशु मछली पक्षी, कृमि, फल अथवा कन्दमूल। इसका अर्थ है, न केवल विशेषीकरण बल्कि अतिविशेषीकरण। ऐसी मानव इकाई न केवल अपने को एक सगोत्रीय समूह समझती थी, बल्कि अपने को उसी पदार्थ से निर्मित समझती थी जिससे कि उसका प्रमुख अथवा प्रिय खाद्य बना है। अन्य मानव-समूह, जिनके विशिष्ट भोजन की चीजें भिन्न थी सगोत्रीय नही समझे जाते थे और आरम्भ म तो मानव स्तर के भी नही माने जाते थे। इस विशिष्ट खाद्य को हम 'टोटेम' कह सकते है, हालाकि काफी बाद की अवस्था म निर्जीव वस्तुएँ और पशु के अग भी समूह वशिष्ट्य के टोटेम बन गय थे। टोटम खाद्य को प्राप्त करने की विशेष प्रवृत्ति विशेष कर्मकाण्ड से जुडी हुई थी। किसी न-किसी प्रकार की बलि (जिसमे नर-बलि भी शामिल थी) और दूसरे अनुष्ठानो का, चाहे अन्य रूप मे ही क्या न हो उद्देश्य था—(विशेष) खाद्य की विपुलता बढे, और इसके साथ-साथ इस खानेवाले अर्ध परोपजीवी उस विशेष मानव समूह की भी वृद्धि हो। हमारे लिए इन अनुष्ठानो का महत्त्व है, क्योकि इनमे आधुनिक मानव के सास्कृतिक क्रिया-कलापो के बीज निहित है। उनका नत्य, जिसमे सम्भवत कुछ लोग टोटेम पशु की नकल उतारते थे तो कुछ लोग शिकारियो की, एक धर्मानुष्ठान के साथ साथ आखेट का अभ्यास भी था, जो एक प्रकार से आखेट विधि की कवायद थी। इसी से कई हजार वर्ष बाद नृत्य-नाट्य (बने) और नाटक का विकास होनेवाला था। हिमयुग म जगली पशुओ के जो हूबहू चित्र तैयार किये गये थे (फ्रास और स्पेन की गुफाओ म), उन्हें अब अनुपम कला-कृतियाँ समझा जाता है। परन्तु मूलत ये चित्रकला की

म्भव नहीं है, तो उसे जल्दी खा लेना जरूरी हो जाता है। इसका अर्थ है, अतिरिक्त भोजन सामग्री हो तो उसे आपस में बाँट लेना, या अधिकांश लोगों का भूखे रह जाना। परन्तु बहुत से पशु समूह भी अतिरिक्त भोजन-सामग्री को बाँटकर खाते हैं। जो आदिम मानव समूह भारी अभाव की अवस्था से आगे बढ़े हुए होते हैं, उनमें खाद्य-सामग्री को आपस में बाँट लेना एक सामाजिक बाध्यता हो जाती है, जैसे, विशेष अवसरों पर भोज देने की आवश्यकता। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति एकत्र किये गये सारे खाद्य में से हिस्सा प्राप्त करने का अधिकारी था। दूसरे, अन्न-संकलन करनेवाले समूह क्वचित् ही आवश्यकता से अधिक पशुओं को मारते हैं या खाद्य-संग्रह करते हैं। उनमें अन्न संग्रह का लोभ नहीं होता न ही वे महज शौक के लिए शिकार करके मांस को सड़ने के लिए छोड़ देते हैं। इस हद तक 'स्वर्णयुग' के आख्यान में कुछ सचाई है। परन्तु आदिम मानव की अधिकतर शक्ति खाद्य सामग्री की खोज में ही खर्च हो जाती थी। खाद्य संकलनकर्त्ताओं की सबसे बड़ी इकाई, जिसका आकार सदैव ही परिवेश से निर्धारित होता था किसी एक प्रकार की खाद्य सामग्री पर अधिक निर्भर रहती है, जैसे, कोई पशु, मछली पक्षी कृमि, फल अथवा कन्दमूल। इसका अर्थ है, न केवल विशेषीकरण बल्कि अतिविशेषीकरण। ऐसी मानव इकाई न केवल अपने को एक सगोत्रीय समूह समझती थी बल्कि अपने को उसी पदार्थ से निर्मित समझती थी जिससे कि उसका प्रमुख अथवा प्रिय खाद्य बना है। अन्य मानव-समूह, जिनके विशिष्ट भोजन की चीजें भिन्न थीं सगोत्रीय नहीं समझे जाते थे और आरम्भ में तो मानव स्तर के भी नहीं माने जाते थे। इस विशिष्ट खाद्य को हम 'टोटेम' कह सकते हैं हालांकि काफी बाद की अवस्था में निर्जीव वस्तुएँ और पशु के अंग भी समूह वैशिष्ट्य के टोटेम बन गये थे। टोटेम खाद्य को प्राप्त करने की विशेष प्रवृत्ति विशेष कर्मकाण्ड से जुड़ी हुई थी। किसी न-किसी प्रकार की बलि (जिसमें नर बलि भी शामिल थी) और दूसरे अनुष्ठानों का चाहे अंध रूप में ही क्यों न हो, उद्देश्य था—(विशेष) खाद्य की विपुलता बढ़े, और इसके साथ-साथ इसे खानेवाले अर्ध-परोपजीवी उस विशेष मानव समूह की भी वृद्धि हो। हमारे लिए इन अनुष्ठानों का महत्त्व है, क्योंकि इनमें आधुनिक मानव के सांस्कृतिक क्रिया-कलापों के बीज निहित हैं। उनका नृत्य, जिसमें सम्भवतः कुछ लोग टोटेम पशु की नकल उतारते थे तो कुछ लोग शिकारियों की एक धर्मानुष्ठान के साथ साथ आखेट का अभ्यास भी था, जो एक प्रकार से आखेट-विधि की कवायद थी। इसी से कई हजार वर्ष बाद नृत्य-नाट्य (बैले) और नाटक का विकास होनेवाला था। हिमयुग में जंगली पशुओं के जो हूबहू चित्र तैयार किये गये थे (फ्रांस और स्पेन की गुफाओं में), उन्हें अब अनुपम कला-कृतियाँ समझा जाता है। परन्तु मूलतः ये चित्रकला की

म्भव नहीं है, तो उसे जल्दी खा लेना जरूरी हो जाता है। इसका अर्थ है, अतिरिक्त भोजन सामग्री हो तो उसे आपस में बाँट लेना, या अधिकांश लोगों का भूखे रह जाना। परन्तु बहुत से पशु समूह भी अतिरिक्त भोजन-सामग्री को बाँटकर खाते हैं। जो आदिम मानव-समूह भारी अभाव की अवस्था से आगे बढ़े हुए होते हैं, उनमें खाद्य-सामग्री को आपस में बाँट लेना एक सामाजिक बाध्यता हो जाती है, जैसे, विशेष अवसरों पर भोज देने की आवश्यकता। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति एकत्र किये गये सारे खाद्य में से हिस्सा प्राप्त करने का अधिकारी था। दूसरे, अन्न संकलन करनेवाले समूह कदाचित् ही आवश्यकता से अधिक पशुओं को मारते हैं या खाद्य-संग्रह करते हैं। उनमें अन्न संग्रह का लोभ नहीं होता, न ही वे महज शौक के लिए शिकार करके मांस को सड़ने के लिए छोड़ देते हैं। इस हद तक 'स्वर्णयुग' के आख्यान में कुछ सचाई है। परन्तु आदिम मानव की अधिकतर शक्ति खाद्य-सामग्री की खोज में ही खर्च हो जाती थी। खाद्य संकलनकर्त्ताओं की सबसे बड़ी इकाई, जिसका आकार सदैव ही परिवेश से निर्धारित होता था किसी एक प्रकार की खाद्य सामग्री पर अधिक निर्भर रहती है, जैसे कोई पशु, मछली, पक्षी, कृमि, फल अथवा कन्दमूल। इसका अर्थ है न केवल विशेषीकरण बल्कि अतिविशेषीकरण। ऐसी मानव इकाई न केवल अपने को एक सगोत्रीय समूह समझती थी, बल्कि अपने को उसी पदार्थ से निर्मित समझती थी जिससे कि उसका प्रमुख अथवा प्रिय खाद्य बना है। अन्य मानव-समूह, जिनके विशिष्ट भोजन की चीजें भिन्न थीं, सगोत्रीय नहीं समझे जाते थे और आरम्भ में तो मानव स्तर के भी नहीं माने जाते थे। इस विशिष्ट खाद्य को हम 'टोटेम' कह सकते हैं, हालांकि काफी बाद की अवस्था में निर्जीव वस्तुएँ और पशु के अंग भी समूह-वैशिष्ट्य के टोटेम बन गये थे। टोटेम खाद्य को प्राप्त करने की विशेष प्रवृत्ति विशेष कर्मकाण्ड से जुड़ी हुई थी। किसी न-किसी प्रकार की बलि (जिसमें नर-बलि भी शामिल थी) और दूसरे अनुष्ठानों का, चाहे अन्ध रूप में ही क्यों न हो, उद्देश्य था—(विशेष) खाद्य की विपुलता बढ़े और इसके साथ साथ इसे खानेवाले अर्ध-परोपजीवी उस विशेष मानव समूह की भी वृद्धि हो। हमारे लिए इन अनुष्ठानों का महत्त्व है, क्योंकि इनमें आधुनिक मानव के सांस्कृतिक क्रिया-कलापों के बीज निहित हैं। उनका नृत्य, जिसमें सम्भवतः कुछ लोग टोटेम पशु की नकल उतारते थे तो कुछ लोग शिकारियों की, एक धर्मानुष्ठान के साथ-साथ आखेट का अभ्यास भी था, जो एक प्रकार से आखेट विधि की कवायद थी। इसी से कई हजार वर्ष बाद नृत्य-नाट्य (बले) और नाटक का विकास होनेवाला था। हिमयुग में जंगली पशुओं के जो हूबहू चित्र तैयार किये गये थे (फ्रांस और स्पेन की गुफाओं में), उन्हें अब अनुपम कला-कृतियाँ समझा जाता है। परन्तु मूलतः ये चित्रकला की

विशेष भावना से तयार नही किये गये थे। जहा दिन का उजाला नही पहुँच सकता एसी अँधेरी भूमिगत गुफाओ मे ये चित्र चरबी से जलनेवाले मन्द दीपो या मशालो की रोशनी मे तैयार किये गय थे। प्राय एक दूसरे के ऊपर बने होने से ये चित्र कुछ खराब हो गय है। उत्कृष्ट पशु प्रतिमाओ का इस्तेमाल, जसाकि इन पर भालो और तीरो से बने हुए छेदो से पता चलता है, लक्ष्यवध के आनुष्ठानिक अभ्यास के लिए होता था। ये प्रतिमाए भी भूमिगत गुफाओ मे, धरती-माता के गर्भ म, ही है। गुफाओ की दीवारो पर ढाले हुए या उच्चित्रित मथुनरत पशुओ के जोडा स जाहिर होता है कि ऐसी सारी कलात्मक प्रस्तुति उन प्रजनन-अनुष्ठानो की अग थी जो उस समूह-विशेष के निजी रहस्य समझे जाते थ। खाद्य सामग्री सीमित होने पर एक ही प्रजाति के पशु भी ऐसे ही अलग अलग एकान्तिक समूह बना लेते ह। उदाहरण के लिए, अमरीका के मध्य पश्चिमी प्रेअरी प्रदेश के गोफर वग के प्राणी अपने क्षेत्र म बाहर के किसी गोफर की उपस्थिति सहन नही कर सकते, लेकिन आपस मे शान्तिपूवक रहते है। उनमे 'चुम्बन' के एक विचित्र 'अनुष्ठान' या प्रचलन है जिसस वे अपने समूह के गोफरो को पहचान लेते है। जिन मानव समूहो पर हम यहा विचार कर रहे हैं उनमे भी ऐसे ही आरक्षित किन्तु बदलते क्षेत्र अवश्य रहे होंगे। प्रत्येक समूह अपने सीमित विचारो को विशिष्ट ध्वनि समूहो द्वारा व्यक्त करता था। परन्तु इन ध्वनि समूहो को, आदिम जीवन के बारे मे अब तक प्राप्त हुई जानकारी के आधार पर, आधुनिक भाषा प्रकारो मे वर्गीकृत करना सम्भव प्रतीत नही होता। आदिम मानव अपने स्वीकृत कर्मकाण्ड मे विचलित नही हो सकता था, क्योकि उनके मूलभूत कारण, जो बाद मे वज्ञानिक विश्लेषण द्वारा खोजे गये तब तक छिपे हुए थे।

विभिन्न समूहो को एक दूसरे के समीप लाने का महती काय वस्तुत उत्पादन के सम्बन्धो यानी आदान प्रदान के द्वारा शुरू हुआ। आदिम समाजो की आरम्भिक अवस्थाओ मे मुक्त वस्तु विनिमय का अस्तित्व नही था, जैसाकि (उदाहरण स्वरूप) उन्नीसवी बीसवी सदियो के सन्धिकाल मे त्रोब्रिआ द्वीप-समूह के आदिवासियो को दखने से भी पता चला। आपस मे बँटवारा करने-वाले सगोत्रीय समूह के बाहर विनिमय का अस्तित्व उपहार के आदान प्रदान के रूप मे था। उपहार हर किसी को नही बल्कि खास रिश्ते के व्यक्तियो को दिया जाता था जिन्हे प्राय 'लेन देन के मित्र' कहा जाता था। उपहार न मागा जाता था न अस्वीकार किया जाता था, न ही इसके बराबर की वस्तु लौटाने के बारे में किसी प्रकार की सौदेबाजी होती थी। परन्तु ऐसा उपहार प्राप्त करनेवाला इस बात के लिए बाध्य होता था कि बाद मे, जब उसके पास कोई अतिरिक्त वस्तु हो तो वह भी बदले मे कुछ दे। कोई हिसाब नही रखा जाता था, फिर भी

आमतौर पर एक कालावधि में सामान्य बराबर हो जाता था। उपहार प्राप्त करनेवाला व्यक्ति यदि अगले अवसर में किसी वस्तु के रूप में उसका मूल्य जिसके बारे में उभय पक्षों में अनकही सहमति रहती थी नहीं चुकाता, तो बिना न किसी प्रकार से अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खो देता था। इन सब बातों से यह अनुमान लगाया गया है कि, टोटेम समूहों में वस्तुओं के इसप्रकार नियमित आदान प्रदान के साथ साथ अन्य व्यक्तियों के आदान प्रदान की, यानी एक प्रकार के 'विवाह सम्बन्ध' की भी शुरुआत हुई। इस प्रकार के आदान प्रदान से बेहतर भोजन मिलने तथा विविध प्रकार की भोजन-सामग्री उपलब्ध हुई और औजार तथा मृदभाण्ड बनाने और इन्हें इस्तेमाल करने के नए तरीके अस्तित्व में आए। साथ ही इन सम्मिलित समूहों की भाषा भी समृद्ध हुई। सभी ज्ञात आदिम भाषाओं का व्याकरण अत्यन्त जटिल रूप में मिलता है। सम्पूर्ण सुमेरी और पिछली भाषा में भी यही बात देखने को मिलती है। आदिम भाषाओं में विशिष्ट वस्तुवाचक शब्दों की अपेक्षा सामान्य अर्थवाचक शब्दों को कम स्थान मिलता है। पशु, वृक्ष आदि सामान्य शब्दों का नितान्त अभाव है परन्तु उनमें प्रत्येक जाति या किस्म के पशु और वृक्ष के लिए शब्द मौजूद हैं। पता चलता है कि रंग (अंग्रेजी में 'कलर') शब्द का मूल अर्थ 'लाल' था जो रक्त का रंग है। इस प्रकार व्यापार-सम्पर्क और आदान प्रदान से भाषा का विकास हुआ। आदमी न केवल भोजन-सामग्री पर नियन्त्रण प्राप्त करके फिर इसके उत्पादन में जुट गया बल्कि यह एक विचारशील प्राणी बनने के मार्ग की ओर भी आगे बढ़ा। विवाह के आदान प्रदान में एक आनुवंशिक लाभ भी है। छोटे मानव-समूहों में प्रायः अन्तःप्रजनन होता है और परिणामतः वे शारीरिक रूप से यौन अथवा मानसिक रूप से अविकसित रह जाते हैं। अन्तर्विवाह (संकरण) से उत्पन्न सन्तति माता पिता से अधिक हृष्ट-पुष्ट होती है। उत्तर हिमयुग में यूरोप में जिस हट्टे कट्टे क्रो-मैग्नन मानव का एकाएक अवतरण हुआ वह सम्भवतः अन्तःप्रजनन से दूर हुए माता पिता के बीच ऐसे संकरण का ही परिणाम था। यहाँ इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि मानव विकास की इस अवस्था पर प्रजाति की धारणा को लादना उपयुक्त नहीं है। दरअसल आम बोलचाल में इस प्रजाति शब्द का इस्तेमाल किसी भी अवस्था के लिए क्वचित् ही उपयुक्त होता है। विलुप्त प्रजातियों का विकास बाद में भिन्न-भिन्न समूहों के एकत्र होने से बढ़ी हुई आबादी के कारण हुआ। भाषा का विकास अधिक तेजी से हुआ।

यह विकास प्रयोग, नियोजन अथवा सोच विचारकर किये गये कार्य का परिणाम नहीं था। जिन समूहों ने आदान प्रदान की इस नयी प्रणाली को अपनाया, उनकी न केवल वृद्धि हुई बल्कि क्षमता भी बढ़ी, शेष समूह नष्ट हो गये। इस

दिशा मे पहला कदम, जो एक द्वन्द्वात्मक उलटाव था, यह था कि प्रत्येक समूह के लिए इसके विशिष्ट खाद्य, टोटेम, को निषिद्ध (टैबू) करार दिया गया। इस निषेध को विशेष ऋतु-समारोहो अथवा मृतका से सम्बन्धित क्रियाकर्मों के अवसरो पर ही तोडा जाता था। टोटेम खाद्य के निषेध के साथ ही टोटेम के भीतर यौन-सम्बन्ध पर भी निषेध लागू हो गया। इस प्रकार अनेक टोटेमी कुला के मेल से कबीला का निर्माण होने लगा। सामान्यत कुल के व्यक्ति को कुल टोटेम खाद्य खाने की और उस टोटेम कुल के भीतर सम्भोग करने की अनुमति नही थी, और वह व्यक्ति कबीले के बाहर 'विवाह' भी नही कर सकता था। वह प्राय ऐसे व्यक्तिया द्वारा तैयार किया गया भोजन स्वीकार नही करता था जो उसके कबीले के न हो। हर कुल मे कुछ ऐसे विशिष्ट अनुष्ठान होते थे जिनसे अन्य सभी कुलो को दूर रखा जाता था। जसे पूरे कबीले की एक भाषा होती थी, उसी प्रकार पूरे कबीले के कुछ सामूहिक अनुष्ठान भी होते थे। छोटे कुल से आगे बढकर जब कबीलाई सगठन अस्तित्व मे आया, तो यह एक ऐसी आदश व्यवस्था बन गयी जिसने अधिकाश मानव-समाजो पर अपनी छाप छोडी है।

२ ३ भारत मे प्रागतिहासिक मानव

अब तक जो बातें कही गयी वे सामान्य स्वरूप की थी। आदिम मानव के जीवन का यह चित्र दुनिया भर के अध्ययनो के विवरणो के आधार पर अनुमान तथा तकबुद्धि से तैयार किया गया है। भारत के बारे मे विशेष कुछ नही कहा गया है, तो इसका कारण यही है कि उपलब्ध जानकारी बहुत कम है। परन्तु यह मानने के लिए कोई कारण नही है कि भारत म आदिम मानव के भौतिक विकास का दौर उपयुक्त दौर से भिन्न रहा है। यदि प्रागैतिहासिक युग म ऊपर सुझाये गये परिवतन हुए है तो भारत के ग्राम्य तथा कबीलाई समाज की कई विशेषताएँ और पुराने सस्कृत ग्रथा की कई गुत्थियाँ स्पष्ट हो जाती हैं, अन्यथा इनकी कोई तकसगत व्याख्या उपलब्ध नही होती।

यहा भारत के प्रागतिहास की दो विशेषताओ पर ध्यान देना जरूरी है। भारतीय उप महाखण्ड म अन्तिम हिमयुग उतना विस्तृत और कठोर नही था जितना कि यूरोप मे। अब आगे भारत की चचा इसे एक ऐसी भौगोलिक इकाई मानकर की जायेगी जिसमे पाकिस्तान और अफगानिस्तान के एक हिस्से का समावेश होता है, और कभी-कभी बमा का भी। इस विस्तार के पीछे किसी राजनीतिक दावे या उद्देश्य की कोई भावना नही है। भारत का उत्तरी भाग जब हिमयुग से प्रभावित था, तो दक्षिणी और दक्षिणी पश्चिमी भाग इससे पूणत मुक्त थे। इस बात की पूरी सम्भावना है कि प्रागैतिहासिक काल मे भारत के पूर्वी भाग मे युन्नान और बर्मा से लोग आये थे। सम्भव है कि आगमन का यह सिलसिला ऐतिहासिक युगो मे भी जारी रहा। इस पूर्वी क्षत्र मे पाये गये पत्थर के

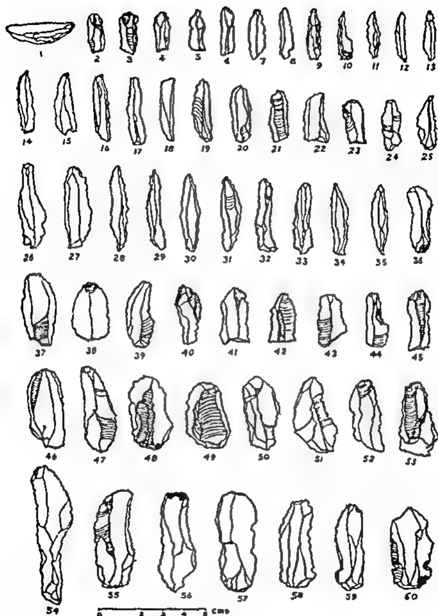
औजार न केवल एक से पत्थरो के हैं बल्कि इनकी बनावट मे भी साम्य है। दूसरे, शिकार अथवा मछली मारने के अलावा खाद्य-सकलन का काम भारत के अधिकाश हिस्सो मे यूरोप अथवा यूरेशिया के अन्य प्रदेशो की अपेक्षा अधिक सुलभ था। जहा यूरोप के मुख्य भोजन के प्राय सभी व्यजन कोई आधा दजन धान्या दालो और सेमा से तयार होते हैं, वहाँ महाराष्ट्र-जसे औसत उवरतावाले प्रात म भी देशज उपज की चालीस से अधिक मुख्य खाद्य वस्तुएँ मिलती हैं, जिनमे स अधिकाश खेती करके प्राप्त की जाती है, परन्तु वन्य स्थिति मे भी मिलती हैं। सभी को जमा करके रखा जा सकता है। इनमे चावल, गेहूँ ज्वार, बाजरा तथा जौ शामिल है, इनके अलावा वनस्पति प्रोटीनवाले कई खाद्य और खान का तेल पदा करनेवाले तिल-जसे बीज भी है। काली मिच और मसाला म भोजन स्वादु बनता है और इनसे विटामिन भी मिलते हैं। किसी भी जीवित प्राणी की हत्या किय बिना सन्तुलित आहार प्राप्त किया जा सकता है, विशेषकर इसलिए भी कि पशुआ को मारे बिना ही दूध दही, मक्खन तथा पनीर और फल तथा सब्जिया मिल जाती हैं। यही वह साधारण तथ्य है जिसके कारण कालातर म भारतीय धम और धमशास्त्र मे अहिंसा के सिद्धात ने क्रान्ति उत्पन्न की। साथ ही, अन्य देशो की अपेक्षा भारत के इतिहासकार का काम अधिक कठिन हो गया। वहाँ लोग खाद्य सकलन की अवस्था म बने रह सकते थे, और रह भी, जब कि उनके एकदम पडोसी कई सदियो पहले खाद्य उत्पादनकर्त्ता बन चुके थे। किसान और आदिवासी लोग, विशेषत दुगम जगली प्रदेशो मे बस हुए लोग, मुख्य खाद्य-वस्तुआ के अलावा सौ से अधिक ऐसी वन्य वस्तुओ को जानत हैं जिनको बिना खेती के ही सकलित किया जा सकता है फल, कडे छिलकेवाले फल तथा बीज, कन्दमूल, मधु, खुमियाँ और पत्तोवाले साग आदि। पुरानी पद्धति के साथ पुराने विश्वास और जीवन के रीति रिवाज भी सदैव जुडे रहते हैं। यही कारण है कि भारत पुरानी जीवन पद्धतिया का एक बडा अजायबघर है। यहा यह बताना कठिन हो जाता है कि पुरानी अवस्था का ठीक किस समय अन्त हुआ और उसके स्थान पर नयी व्यवस्था की शुरुआत कब हुई। सस्कृति के आदान प्रदान का काय दोनो ओर से हुआ। उन्नतावस्थावाले आगन्तुको ने न केवल भारत के सभी प्रदेशो के मूल निवासियो को प्रभावित किया, अपितु इन नवागन्तुका ने भी (असहिष्णु मुसलमानो के पहले) आमतौर पर कुछ देशज ही नहीं बल्कि आदिवासिया के विश्वासो और रीति रिवाजा को भी अपना लिया। एक वास्तविक समाज के गठन के लिए यह आवश्यक है कि एक मानव समुदाय अतिरिक्त उपज और उसके वितरण पर आधारित किसी-न किसी प्रकार के उत्पादन के सम्बन्धो से जुडा रहे। भारत मे ऐसे समाज का गठन और इसकी सस्कृति का सजन—खाद्य-सकलन की सुविधा और निरतरता के कारण—काफी

हद तक धर्म और अंधविश्वासों पर आधारित रहा है। इसलिए यूरोप या अमरीका की तुलना में यहां हिंसा (बल)-प्रयोग आवश्यकता से कम हुआ।

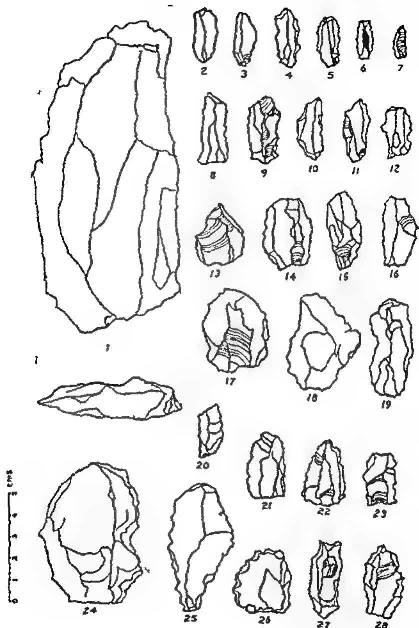
अब हमारे सामने दो मुख्य कार्य हैं प्रागैतिहासिक मानव के बारे में भारत में जितनी कुछ जानकारी मिलती है, उसे प्रस्तुत करना, और आदिम अवशेषों की खोज करते हुए यह दिखलाना कि प्रागितिहास की आधुनिक भारतीय समाज को कितनी देन है।

भारत में प्रागैतिहासिक मानव की खोज के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है, काल निर्धारण की समस्या। दक्षिण में प्रागितिहास तब तक बना रहा, जब उत्तर में ऐतिहासिक साम्राज्यों का उदय हो चुका था। भारत में जो थोड़े-से गुफाचित्र मिले हैं, उनमें ऊपरी स्तरों में सामन्ती युग के युद्धदृश्य देखने को मिलते हैं। नीचे के स्तरों के चित्र कितने पुराने होंगे, इसका कोई ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रागैतिहासिक युग के औजार गढ़नेवाला भारत का मानव, उदाहरणार्थ, सोहन घाटी (पाकिस्तान) का मानव, अपने पत्थरों के औजारों का निर्माण आम-तौर पर लेवालोई पद्धति से टुकड़े टुकड़े गिराकर करता था। यह पत्थरों के औजार बनाने की सबसे पुरानी पद्धति तो नहीं है, पर मोटे तौर पर दूसरी प्राचीन पद्धति अवश्य है। इसका समय (अनुमानतः) ५०,००० से १,००,००० ई० पू० हो सकता है। इस प्रकार के हस्त-कुठार सम्पूर्ण यूरेशिया महाखण्ड में मिले हैं। परन्तु इसके अनुरूप मानव के स्थानान्तरण के बारे में अभी तक कोई जानकारी नहीं मिली है। किन्तु ७००० ई० पू० के आसपास तक छोटे पत्थरों (लघु-पाषाणों) के औजारों के बड़े भण्डार यूरोप से लेकर फिलस्तीन तक मिले हैं। चूंकि इस प्रकार के औजार ईरान और अफगानिस्तान की प्रागैतिहासिक मानव की गुफाओं में भी मिले हैं इसलिए यह सम्भव प्रतीत होता है कि इस पद्धति के भारतीय औजार भी अधिक बाद के नहीं है। परन्तु यह मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि ऐसे लघुपाषाणी औजारों की उत्पत्ति पहले भारत में हुई और फिर शेष यूरेशिया में इनका प्रचलन हुआ।

ये लघुपाषाण पहले पहल बड़े हस्त-कुठारों और खुरचनियों के साथ मिलते है, अतः लगता है कि ये औजार गढ़ते समय छोड़ दिये गये पत्थरों के छोटे टुकड़े हैं। दुनिया के अनेक भागों में मध्यपाषाण युग का विकास इस माने में महत्त्वपूर्ण है कि इसमें लघुपाषाणों के जो बड़े संग्रह मिले हैं उनमें बड़े औजार बिलकुल नहीं हैं (चिकने पत्थरों के औजारों का युग, नवपाषाण युग अथवा उत्तर पाषाण युग बाद में आया)। उदाहरण के लिए, जेरिको के मृत्भाण्ड पूर्व की स्तर की यही स्थिति है। मृत्भाण्डों का अभाव भी विशेष महत्त्व का है। भारत में भी ऐसी मृत्भाण्ड पूर्व शुद्ध लघुपाषाणी 'संस्कृतियाँ' मिली हैं, उदाहरणार्थ, दक्षिण-पूर्वी समुद्र-तट के समीप के बलुआ टिब्बों (जिन्हें स्थानीय भाषा में 'तेरी' कहते हैं) में।



चित्र ४ पुणे जिले के देउलगाँव स्थान से प्राप्त मृत्भाण्ड पूर्व काल के लघुपाषाण। यह स्थान भीमा की एक सहायक नदी के एक प्राचीन मत्स्य-कुण्ड के समीप है, और इस कुण्ड में आज भी मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। ये शल्क अधिकांशतः कलसिडोनी पत्थर के हैं और इनमें से बहुत-से लघुपाषाण संयुक्त औजारों के अंग हैं इन्हें लकड़ी हड्डी अथवा सींग में स्थापित करके तीर चाकू हँसिए आदि बनाये जाते थे। अधिक नुकीले शल्क एक प्रकार के सूए हैं चमड़े या खाल के थैले सीने के लिए इनका इस्तेमाल होता था जो मिट्टी के बर्तनों के अभाव में अनाज भरने के काम आते थे। मोटे तौर पर इन लघुपाषाणों का काल ४००० ई० पू० या पहले का हो सकता है।



चित्र ५ पुणे के समीप के पहाड़ी क्षेत्र में प्राप्त लघुपाषाण। ये अधिकतर खाँचावाले महापाषाणों के पास और पहाड़ी ढलान पर पाये जाते हैं। बनावट में ये कुछ बेढंगे हैं फिर भी जान पड़ता है कि इनका निर्माण पिछले चित्र के लघुपाषाणों के बाद हुआ है। जिन खालों पर इनका इस्तेमाल होता था वे कुछ अधिक मोटी थीं। इनका उपयोग करनेवाले लोग आरम्भिक पशुपालक थे जिनकी इस प्रदेश में कई लहरें आयीं। निश्चय ही नर-देवताओं का सम्बन्ध इनकी अन्तिम लहरों से था।

मोटे तौर पर य तेरी सस्कृतियाँ ४००० ई० पू० अथवा कुछ पहले की मानी जाती हैं। इस प्रकार के काल निधारण की जो विधियाँ ज्ञात हैं उनसे एक हजार वर्षो का आगा पीछा होना सहज सम्भव है। रेडियो-कारबन विधि का अथवा अय किसी परीक्षण का अभी तक कोई उपयोग नही हुआ है। लघुपापाणा का इस्तेमाल करनेवाले इन लोगा ने सुदर कलसिडोनी पत्थर के छाट शल्का और हीरा की अपनी ढेरिया सँकरे पथा पर समूचे पश्चिमी प्रायद्वीप मे छोडी हैं। जहा भारी मात्रा मे लघुपापाण तयार किये गये वे स्थल ऐसी छोटी नदिया के समीप हैं जिनके डबरा मे प्राचीन काल मे मछली मारने की सुविधा थी, हालाकि आधुनिक वनकटाई और भूक्षरण के कारण ये डबर आमतौर पर अब गाद से भर गय हैं। मिट्टी के इसी कटाव मे तटा म दबे हुए पत्थर के औजार साफ दिखायी दत हैं परन्तु आबादी के स्तरो के बारे मे कोई जानकारी नही मिलती। लघुपापाणा का इस्तेमाल करनेवाले य लोग खाद्य सकलन की आरम्भिक अवस्था मे नही थे। उनके औजार जिस रूप मे मिलत हैं उस रूप म उनका इस्तमाल हाना सम्भव नही है। अफ्रीका के बुशमैन आदिवासिया द्वारा प्रयुक्त औजारो से तुलना करन पर स्पष्ट हो जाता है कि भारत म पाये जानेवाले कलसिडोनी के प्रस्तर-खण्ड, जि हे छील छीलकर धारदार खूबसूरत फलको की शक्ल दी गयी है या किनार पर पने दाते निकाले गये है सयोजित औजारो के हिस्से थे। य प्रस्तर खण्ड पेड की गाद या जाडनवाली ऐसी ही किसी अय वस्तु स लकडी, सीग अथवा हड्डा के हत्थो म स्थापित किये जाते थे। यह बात इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि ऐसे औजारा के धारदार सिरे से दूर के कुछ पहलू बदरग हो गये हैं। इस विधि स भाले काटदार मत्स्य भाले, तीर चाकू, हसिये आदि बनाये जा सकते थे। चकमक पत्थर के कुछ ऐसे भी छाटे टुकडे मिल हैं जो वस्तुत हँसिये के दाते हैं और इस बात के सूचक हैं कि अनाज काटने के काम की शुरुआत हो चुकी थी, फिर चाहे वह अनाज बोया हुआ हो, चाहे बीजो के लिए काटी जानेवाली प्राकृतिक घास हो। ये औजार जानवरा की खाल उतारने के लिए, खाल के मास और उसके नीचे के रेशे निकालकर इसे कमाने के लिए बडे उपयुक्त हैं। इसी प्रकार य औजार टोकरियाँ बनाने के लिए काम आनेवाले बासो या अय लचीली टहनिया को फोडन और पकाने के पहले मछलिया को काटने साफ करने के लिए भी उपयुक्त है। पतले और बारीक नोकवाले जो कई प्रस्तर शल्क मिले हैं, वे सूईया या सूए ह जो सम्भवत स्नायु-तन्तुओ का इस्तेमाल करके, खाला को सीने के काम आत थे। अय शब्दो म, मिट्टा के बतन बनने के काफी पहले ही, टोकरिया म और चमडे के थलो मे खाद्य सामग्री को जमा रखने के प्रयास शुरू हो गये थ।

सवथा लघुपापाणी औजारा का इस्तेमाल करनेवाले इन लोगों के साथ दूसरे

(सम्भवत उसी मानव-समूह की शाखाओं में) ऐसे भी लोग थे जिन्होंने बड़े बड़े पत्थरों के, जिन्हें महापाषाण कहते हैं, अम्बार छोड़े हैं। कर्णाटक, आन्ध्र तथा ग्रेनाइट की चट्टानोंवाले प्रदेशों में पाये जानेवाले ये महापाषाण लौहयुग के हैं। महाराष्ट्र (जो दक्षिणी पठार की काली आग्नेय चट्टानों पर बसा हुआ है) में पाये जानेवाले महापाषाण अधिक प्राचीन जान पड़ते हैं, परन्तु ये भी सर्वोत्तम लघु-पाषाणों के बाद के हैं। पश्चिमी दक्खन के अनेक शैल-समूह निसर्ग निर्मित हो सकते हैं, परन्तु इन पर भी गहरे खाँचों के रूप में प्रागैतिहासिक मानव के चिह्न मौजूद हैं। ये खाँचे सिर्फ रगड़ रगड़कर बनाये गये हैं, अथवा इनका अन्तिम रूप तो कम-से-कम घिसने से ही बना है। इन खाँचों को तैयार करने में कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, इसका अनुमान इसी से लग सकता है कि कहीं-कहीं ये खाँचे चार सेंटीमीटर गहरे हैं। ये पाषाण इतने सख्त हैं कि इन पर इस्पात के आधुनिक औजारों की धार भी मर जाती है। कहीं-कहीं पर तो तीन टन से भी अधिक भारी चट्टानों को खिसकाकर दूसरी चट्टानों पर रख दिया गया है। इससे जाहिर होता है कि महापाषाण खड़े करनेवाले इन लोगों के पास इतना समय और इतना नियमित अतिरिक्त खाद्य था, कि वे लम्बे समय तक काफी कड़े शारीरिक श्रम की माँग करनेवाले इन स्मारकों को बना सकें। ऐसे शैल-समूह और शैल-खाँचे हजारों की संख्या में मिले हैं, जिससे पता चलता है कि इनके निर्माण का कार्य न केवल कई वर्षों तक बल्कि कई सदियों तक निरन्तर जारी रहा होगा। परन्तु इनका निर्माण किस लिए हुआ है, यह स्पष्ट नहीं है। सादे वृत्ताकार या अण्डाकार खाँचों के अलावा किसी विशिष्ट आकार के खाँचे क्वचित् ही मिलते हैं। इन खाँचों में किसी मानव या पशु या पेड़ की आकृति को भी पहचाना नहीं जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि ये टेढ़े मेढ़े खाँचे मानव के हाथों से ही बने हैं ये निसर्ग निर्मित नहीं हैं। यह सम्भव जान पड़ता है कि महापाषाण संस्कृतिवाले इन लोगों के पास कुछ पालतू पशु भी थे। इनके शिलाखण्डों के अम्बारों में जो लघुपाषाण मिले हैं, वे निश्चय ही उन लघुपाषाणों से आमतौर पर मोटे हैं जो मत्स्य कुण्ड या पड़ावस्थल के समीप मिले हैं। इन दो पाषाण-प्रकारों के क्षेत्रों के बीच में प्रायः एक स्पष्ट सीमारेखा होती है। कभी-कभी दोनों ही पाषाण प्रकार नदी के केवल एक ही तट की ओर दिखायी देते हैं और इनमें मोटे लघुपाषाण हमेशा ही महापाषाणों के समीप मिलते हैं। परन्तु यह स्थिति किसी भी ज्ञात नदी की पूरी लम्बाई पर लागू नहीं होती। इस सबसे यह जाहिर होता है कि महापाषाण खड़े करनेवाले और उन पर खाँचे बनाने वाले लोगों को अधिक मोटी खालों से काम पड़ता था, और इसलिए उनके पास पशु थे। 'पतले लघुपाषाणों' का इस्तेमाल करनेवाले लोगों का सरोकार पतली चमड़ी वाले प्राणियों से ही रहा होगा, जैसे, हिरन, भेड़, बकरी, खरगोश, मछली, पक्षी

आदि। इन दो पाषाण प्रकारोंवाले मानव समूहों के एक दूसरे से किस प्रकार के सम्बन्ध थे यह स्पष्ट नहीं है। किसी प्रकार के आरम्भिक संघर्ष के भी प्रमाण नहीं मिलते। यह भू भाग ऐसा है कि कुछ अपवादात्मक स्थानों को छोड़कर कहीं पर भी स्तरीय अवशेष नहीं मिल सकते। अर्थात, आज जहाँ भी मिट्टी की सबसे मोटी परत है वह अधिक ऊँचे स्थानों से बहकर आयी हुई मिट्टी है और हल की जुताई से समतल हो गयी है। मिट्टी की मोटी परत उन स्थानों पर भी जमा हो गयी है जहाँ प्रागैतिहासिक काल में दलदल और घने जंगल रहे होंगे। सामान्यतः ये ऐसे स्थान थे जहाँ प्रागैतिहासिक मानव को औजार बनाने के लिए न खुले पत्थर मिल सकते थे न ही पड़ाव के लिए उपयुक्त स्थल। पुराने पड़ाव-स्थलों में अब बहुत थोड़ी मिट्टी शेष है जिसका कारण केवल भूक्षरण ही नहीं बल्कि यह भी है कि घने जंगलों और खतरनाक जंगली जानवरों से दूर सूखे स्थलों को चुनना एक मूलभूत आवश्यकता थी। स्थायी निवास का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। ऐसी अधिकतर स्थितियों में स्तरीय अवशेष प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं है।

ये दोनों पाषाण संस्कृतियाँ विशेष महत्व की हैं क्योंकि इनकी निरन्तरता ऐतिहासिक युग में भी देखने को मिलती है। हम दिखायेंगे कि ईसा पूर्व छठी सदी में, स्थानीय लौहयुग के अन्तर्गत, पश्चिमी दक्खन में कृषि का तेजी से विकास हुआ, परन्तु इसके पहले नहीं। दक्खन में कोई उल्लेखनीय ताम्रयुग नहीं रहा। इक्के दुक्के स्थलों में, जैसे कि महेश्वर (ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ-काल) में, काँसे का एकाध औजार मिल जाता है, परन्तु अधिवास में लम्बा व्यवधान देखने को मिलता है। महापाषाण संस्कृतिवाले लोगों के कई दल आये, जो सम्भवतः (भीमा, कृष्णा तुंगभद्रा गोदावरी) नदियों की घाटियों में लम्बी अवधि तक धीरे धीरे ऊपर-नीचे सरकते रहे। इसके अलावा, पानी और बेहतर चरागाहों के लिए उनका अल्पकालीन मौसमी स्थानान्तरण भी जारी रहा। यह मौसमी स्थानान्तरण ऋतु प्रवास कहलाता है, और इसका सम्पूर्ण दायरा दूरव्यापी देशान्तरण की तुलना में काफी सीमित रहता है। स्पष्ट है कि महापाषाण और लघुपाषाण, दोनों ही संस्कृतियों के लोग दोनों प्रकार के स्थानान्तरण के आदी थे। मानसून की शुरुआत होने पर लम्बी अवधि की नमी से भेड़ों के खुर सड़ने लग जाते हैं। शिकार नदी के साथ-साथ पूर्व के सूखे प्रदेश की ओर चला जाता है। मानसून के महीनों के बाद पुनः वापिस लौटने में सुविधा होती है क्योंकि वर्षा के अनन्तर पुनः घास उग आती है और जंगल हरे भरे हो जाते हैं। इस प्रकार पश्चिम की ओर आगे बढ़ते-बढ़ते ही आदिम मानव समुद्रतट के नमक के अधिकाधिक समीप पहुँच गया होगा। खुदाई में समुद्रतट के पास कुछ प्रागैतिहासिक स्थल मिले हैं जो सम्भवतः नमक जमा करने के लिए डाले गये

पड़ाव है। दक्खन का ऊँचा कगार ५०० मीटर या इससे अधिक ऊपर उठा हुआ है, समुद्रतट से इसकी दूरी ५० किलोमीटर या इससे भी कुछ कम है, और इसमें कुछ दर्रे भी हैं। ये दर्रे कालान्तर में व्यापारी मार्गों के काम आये। पठारी प्रदेश की भाँति समुद्रतट के पास भी कभी कभी पत्थर के छल्ले मिल जाते हैं, जो खंता को अधिक भारी बनाने के काम आते थे। इससे जाहिर होता है कि, अधिक उपजवाली हल की खेती तो नहीं, परन्तु आदिम पद्धति की खेती अवश्य होती थी, और यह केवल स्त्रियों का ही काम था। इस समुद्रतट के समीप की पर्वत-श्रेणी पर ये सब सुविधाएँ उपलब्ध हुई—मवेशी, नमक, समुद्रतट तक पहुँचने के मार्ग, पत्थर के औजार, आग पर नियन्त्रण और विविध प्रकार की प्राकृतिक उपज (शिकार और वनस्पति)। इस प्रकार दक्खन में इतिहास की शुरुआत के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो गयी, और इसकी वास्तविक शुरुआत तब हुई जब यहाँ के मूल निवासियों ने आग का इस्तेमाल करके 'लोहित धरा' से लोहा प्राप्त करने की विधि सीख ली। लोहा बनाने की मूल प्रेरणा और इसकी विधि उत्तर से आयी, यह बात आगे जाकर स्पष्ट होगी। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि दक्खन के इन आरम्भिक पशुचारी लोगों का उत्तर भारत के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध था या नहीं। उनके पदचिह्न समूचे प्रायद्वीप में दक्षिण की प्रमुख नदियों की घाटियों में ऊपर नीचे सर्वत्र मौजूद हैं। अन्त में आनेवाले मानव समुदायों ने महापाषाण वाले पूजा-स्थलों को अपना लिया, और आज भी ग्रामवासी यहाँ के देवताओं की पूजा करते देखे जा सकते हैं। परन्तु जिन पशुपालक लोगों (गवलियों) ने इन वर्तमान देवों को स्थापित किया है वे इन पुराने महापाषाणों के निर्माता नहीं थे, इन्होंने चट्टानों पर खाँचे बनाकर इन महापाषाणों के अवशेषों का अपने पूजा-स्थलों के लिए अथवा स्तूप नुमा शवाधानों के लिए सिर्फ पुनः उपयोग ही किया है। उनका पुरुष देवता, जो बाद में म्हसोबा या इसी कोटि का कोई देवता बन गया, आरम्भ में पत्नी रहित था और कुछ समय के लिए खाद्य सङ्कलनकर्ताओं की अधिक-प्राचीन मातृदेवी से उसका संघर्ष भी चला। परन्तु जल्दी ही इन दोनों मानव-समूहों का एकीकरण हुआ और फलस्वरूप इनके देवी-देवता का भी विवाह हो गया। कभी-कभी किसी ग्रामीण देवस्थल में महिषासुर-म्हसोबा को कुचलनेवाली देवी का दृश्य दिखाई देता है, तो ४०० मीटर की दूरी पर वही देवी, थोड़ा भिन्न नाम धारण करके, उसी म्हसोबा की पत्नी के रूप में दिखाई देती है। यही देवी ब्राह्मण धर्म में शिव पत्नी पार्वती के रूप में प्रकट हुई है, जो महिषासुर मर्दिनी है। कभी कभी यह अपने पुराने रूप में लौटकर शिव का भी मर्दन करती है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि सिन्धु सभ्यता की एक मुहर पर त्रिमुखवाले जिस आदिरूप शिव की आकृति उकेरी हुई है उसके सिर के टोप पर भी भैंस के सींग हैं।

प्रागैतिहासिक काल के ये अवशेष, जो उत्पादन के साधना और धार्मिक अधिरचना, दोनो को ही प्रभावित करते हैं, हाल के वर्षों मे ही ठीक से पहचाने गये हैं। प्रागैतिहास के ऐसे विचित्र अवशेष और इसका ऐसा विस्तार, यहा तक कि ऐतिहासिक युग के लम्बे विकास के दौर मे भी, किसी भी अन्य देश से इतना सुस्पष्ट नही है। भारत के इतिहास और समाज की यही खास विशेषता है। विकास के दौर ने आज के सश्लिष्ट भारतीय समाज पर अपनी स्पष्ट और अमिट छाप छोडी है।

२ ४ उत्पादन के साधनो मे आदिम अवशेष

भारत मे प्रागैतिहासिक मानव एक सभ्य मानव मे कैसे विकसित हुआ, यह कैसे जाना जा सकता है? एक विधि, जिसका इस्तेमाल हुआ है, मानवमिति है, जिसमे ऊँचाई, वजन, खोपडी का आकार व ढाचा, नाक की लम्बाई चौडाई, त्वचा, आँखो तथा बालो का रग आदि शारीरिक विशेषताओ का मापन होता है। परन्तु इस विधि से कोई उल्लेखनीय परिणाम प्राप्त नही होते। प्रागैतिहासिक मानव की बहुत थोडी हड्डिया मिली हैं। मानवमितीय विशेषताएँ (जिनमे मुखाकृति के प्रकारो का भी समावेश होता है) बदलती रहती हैं और इस बात पर निर्भर करती हैं कि कुछ पीढियो तक जीवन-पद्धति निश्चित रूप से बेहतर रही है या निश्चित रूप से बदतर। आज भारत मे जो आदिवासी लोग हैं वे, आसपास की आबादी से उनके सम्मिश्रण को यदि ध्यान मे रखा जाय तो, पहली नजर मे कमजोर और शारीरिक दृष्टि से अविकसित जान पडते हैं। परन्तु सबको एक ही शारीरिक प्रकार मे सम्मिलित नही किया जा सकता। यह मानने के लिए पर्याप्त कारण मौजूद हैं कि, ऐसे आदिम प्रकार सामान्यत अस्थायी होते हैं। बेहतर भोजन मिले और खेतो मे नियमित रूप से काम करना पडे, तो कुछ पीढियो बाद आदमी के कद और शरीर गठन मे परिवर्तन हो जाता है। भारत मे ऐसे जो मानवमितीय तथ्य एकत्र किये गये हैं, उनके सांख्यिकीय विश्लेषण से पता चलता है कि आदमी की लम्बाई के साथ-साथ उसके कपाल माप और मुखरूप (नासा सूचकाक) भी बदल जाते हैं।

इस अवस्था मे अध्ययन के लिए भाषा-सम्बन्धी अनुसन्धान से और भी कम सहायता मिलती है। भारत मे करीब एक दजन प्रमुख भाषाएँ और कमोबेश महत्व की कोई ७५३ बोलियाँ हैं। इन्हे प्राय तीन भाषा-परिवारो मे बाँटा जाता है (१) उत्तर और पश्चिम की भाषाओ का इन्दो-आर्य परिवार, जिसमे पजाबी, हिन्दी (जिसमे राजस्थान और बिहार की बोलियाँ भी शामिल हैं), बगला, गुजराती, मराठी और उडिया का समावेश होता है, (२) दक्षिण की द्रविड भाषाए तेलुगु, तमिल मलयालम, कन्नड और तुलु, (३) ऑस्ट्रो एशियाई भाषा-परिवार, जिसमे अधिकाश आदिम भाषाओ को मनमर्जी से ठूस

दिया जाता है मुडारी, उराव, सथाली आदि। मान्यता यह भी कि इन आदिवासियो को द्रविडो ने दूर-दराज के जगलो मे ढकेल दिया और बाद मे आर्यों ने द्रविडो को भी दक्षिण की ओर भगा दिया। आर्य आक्रमण एक सुप्रमाणित ऐतिहासिक तथ्य है। बाकी सब सदिग्ध अनुमान मात्र है। सोवियत मध्य एशिया से ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के स्तर मे द्रविड प्रकार की जो एक खोपडी मिली है, वह उस वातावरण के लिए विरली ही है। उत्तर-पश्चिम मे ब्राहुई भाषा का अस्तित्व आर्यभाषियो के बीच मे द्रविड भाषा के एकाकी 'द्वीप' जैसा है। यह सम्भव है कि ब्राहुई भाषा बोलने वाले लोग ऐतिहासिक काल मे उस क्षेत्र मे पहुच गये हो, क्योकि ईसा की ग्यारहवी सदी तक द्रविड लोग भारी सख्या मे उत्तर की ओर जाते रहे। भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण इस बात पर कोई ध्यान नही देता कि आजीविका की दशा का भाषा पर क्या प्रभाव पडता है। जैसाकि निष्पक्ष अनुसधान से ज्ञात होता है, भारत की सभी आदिम भाषाएँ एक ही भाषा-परिवार की नही है। असम मे, जहा हर घाटी म भिन्न भिन्न भाषाएँ बोलने वाले कई कबीले हैं, भाषाओ या प्रमुख बोलियों की सख्या १७५ से ऊपर पहुच जाती है, जिसमे से अधिकाश ऐसी आदिम कबीलाई बोलिया हैं जिन्हे न तो मुडारी के साथ जोडा जा सकता है, न ही किसी एक भाषा-परिवार मे रखा जा सकता है। यह भी नही माना जा सकता कि असम के इन लोगो को द्रविडो ने यहाँ ढकेल दिया है। इस बात को यह कहकर नजर-अन्दाज कर दिया जाता है कि असम असली भारत का अग नही है। भारत के आदिम निवासियो को (हमे बताया जाता है) द्रविडो ने ही जगलो मे ढकेल दिया और उवर भूमि पर अधिकार जमा लिया। परन्तु वास्तविकता यह है कि, यह उवर भूमि लौहयुग के पहले घने जगलो और दलदलो से घिरी हुई थी। आदिम मानव की जीविका के लिए आजकल के गहरी जोत वाले क्षेत्र नही बल्कि सीमावर्ती विरल जगल वाले क्षेत्र ही अधिक उपयुक्त थे। अर्थात्, अन्न सकलनकर्त्ताओ के लिए सबसे बेहतर क्षेत्र करीब-करीब वही थे जहाँ वे आज बसे हुए हैं। प्रारम्भिक पशुपालको और अन्न उत्पादको को किसी को भी खदेडने की आवश्यकता नही थी। अन्त मे, यद्यपि द्रविड लोग आर्यभाषियो से रग मे आमतौर पर अधिक काले है, परन्तु इससे भाषा का प्रजाति से सम्बन्ध होने की कोई सम्भावना नही है। आधुनिक मानव विज्ञान के अनुसधानो की जहाँ तक मुझे जानकारी है, ब्राहुई भाषा बोलने वाले द्रविड प्रजाति के नही है।

अत अध्ययन के लिए शेष बचते हैं तो केवल औजार और उत्पादन के सम्बन्ध, इनमे से प्रथम की तुलना प्रागैतिहासिक अवशेषो से की जा सकती है। भारत मे अब ऐसे कोई कबीलाई लोग नही बचे हैं जो पत्थर के तीर फलक, हस्त-कुठार या आम इस्तेमाल के लघुपाषाण बनाते हो, ताकि प्रागैतिहासिक औजारो

से इनकी तुलना की जा सके। पश्चिमी घाट के कटकरी आदिवासी बताते हैं कि कुछ पीढ़िया पहले के उनके पूवज कुछ भोडे प्रकार के पत्थर के तीर फलक बनाते थे। परन्तु आज उनका काई भी वशज ऐसे तीर फलक नही बना सकता, न ही अपने पूवजो का ऐसा कोई तीर फलक दिखा सकता है। अन्दमान द्वीप-समूह के आदिवासी जब अग्रेजो के सम्पक मे आये तो वे काँच की बोतलो से शल्कल बनाने लगे, क्योकि काँच के टुकडे किसी भी पत्थर से अधिक तेज धारवाले हाते हैं। सवत्र आम इस्तेमाल के औजारो के लिए जल्दी ही धातु का उपयोग होने लगा। जहा लघुपाषाणो का आज भी इस्तेमाल होता है, ऐसे एक ही अपवाद की मुझे जानकारी है। दक्खन और मध्य भारत के धनगर (पशुपालक) जाति के लोग मेढो और बकरो के बधियाकरण के लिए आज भी कैलसिडानी के सद्य निर्मित शल्कलो का इस्तेमाल करते हैं। अनगढ होने पर भी इन्हे हमें लघुपाषाणी औजार ही मानना होगा। प्रागैतिहासिक काल मे इनके निर्माण की विधियाँ बडी विकसित थी, परन्तु आधुनिक धनगर प्रागैतिहासिक लघुपाषाणो को शिल्पवस्तुएँ अथवा औजार नही मानते। पत्थर के चाकू का आज भी इस्तमाल होता है, इसका कारण यह है कि ताजे छीले हुए पत्थर के घाव आसानी से दूषित नही होते, जबकि जीवाणु रहित न बनाये गये धातु के चाकू से घाव के दूषित होने की काफी सम्भावना रहती है। एक बार की शल्यक्रिया के बाद पत्थर के उस टुकडे को फेंक दिया जाता है। (धातु का आम प्रचलन हो जाने पर भी यहूदी लोग खतना करने के लिए पत्थर के चाकू का ही इस्तेमाल करते रहे, इसका व्यावहारिक कारण सम्भवत यह था कि इसमे सदूषण की सम्भावना कम रहती थी। लेकिन धार्मिक अनुष्ठानो का झुकाव हमेशा ही रूढिवाद की ओर होता है। लोहे और इस्पात का आम इस्तेमाल होता था, फिर भी प्राचीन रोमन लोग पशुबलि के लिए पत्थर के कुल्हाडो और कासे के छुरो का ही इस्तेमाल करते थे।)

धनगर ज्यादातर खानाबदोश गडरिये हैं। करीब ३५० भेडा को लेकर काई एक दजन आदमियो का जत्था (वाडी) साल के अधिक समय तक लगातार स्थानान्तरण करते हुए चार महीनो के अस्थायी वर्षावास के लिए एक स्थान पर लौट आता है। यदि इस स्थान पर अधिक वर्षा होती है, तो वह मानसून शुरू होने पर पूव की ओर और आगे बढ जाता है। पुरुष भेडा को चराते हैं और उनकी देखभाल करते हैं। स्त्रिया अपने कुछ भाडे बरतनो ऊनी तन्तुओ और बच्चा को टट्टुओ पर लादकर सीधे अगले पडाव पर पहुँच जाती हैं। ये धनगर अब खेती मे सहयोग देते हैं। इनका मुख्य खाद्य साधन भेड का मास या जगल से जमा की गयी चीजें नही हैं, बल्कि वह अनाज (या पसा) है जो उन्हे उन किसाना से प्राप्त होता है जिनके खेतो पर करार के अनुसार वे दो तीन राता के लिए अपनी भेडें रुकवाते है। भेडो की मगनी का खाद बनता है और उपज बढती है। य

जिनसे इन्होंने पशुपालन सीखा था। यह एक स्वाभाविक परिणाम है जब दो सम्कृतियो का मिलन होता है तो जिस सस्कृति की उत्पादन प्रणाली श्रेष्ठतर होती है उसकी भाषा अक्सर दूसरी सस्कृति पर हावी हो जाती है। माना जाता है कि भीलो के आश्रित नहाल कबीले के लोगो पर जिनकी किसी समय अपनी स्वतन्त्र भाषा थी, ऐसा ही प्रभाव पडा है। कबीलाई भीलो की एक खास विशेषता यह है कि इन्होने आवश्यकता पडने पर पूरे ऐतिहासिक युग मे लडाइया लडी हैं, यद्यपि ये योद्धाओ के रूप मे नियमित रूप से सगठित कभी नही रहे। जान पडता है कि कुछ भील ईसा पूर्व पहली सदी मे मालवा के आस पास राजा भी बन गये थे, परन्तु इनका राजवश जल्दी ही नष्ट हो गया। कबीलाई गोड लोग कुल मिला कर आज भी आदिम अवस्था मे हैं, परन्तु इनमे से कुछ अन्य लोग सामन्ती युग मे राजा भी बने हैं। ऐसे राजगोड आज भी मौजूद हैं और अपने को अन्य गोडो से पृथक् और उच्चतर मानते हैं। नीलगिरि के टोडा आदिवासी पर्यटको और नृतत्त्ववेत्ताओ के लिए आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गये हैं। सबसे आदिम अवस्था वाले चेंचु लोगो ने अपनी मूल भाषा त्याग दी है (यद्यपि वे अब भी मुख्यत खाद्य-सकलन की अवस्था मे हैं) और अब तेलुगु से मिलती जुलती भाषा बोलते हैं, जो परिवेश के अन्न उत्पादक किसानो की भाषा है। अन्य शब्दो मे, ऐसे सभी अध्ययनो से सिद्ध होता है कि अधिक सक्षम उत्पादक-समुदायो के सम्पर्क मे आने पर आदिम समाज बडे प्रभावित होते हैं। नागालैण्ड की मौजूदा समस्या है कि कुछ नागाओ ने तो आधुनिक पूजीवादी शिक्षा प्राप्त कर ली है, परन्तु अधिकाश नागा नही चाहते कि वे दबदबे मे रहकर एक असहाय किसान का जीवन अपनायें, जो कि अतीत और वर्तमान के भारत की एक विशेषता है। नागाओ की पृथक राज्य की माँग (जो हाल ही मे मान ली गयी है) या पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग का मूलाधार यह है कि उनमे हल की खेती और पूजीवादी सम्पत्ति के अभाव के कारण अब भी कबीलाई एकता के अवशेष मौजूद हैं, और यह इस कारण भी है कि अन्न-उत्पादक समाज के अनधिकार प्रवेश के खिलाफ सशस्त्र सघर्ष करने की उनमें लम्बी परम्परा रही है।

अधिकाश पर्यवेक्षक इस बात पर ध्यान नही देते कि पारस्परिक सम्पर्क से कबीलाई लोगो का भी भारतीय किसानो पर, और उच्च वर्ग के लोगो पर भी, प्रभाव पडा है। कबीलाई लोग आमतौर पर खेती की भूमि बदलते रहते हैं। एक सीमित क्षेत्र म आग लगा दी जाती है या उसकी झाडियाँ काटकर फिर आग लगा दी जाती है। फिर राख म कुछ बीज बिखर दिये जाते हैं। कभी-कभी खतो (मराठी खोंदा) स जमीन म गड्ढे बनाकर उनम बीज डाल दिये जाते हैं। जमीन बडी जल्दी अनुवर हो जाती है। दो साल मे ही नये क्षेत्र साफ करने पडते हैं और पुराना को नयी झाडियाँ और पेड उग आने के लिए छह से दस साल तक परती छोड

दिया जाता है। वस्तुत इसी प्रकार की खेती से देश के अधिकाश आदिवासी अन्न पैदा करते है। जैसे, पश्चिमी घाट के गावडा, और हो, उरांव, सथाल, कोलटा आदि। ऐसी खेती से उतने लोगो का भरण पोषण नही होता, जितना कि नियमित खेती से सम्भव है। परन्तु हल की खेती के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता होती है भूमि को समतल बनाना होता है, पहाडी ढलान पर सीढीदार पट्टिया तैयार करनी होती हैं, पत्थर हटाने होते हैं, जगल और ठठ साफ करने होते हैं और नियमित रूप से खाद का उपयोग करना होता है। इस सब का मतलब है हल की खेती और उसके लिए आवश्यक पशु तथा औजार। इसका प्राय यह भी अथ होता है कि भूमि को निश्चित खण्डो मे बाँटकर उस पर व्यक्तिगत अधिकार हो जाये, जिससे अन्तत अधिक अन्न उपजने पर आबादी बढती है और फलत वग भेद पैदा हो जाते हैं। इसके बावजूद, ऐसे अनेक खेतिहर देहात भी है (जैसे महाराष्ट्र म, जहा से परिचित होने के कारण मैंने अधिकाश उदाहरण लिये है) जहा के किसान हल की खेती के साथ साथ काटकर और जलाकर की जानेवाली आदिम पद्धति की खेती भी करते हैं। जसाकि स्वाभाविक है, ऐसी खेती गाँव की उस पडती जमीन मे की जाती है जो सामान्यत पहाडी की ऊँचाई पर होती है और जिस पर सीढीदार खेत तयार करना सम्भव नही होता, क्योकि तह म बैसल्ट की कठोर चटटानें होती है और ढाल खडा होता है। धान की पौध के लिए भी क्यारियाँ एक ऐसे तरीके से तैयार की जाती है कि स्पष्ट पता चलता है कि इसका उदगम काटने जलाने की पद्धति से हुआ है। इन क्यारिया म खाद, मिटटी, भूसा और जगल मे बटोरी गयी पत्तिया फैला दी जाती है। इन सब के मिश्रण को इतना भर सूखने दिया जाता है कि पत्तियाँ जल सकें, परतु तेजी से न जलें इसलिए इन्हे कुछ गीला किया जाता है, और तब आग लगा दी जाती है। आग सुलगती रहती है, और इस प्रकार नन्हे अकुरो के लिए आवश्यक रसायन मिट्टी मे तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार तैयार की गयी क्यारियो मे पहली वर्षा के समय ही चावल के बीज बो दिये जाते है। धान को रोपने के बाद ये क्यारिया खाली छोड दी जाती हैं। तब किसान जमीन के इन छोट टुकडो मे दालो और साग-सब्जियो के बीज रोप देता है, इनके बिना केवल चावल से उसे पूरा सतुलित आहार नही मिल सकता। इसी प्रक्रिया से बदल-बदलकर फसल बोने की पद्धति का आविष्कार हुआ और अच्छी खेती के लिए इस पद्धति का बडा महत्त्व है।

कुछ भारतीय किसान और पहाडो मे बसे हुए अनेक आदिवासी आज भी पौधे रोपने के लिए थोबा खती का इस्तेमाल करते हैं। प्रागैतिहासिक खतिया से य खतियाँ इस माने म भिन्न है कि अब इनमे पत्थर के ककण डालकर इन्हे भारी नही बनाया जाता। आदिम खतियाँ जहाँ कोहनी तक लम्बी होती थी, वहाँ आधुनिक खतिया की ऊँचाई छाती तक पहुचती है। इसलिए ये अधिक भारी और

जिनसे इन्होंने पशुपालन सीखा था। यह एक स्वाभाविक परिणाम है जब दो संस्कृतियों का मिलन होता है तो जिस संस्कृति की उत्पादन प्रणाली श्रेष्ठतर होती है उसकी भाषा अक्सर दूसरी संस्कृति पर हावी हो जाती है। माना जाता है कि भीलों के आश्रित नहाल कबीले के लोगों पर जिनकी किसी समय अपनी स्वतन्त्र भाषा थी, ऐसा ही प्रभाव पड़ा है। कबीलाई भीलों की एक खास विशेषता यह है कि इन्होंने आवश्यकता पड़ने पर पूरे ऐतिहासिक युग में लड़ाइयाँ लड़ी हैं, यद्यपि ये योद्धाओं के रूप में नियमित रूप से संगठित कभी नहीं रहे। जान पड़ता है कि कुछ भील ईसा पूर्व पहली सदी में मालवा के आस पास राजा भी बन गये थे, परन्तु इनका राजवंश जल्दी ही नष्ट हो गया। कबीलाई गोंड लोग कुल मिलाकर आज भी आदिम अवस्था में हैं, परन्तु इनमें से कुछ अन्य लोग सामन्ती युग में राजा भी बने हैं। ऐसे राजगोंड आज भी मौजूद हैं और अपने को अन्य गोंडों से पृथक और उच्चतर मानते हैं। नीलगिरि के टोडा आदिवासी पर्यटकों और नृतत्ववेत्ताओं के लिए आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गये हैं। सबसे आदिम अवस्था वाले चेंचु लोगों ने अपनी मूल भाषा त्याग दी है (यद्यपि वे अब भी मुख्यत खाद्य-संकलन की अवस्था में हैं) और अब तेलुगु से मिलती जुलती भाषा बोलते हैं, जो परिवेश के अन्न उत्पादक किसानों की भाषा है। अन्य शब्दों में, ऐसे सभी अध्ययनों से सिद्ध होता है कि अधिक सक्षम उत्पादक-समुदायों के सम्पर्क में आने पर आदिम समाज बड़े प्रभावित होते हैं। नागालैण्ड की मौजूदा समस्या है कि कुछ नागाओं ने तो आधुनिक पूँजीवादी शिक्षा प्राप्त कर ली है, परन्तु अधिकांश नागा नहीं चाहते कि वे दबदबे में रहकर एक असहाय किसान का जीवन अपनायें, जो कि अतीत और वर्तमान के भारत की एक विशेषता है। नागाओं की पृथक राज्य की माँग (जो हाल ही में मान ली गयी है) या पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग का मूलाधार यह है कि उनमें हल की खेती और पूँजीवादी सम्पत्ति के अभाव के कारण अब भी कबीलाई एकता के अवशेष मौजूद हैं, और यह इस कारण भी है कि अन्न-उत्पादक समाज के अनधिकार-प्रवेश के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष करने की उनमें लम्बी परम्परा रही है।

अधिकांश पर्यवेक्षक इस बात पर ध्यान नहीं देते कि पारस्परिक सम्पर्क से कबीलाई लोगों का भी भारतीय किसानों पर, और उच्च वर्ग के लोगों पर भी, प्रभाव पड़ा है। कबीलाई लोग आमतौर पर खेती की भूमि बदलते रहते हैं। एक सीमित क्षेत्र में आग लगा दी जाती है या उसकी झाड़ियाँ काटकर फिर आग लगा दी जाती है। फिर राख में कुछ बीज बिखेर दिये जाते हैं। कभी-कभी खूँटी (मराठी खोंडा) से जमीन में गड्ढे बनाकर उनमें बीज डाल दिये जाते हैं। जमीन बड़ी जल्दी अनुर्वर हो जाती है। दो साल में ही नये क्षेत्र साफ करने पड़ते हैं और पुरानी को नयी झाड़ियाँ और पेड़ उग आने के लिए छह से दस साल तक परती छोड़

दिया जाता है। वस्तुत इसी प्रकार की खेती से देश के अधिकाश आदिवासी अन्न पैदा करते है। जैसे, पश्चिमी घाट के गावडा, औरहा, उराव, सथाल, कोलटा आदि। ऐसी खेती से उतने लोगो का भरण-पोषण नही होता, जितना कि नियमित खेती से सम्भव है। परन्तु हल की खेती के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता होती है भूमि को समतल बनाना होता है, पहाडी ढलान पर सीढीदार पट्टिया तयार करनी होती है, पत्थर हटाने होते हैं, जगल और ठठ साफ करने होते हैं और नियमित रूप से खाद का उपयोग करना होता है। इस सब का मतलब है हल की खेती और उसके लिए आवश्यक पशु तथा औजार। इसका प्राय यह भी अथ होता है कि भूमि को निश्चित खण्डो मे बाटकर उस पर व्यक्तिगत अधिकार हो जाय, जिससे अन्तत अधिक अन्न उपजने पर आबादी बढती है और फलत वर्ग-भेद पैदा हो जाते हैं। इसके बावजूद, ऐसे अनेक खेतिहर देहात भी है (जसे महाराष्ट्र मे, जहा से, परिचित होने के कारण, मैंने अधिकाश उदाहरण लिये है) जहा के किसान हल की खेती के साथ-साथ काटकर और जलाकर की जानेवाली आदिम पद्धति की खेती भी करते है। जैसाकि स्वाभाविक है, ऐसी खेती गाँव की उस पडती जमीन मे की जाती है जो सामान्यत पहाडी की ऊँचाई पर होती है और जिस पर सीढीदार खेत तैयार करना सम्भव नही होता, क्योंकि वहा म बैसल्ट की कठोर चटटानें होती हैं और ढाल खडा होता है। धान की पौध के लिए भी क्यारिया एक ऐसे तरीके से तैयार की जाती है कि स्पष्ट पता चलता है कि इसका उद्गम काटने जलाने की पद्धति से हुआ है। इन क्यारियो मे खाद, मिटटी, भूसा और जगल मे बटोरी गयी पत्तिया फला दी जाती है। इन सब के मिश्रण को इतना भर सूखने दिया जाता है कि पत्तिया जल सकें, परन्तु तेजी से न जलें इसलिए इन्हे कुछ गीला किया जाता है और तब आग लगा दी जाती है। आग सुलगती रहती है, और इस प्रकार नन्हे अकुरो के लिए आवश्यक रसायन मिट्टी मे तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार तैयार की गयी क्यारियो मे पहली वर्षा के समय ही चावल के बीज बो दिये जाते है। धान को रोपने के बाद ये क्यारिया खाली छोड दी जाती हैं। तब किसान जमीन के इन छोटे टुकडो मे दालो और साग-सब्जियो के बीज रोप देता है, इनके बिना केवल चावल से उसे पूरा सन्तुलित आहार नही मिल सकता। इसी प्रक्रिया से बदल-बदलकर फसल बोने की पद्धति का आविष्कार हुआ और अच्छी खेती के लिए इस पद्धति का बडा महत्त्व है।

कुछ भारतीय किसान और पहाडो मे बसे हुए अनेक आदिवासी आज भी पौधे रोपने के लिए *खोंदा खती का इस्तेमाल करते हैं। प्रागतिहासिक खतियो से* ये खतियाँ इस माने म भिन्न हैं कि अब इनमे पत्थर के कवण डालकर इन्हे भारी नही बनाया जाता। आदिम खतियाँ जहाँ कोहनी तक लम्बी होती थी, वहाँ आधुनिक खतियो की ऊँचाई छाती तक पहुचती है। इसलिए ये अधिक भारी और

मोटी होती हैं, और इनमे इस्पात की नोक भी होती है, परन्तु इस बात मे कोई सन्देह नही कि थोवा आदिम काल का एक औजार है। इनसे घटिया किस्म के अनाज के बीज बोये जाते हैं, जसे नाचणी, वरी व सामवा, जो कभी कभी जगली अनाज के रूप मे भी पाये जाते हैं। ऐसी खेती खडे ढाल वाले पहाडी प्रदेश मे होती है, इसलिए हल का इस्तेमाल करना न आवश्यक है न सम्भव है, परन्तु एसी खेती को दस म से करीब आठ साल तक पडती छोड देना पडता है। भूमि के छोटे किन्तु समतल खण्डो पर हल के स्थान पर 'हो अथवा लम्बे हत्थेवाली कुदाली का इस्तेमाल होता है। जहा भूमि अधिक उपजाऊ होती है वहा स्त्रियाँ खेती करती हैं और इस प्रकार पुरुषो की श्रमसाध्य खेती मे अपना अश जोडती हैं। सर्वाधिक पिछडे हुए आदिवासियो मे सारी खेती हो और खतिया से होती है, और यह स्त्रियो का काम है, पुरुषो का काम होता है शिकार करना। मछुवा की अब स्वतन्त्र जातिया बन गया हैं। फिर भी कबीलाई लोग और बहुत-से किसान बिना जाल के ही मछली पकडते ह, वे मछलियो को छिछले जलस्थाना अथवा विशेष प्रकार से बनाये गय बाधो की ओर भगाते हैं और उन्हे हाथो से ही पकडते है। मैंने ऐसे ही डबरो के किनारे इनके प्रागैतिहासिक पूवजो द्वारा छोडे हुए लघुपाषाणो के बडे बडे ढेर देखे ह। यही स्थिति मृत्भाण्डो की है। यद्यपि पुरातत्व से जानकारी मिलती है कि पाच हजार साल पहले सिन्धु प्रदेश मे द्रुतगति वाले चाको पर उत्तम मृत्भाड बनाय जाते थे, दक्खन के प्रागैतिहासिक पुरातत्व से ज्ञात होता है कि अनगढ मृत्भाण्डा का निर्माण चाक के बिना ही होता था। ठीक उसी पद्धति से, धीमी गतिवाली चकती (शेवता) पर अथवा बिना चकती के ही, आज भी विभिन्न आकारो के मिटटी के बतन बनाये जात हैं। विशेष बात यह है कि कुम्हार की इस चकती को आज भी सिफ स्त्रियाँ ही चलाती है। पुरुष उन अध बन बनना को एक हाथ से बाहर से लकडी की थपली से ठोकते हैं और दूसरे हाथ की मुटठी म पत्थर की 'निहाई' लेकर भीतर से उसे सहारा देत है। इस प्रकार पकान के पहले बतनो को पतला और मजबूत बनाया जाता है और बाद मे बतन आकार और बनावट मे बेहतर दिखायी देता है। ऐसी निहाइयाँ' दो-तीन हजार साल पहले के खुदाई के स्तरा मे प्राप्त हुई है। मृत्भाण्डो के निर्माण का काय पूणत स्त्रिया के जिम्मे ही रहा होगा, परन्तु लगता है कि कुम्हार के द्रुतगति चाक का इस्तेमाल हमेशा पुरुष ही करते रहे हैं।

२ ५ अधिरचना मे आदिम अवशेष

यदि आदिम और प्रागैतिहासिक युग के इतने अधिक तकनीक जीवित बचे हैं तो तदनुरूप रीति रिवाज, विश्वास और सामाजिक सगठन के रूप यानी उत्पादन के सम्बन्ध जीवित देखन को न मिले तो यह एक अचरज की ही बात होगी। दरअसल, ऐसे अनेक अवशेष हमारे बीच मौजूद हैं। उदाहरणाथ, सुखी

परिवारो के रसोईघरों में ईंधन के लिए तेल अथवा बिजली का भले ही इस्तेमाल होता हो, किन्तु उनमें (आन्ध्र और दक्षिण-पूर्वी प्रदेश को छोड़कर) सिल और बट्ट का भी उपयोग होता है, जो प्रस्तर युग के साधन हैं। आकार में जरूर कुछ बदल हो गया है, आधुनिक सिल सपाट और बट्ट से अधिक चौड़ी होती है। आज सिलबट्टे का इस्तेमाल मुख्यतः नारियल या मसाले कूटने अथवा चावल के साथ खायी जाने वाली कढ़ी या साग सब्जी के लिए नरम मसाले पीसने के लिए होता है। इस प्रकार के सिल पर आजकल समुद्री नमक से अधिक सख्त कोई चीज नहीं पीसी जाती। परन्तु इसके इस्तेमाल में प्रागैतिहासिक युग के अवशेष अब भी मौजूद हैं। सर्वप्रथम यह देखने को मिलता है कि इसका इस्तेमाल करने वाली उच्च-वर्गों की स्त्रियां बट्टे को प्रायः ऊपर से पकड़ती हैं। परन्तु निम्न जातियों की स्त्रियां इसे आमतौर से दोनों सिरों से पकड़ती हैं जिससे यह अधिक घूम नहीं पाता और इसकी कार्य क्षमता घट जाती है। परन्तु प्रागैतिहासिक काल में बट्टा सिल से अधिक चौड़ा होता था और सिल भी सपाट न होकर सामने की ओर ऊपर उठी होती थी। ऐसा सिल बट्टा और इसकी पकड़ अनाज-जैसी चीजों को पीसने के लिए आधुनिक सपाट सिलबट्ट की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त है। इससे यह जाहिर होता है कि निम्न जातियां उस अतीत के अधिक समीप हैं जब ऐसे सिल-बट्टे का इस्तेमाल वास्तव में अनाज को पीसकर आटा तैयार करने के लिए होता था। आजकल सभी जातियां आटा पीसने के लिए अधिक सक्षम हाथ की चक्की अथवा मशीन की चक्की का सहारा लेती हैं। परन्तु सिल बट्टे के इस्तेमाल में जो अन्तर दिखायी देता है, उससे जाहिर होता है कि निम्न जातियों ने अन्न उत्पादन की अवस्था में बाद में प्रवेश किया है। अब ये निम्न जातियां ही मजदूर और किसान हैं, प्रमुख अन्न उत्पादक हैं। वर्ग भेद का कारण भी यही है कि इन्होंने अन्न उत्पादन की अवस्था में कालान्तर में प्रवेश किया। स्पष्टतः यह एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक और सामाजिक तथ्य है। उच्च जातियां उत्तर की ओर से आयीं या इन्हें पहले प्रभावित करने वाले उत्तर के वे अन्न-उत्पादक लोग थे जिन्होंने दक्खन में वास्तविक कृषि की पहली बार नींव डाली और जो पहले से ही हाथ की चक्की का इस्तेमाल करने लग गये थे। सिल बट्टे से एक और पुराकालिक परम्परा जुड़ी हुई है, यह विचित्र अनुष्ठान 'हिन्दू' (ब्राह्मण) ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता, दरअसल, इसे लिपिबद्ध ही नहीं किया गया। इसमें सिर्फ स्त्रियां ही भाग लेती हैं, जिससे इसका आदिम और प्रागैतिहासिक उद्गम जाहिर होता है। शिशु जन्म के दसवें (कभी कभी छठे या बारहवें) दिन उपस्थित स्त्रियों में से कोई वयोवृद्ध स्त्री बट्टे के कड़े, चिकने और बेलनाकार पत्थर को लेकर उसे पालने के चारों ओर घुमाकर फिर पालने में ही रख देती है। इसका आशय यह होता है कि वह बालक बड़ा होकर उस पत्थर की तरह ही निर्दोष और

दीर्घजीवी बने। पत्थर के बटट को बच्चे का झगुला (कुर्ती) पहनाते हैं, साथ ही, मातृदेवी की तरह माला या हार भी पहनाते हैं। पत्थर पर थोडा लाल या कभी-कभी पीला रग भी लगाया जाता है। ऐसे अनुष्ठानो का प्रतीकार्थ कभी भी सुस्पष्ट नही होता। वह पत्थर एकसाथ ही शिशु और उस शिशु को आशीष देनवाली मातदेवी अथवा दयालु परी का द्योतक होता है। परन्तु पुरुष-पुरोहितो को इस अनुष्ठान की कोई जानकारी नही होती, यद्यपि ब्राह्मण और सभी निम्न जातियो मे इसका प्रचलन है। निस्सदेह, इस अनुष्ठान को, सम्भवत उत्तर की ओर से आकर बसने के बाद, आदिम जनसमूह के किसी हिस्से से अपनाया गया है। सास्कृतिक आदान प्रदान का यह एक उदाहरण है। आदिवासी क्षेत्रो मे जाकर अनुसधान करने वाले अधिकतर पुरुष ही होते हैं, आदिवासी या निम्न जाति की स्त्रियाँ इन अपरिचित अनुसधानकर्ताओ से बातचीत करने के लिए तैयार भी हो जायें, तो भी वे इनसे अपने विशिष्ट अनुष्ठानो की चर्चा कभी नही करेंगी। अन्यथा एस रीति रिवाजो के बारे मे हम बहुत अधिक जानकारी मिल चुकी होती। तब आदिम समूहो की आरम्भिक भाषा के बारे मे भी कुछ जानकारी प्राप्त करना सम्भव हो जाता, क्योकि पुरानी भाषा पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की बोली म और उनके अनुष्ठानो मे काफी हद तक जीवित रहती है। सामान्यत भारतीय स्त्रियो के जीवन मे आदिम तत्त्व अधिक मात्रा मे मौजूद हैं जबकि पुरुष, अपने कबीले या अपनी जाति के बाहर के जनसमुदाय से अधिकाधिक सम्पर्क मे आने के कारण, बाह्य-जगत स अधिक प्रभावित दिखायी देते है।

सुपरिचित धार्मिक अनुष्ठानो के उदगम भी आदिम या प्रागैतिहासिक युग मे खोजे जा सकते हैं। वसन्तोत्सव होली ने आज एक गन्दे और भ्रष्ट आनन्दोत्सव का रूप धारण कर लिया है, परन्तु इस त्योहार की मुख्य विशेषता है एक बडी आग के चारो ओर नृत्य करना। कही-कही इसके बाद कुछ चुने हुए लोग अगारो पर भी चलत हैं। परन्तु दूसरे दिन सवत्र खुलेआम काफी अश्लील शोरगुल सुनने को मिलता है। दूर-दराज के क्षेत्रो में यौनाचार और स्वच्छन्द सम्भोग की भी छूट रहती है। प्रागैतिहासिक युग मे आहार अपर्याप्त था, जीवन कठोर था और प्रजनन आसान नहीं था। तब उत्तेजना के लिए अश्लीलता की आवश्यकता थी। परन्तु आधुनिक काल मे इस उत्सव मे भ्रष्टता आ गयी है, तो इसका कारण यह है कि किसानो के भारी श्रम के कारण बहतर भोजन मिलन लग गया है, जिसमे कामेच्छा मे और उसके प्रति हमारे दृष्टिकोण म आमूल परिवतन हो गया है। होली उत्सव की कुछ विशेषताएँ प्रागितिहास के मातृसत्ता युग की जान पडती हैं। कुछ स्थानो पर देखने म आता है कि एक आदमी (जिसे कोलिन कहते हैं) को स्त्री के वस्त्र पहन कर दूसरो के साथ होली-दहन के नृत्य म शामिल होना पडता है। बगलौर के वार्षिक करगा महोत्सव म मुख्य आयोजक को स्त्री

के वस्त्र पहनने पडते हैं। फदा डालकर बटेर पकडनेवाले पश्चिमी भारत के पारधियो के पुरोहित को भी प्रजनन-सम्बन्धी गायन और तप्त तैल-परीक्षा के अवसर पर ऐसा ही करना पडता है। आरम्भ मे इन अनुष्ठानो और उत्सवो पर स्त्रियो का एकाधिकार था, परन्तु बाद मे पुरुषो का इन पर कब्जा हो गया। इसी प्रकार, ब्राह्मणो की कथाओ और आख्यानो मे मातृदेवियो के कुजो या उपवनो के उल्लेख मिलते हैं। ऐसे उपवन सडको से दूर के देहातो मे आज भी मौजूद हैं। परन्तु अब इन स्थानो मे स्त्रियो का प्रवेश आमतौर पर वर्जित है, अपवाद है तो ऐसे कुछ स्थान जहा पुरोहिती अब भी आदिवासियो के हाथो मे है, जहा पुरोहिती नये आकर बसे हुए किसानो को नही सौप दी गयी है। आरम्भ मे पुरुषो के लिए प्रवेश वर्जित था। जब समाज मातृसत्ता से पितृसत्ता की अवस्था मे बदला, तो तदनुरूप पुरोहित पद और कर्मकाण्ड भी बदल गये।

ग्रामदेवताओ का भलीभाति अध्ययन करने से भी अनेक बातो की जानकारी मिल जाती है। अधिकाश देवता सादे प्रस्तर खण्ड होते हैं, जिन पर सिन्दूर या तेल मिला गेरुआ या कोई सस्ता लाल रग पोता हुआ होता है। यह रग रक्त के एवज मे होता है। दरअसल, कुछ विशेष अवसरो पर आज भी अधिकाश ग्राम देवी-देवताओ को रक्त बलि दी जाती है। जब खेती की उपज से गाव कुछ सम्पन्न हो जाता है और ब्राह्मण पुरोहित भी आ जाता है, तो ये पूजा विधान कुछ स्थायी देव-पूजाओ से जुड जाते हैं, जैसे, वानर देवता हनुमान, हस्तिमुख गणेश, पिशाच-राज वेताल। तब इन देवताओ की प्रतिमाएँ बनने लगती हैं। फिर भी इनकी आदिम विशेषताएँ सर्वथा लुप्त नही हो जाती, पर अन्तत पदोन्नति हो जाने पर फिर इनके लिए लाल रग और रक्त बलि की आवश्यकता नही रहती। सभ्यता के इस क्रमिक विकास को आसानी से परखा जा सकता है। कही कही देखने को मिलता है कि किसी प्रागैतिहासिक देवता (अधिकतर देवी) को पुराने पूजा स्थल पर या समीप ही आज भी पूजा होती है, यद्यपि आमतौर पर यह नही बताया जा सकता कि देवता का नाम वही है या बदल गया है। एक आश्चर्यजनक अपवाद है बुद्ध का जन्म-स्थान, जहाँ देवी का वही नाम (लुम्मिनी-रुम्मिनी) २,५०० से भी अधिक वर्षो से चला आ रहा है। यह कहा जा सकता है कि ईसवी सन् के आरम्भकाल मे जब जुन्नर मे बौद्ध गुफाएँ बनी, तो वहा मनमोदी देवी का स्थल पहले से मौजूद था, एक हजार साल बाद जब बौद्धधर्म का ह्रास होने लग गया, तो वही देवी बिना नाम बदले वहाँ पुन उपस्थित हुई। अक्सर यह होता है कि जब कोई ग्राम-देवता अधिक लोकप्रिय हो जाता है और उसकी पूजा दूर-दूर के लोग करने लगते हैं, तो उसे शिव या विष्णु के साथ मिला दिया जाता है, अगर देवी हो तो उसे पार्वती, लक्ष्मी या ब्राह्मण धर्म की ऐसी ही किसी देवी के साथ जोड दिया जाता है। ऐसी कुछ अधिक दिलचस्प देवियाँ, जिनके नामो को

व्युत्पत्ति का तो पता नहीं चलता परन्तु जिनके स्थानीय पूजा विधानों का बड़ा प्रभाव है वे हैं मेंगाई, माधराई, सागजाई उदालाई, कुम्भलजा, मनस्नी, इत्यादि। इन नामों के अन्त में जो 'आई' शब्द है उसका अर्थ है 'माता'। ऐसे नाम प्रायः किसी विलुप्त कबील या कुल-समूह के सूचक होते हैं। पेरनम के पास कान्हाई देवी की आज भी एक प्रागैतिहासिक महापाषाण के स्थल पर पूजा होती है। (यद्यपि गायकवाड़ा के धनी सामन्ती परिवार ने एक मील की दूरी पर एक बढ़िया मंदिर बनवाकर इस पुरातन महापाषाण-स्थल के महत्त्व को नष्ट कर दिया है)। देवी का यह नाम बारहवीं सदी में भी पुराना था, और सम्भवतः यह कन्नड़ भाषा का नाम है। किसी जगतमाता का कोई सवाल ही नहीं उठता। यदि किसी स्थानीय देवपूजा का विस्तार होता है, तो कबीले के स्थानान्तरण में इस विस्तार का आमतौर से पता चल जाता है। कोल्हाई के प्रमुख भक्त आज साठ किलोमीटर दूर के एक ही गाँव में रहते हैं और इन सबका कुलनाम काळे (घोड़ा) है। यह माना जाता है कि देवी कुछ लुटेरों (चोरों) के साथ चली गयी है जिससे साफ जाहिर होता है कि वह लम्बे समय तक किसी खूंखार कबीले की अधिष्ठात्री देवी रही है। इस क्षेत्र की आबादी में इतनी अधिक उथलपुथल और रद्दो-बदल हुई है कि देवी के महापाषाण की प्रागैतिहासिक युग से निरन्तर पूजा होती रहना सम्भव नहीं था। परन्तु यह स्मृति हमेशा ही कायम रही है कि कुछ विशिष्ट स्थलों और पाषाणों का सम्बन्ध किसी देवी शक्ति देवता अथवा दानव से है। सुरक्षा के लिए देवों और दानव, दोनों की ही पूजा की जाती है। सिलसिला प्रायः कुछ इस प्रकार का होता है किसी किसान को सपने में किसी देवी (कभी-कभी बेताल या किसी दिवंगत रिश्तेदार की प्रेतात्मा) के दर्शन होते हैं। यदि उस देवी या प्रेतात्मा का पूजा-स्थल पहले से मौजूद है, तो वह किसान भावी दुर्घटना से बचने के लिए वहाँ आमतौर पर किसी चीज की बलि चढ़ाता है (आजकल नारियल या मुरगी की, या अधिक हुआ तो बकरे की बलि चढ़ाई जाती है)। प्रेतात्मा की ओर अधिक शान्ति ... का ... स्मारक भी खड़ा किया जाता ... कभी-कभी ... स्थान पर सपने में आती है। यदि उस स्था... ... ... उस स्थान पर नए पूजा-स्थल की स्थापना ... ... प्रमाण बनते रहते हैं। 'मूर्ति' के ... ... वाहन के रूप के आकार का) ... कभी-कभी किसी ... पर अनगढ़ का ... इत्यादि ... रहती ... की स्थापना ... देव पूजा ...

सकती है। विशेष बात यह है कि ऐसे नये पूजा स्थल बहुधा पहले के उन प्रागैतिहासिक स्थलों पर होते हैं जहां लघुपाषाण और खांचावाले महापाषाण मौजूद रहते हैं। अभी कुछ दिन पहले अपने कुछ मित्रों को, जो पुणे के पास के विरल जंगल में वेताल की पूजा करते हैं, मैंने एक उपेक्षित महापाषाण दिखाया। उन्होंने बीस से तीस सदियों तक पूर्णतः भुला दिये गये उस महापाषाण की अपने ढंग से, फूलों और लाल रंग से, फिर से पूजा शुरू कर दी। अब वहां पूजा की खूब चहल पहल रहती है, खांचावाले उस महापाषाण की आकृति जैसे-तैसे शिव के नन्दी के रूप में कल्पित की गयी है, इसलिए वह पूजा स्थल अब नन्दी के नाम से जाना जाता है।

भारतीय जीवन में और भी अनेक आदिम अवशेषों को आसानी से दिखाया जा सकता है। रजस्वला स्त्री को स्पर्श करना पुरुष के लिए वर्जित समझा जाता है, यदि भूल-चूक से भी स्पर्श हो जाये, तो उस पुरुष के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह स्नान द्वारा अपने को शुद्ध कर ले और कपड़े तुरन्त धो डाले। रजोदर्शन काल में स्त्री को सबसे अलग रहना पड़ता है। रजोदर्शन विषयक यह निषेध आधुनिक शहरी जीवन के कारण अब मिटता जा रहा है। गोंधली स्तुति-गायकों की एक पेशेवर जाति है। ये लोग कुछ खास देहाती अनुष्ठानों में अपने संगीत और गायन के साथ लम्बे समय तक कोलाहलपूर्ण नृत्य करते हैं। इनके नाम का सम्बन्ध आदिवासी गोंडों से जान पड़ता है और प्रतीत होता है कि ११०० ई० के पहले गोंडों से ही इन्होंने इस नृत्य गायन को अपनाया है। यह सम्बन्ध अब विस्मृत हो चुका है। कई गांवों में यह दृश्य अभी भी देखने को मिलता है कि, एक खड़े खम्बे के सिरे पर एक सीढ़ी (बगाड) पड़ी हुई है और उससे लटके हुए लोहे या इस्पात के आंकड़ों से लोग झूल रहे हैं। इस प्रकार झूलने का विशेष अधिकार कुछ प्रमुख परिवारों के व्यक्तियों को ही रहता है। आज-कल आंकड़े को कमरबन्द या पेटी में अटकाया जाता है। परन्तु पिछली सदी तक (और कुछ गांवों में आज भी) इन आंकड़ों को दरअसल कमर की पेशियों में अटकाया जाता था। यह लोहयुग की प्रथा जान पड़ती है, और सचमुच हो भी सकती है। परन्तु कुछ क्षेत्रों में पूर्वकालिक मानव-बलि के एवज के रूप में इसके उद्‌गम का और पीछे जाकर खोजा जा सकता है। बलि के लिए चुना गया व्यक्ति—और यह विशेषाधिकार एक दो खास कुलों के व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित था—थोड़े समय के लिए देवता-स्वरूप समझा जाता था और फिर उसका सिर काटकर स्थायी देवता के सामने की एक विशेष शिला पर रख दिया जाता था।

इस प्रकार के अन्धविश्वासों का अध्ययन मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान के अन्तर्गत होना चाहिए। अधिक गूढ़ देवताओं और पूजा-विधानों का अध्ययन

और भी गहनता से होना चाहिए। ऊँचे देवताओ की एक या अनेक पत्नियाँ, बच्चे—कभी कभी गणेश-जैसे अध-पशु भी—और बहुत-सारे अनुचर होते हैं, जिनमे भूत पिशाच भी होत हैं। देवताओ के वाहन विविध प्रकार के पशु या पक्षी हैं जो किसी समय कबीला के टोटेम थे। देवता का परिवार और अनुचर-मण्डली एक ऐतिहासिक घटना है और यह एक ऐसे सयुक्त समाज के उदय की सूचक है जिसमे विभिन्न कबीलाई तत्त्व, जो पहले पृथक थे, एकत्र हो गये हैं। ऐसे एकीकरण को प्रमाणित करने के लिए ब्राह्मणो ने खास तौर से मनगढन्त आख्यानोवाले ग्रन्थ रचे (जैसे, पुराण जो अतिप्राचीन होने का दावा करते हैं, परन्तु जिनकी रचना या पुनरचना हुई छठी से बारहवी सदी के बीच के काल मे)। इसके ऊपर गूढ धमशास्त्र और देवताओ के सामन्ती दरबार का स्तर है। फिर इनका स्थान लेते हैं कुछ दाशनिक मत, रहस्यवाद और सम्भवत सामाजिक सुधार। भारतीय धार्मिक चिन्तन के प्रमुख स्तरा की यही विशेषताएँ हैं। दुभाग्यवश, इस 'चिन्तन मे सुसगति और तक की मात्रा बहुत कम पायी जाती है। यह चिन्तन न तो यथाथ का सामना करता है न ही सामान्य तथ्यो की स्पष्ट जानकारी देता है। मूलत पृथक देवताओ के एकीकरण की इस प्रक्रिया मे निरतरता नही रही, सारे देश म विभिन्न पूजा विधानो कोउनके अनुयायियो के साथ जसे जैसे आत्मसात किया जाता रहा वसे-वसे समान्तर चक्रो म यह प्रक्रिया दोहराई जाती रही। देवताओ का सयोजन, कुछ घटिया रूप म, समकालीन मानव-समाज के सगठन के अनुकरण पर हुआ।

इन पूजा विधानो के साथ जिन लोगो को आत्मसात कर लिया गया था, उन्होन अपनी विशिष्टता और कुछ सीमा तक अपनी पूववर्ती कुलगत पृथक्ता कायम रखी। यह सम्भव हुआ जाति व्यवस्था के कारण, और बेकार बठे हुए ब्राह्मणो ने इसे सदैव प्रोत्साहन दिया, क्योकि तब वे उस समूह की पुरोहिती सम्भाल सकते थे। वह जातिबद्ध समूह सामान्यत दूसरी जातियो के साथ न भोजन कर सकता था, न ही उनका पकाया हुआ भोजन ग्रहण कर सकता था, दूसरी जातियो के साथ उसका विवाह-सम्बन्ध भी सम्भव नही था। वास्तव मे इसी कुल-सम्बन्ध को कभी-कभी 'रोटी-बेटी व्यवहार' कहते है। यह सम्बन्ध ठीक उस आदिम व्यवस्था की तरह है जिसम ववाहिक सम्बन्ध वाले कुल-समूह में अतिरिक्त खाद्य सामग्री का आदान प्रदान होता था। (प्राचीन रोम म सबसे सुदृढ विवाह सम्बन्ध या confarreatio, जिसका शाब्दिक अथ है—वर-वधू द्वारा रोटी को तोडना और उसका आदान प्रदान। सहभोजन की बन्धन शक्ति companion शब्द से भी जाहिर होती है con=के साथ, और panis= रोटी, यही बात आधुनिक फ्रासीसी भाषा के copain शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अथ 'अन्तरग मित्र' से भी प्रकट होती है।) सिद्धान्तत ब्राह्मण का शीषस्थ

स्थान ही जाति को बांधे रखता है, ब्राह्मण के हाथ का भोजन सभी ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु ब्राह्मणों की बेटियाँ केवल ब्राह्मणों से ही विवाह कर सकती हैं। उत्पादन का बंधन तो बदलता रहा, परन्तु बंधन बना ही रहा। उत्पादन के आदिम स्तर के वर्ग का दूसरा नाम ही जाति है। कई बार यह बंधन केवल किसान-परिवारों में होता है, जो एक-दूसरे के सम्बन्धी होते हैं और मिल-जुलकर खेती करते हैं। परन्तु बहुत-सी जातियां मध्ययुग की उन श्रेणियों के समानक भी थीं जो विशिष्ट व्यवसायों में लगी हुई थीं, जैसे, टोकरियां बनानेवाले, जड़ी-बूटी बेचनेवाले (वैदू), बेलदार, धीवर। इनमें से कुछ जातियाँ अलगाववाला ग्राम-जीवन बिताते हुए आज भी मध्य युग में ही रहने का प्रयत्न करती हैं। ऐसी कई जातियों के कबीलाई मूल स्पष्ट हैं। जैसे, बिहार और बंगाल के मछुवे 'कैवर्त' कहलाते हैं और महाराष्ट्र के 'भोई'। कई बार टोटेम विशेषताएं भी स्पष्ट हो जाती हैं। पहले उल्लिखित 'वाजी' कुलनामवाले लोगों की तरह ऐसे कई कुल ग्राम हैं जहां के सभी मूल निवासियों के कुलनाम एक-से हैं, जैसे, मगर, लांडगे (भेड़िया), मोरे (मोर), पिंपले (पीपल)। इनके मूल जो भी रहे हों, टोटेम सम्बन्धी कुछ प्रथाएँ अब भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, मोरे कुलनामवाले लोग मोर का मांस नहीं खायेंगे, पिंपले अपने टोटेम वृक्ष के पत्ते नहीं खायेंगे और किसी समय ईंधन के लिए पीपल की डालियां भी नहीं छांटते थे, परन्तु अब ईंधन की कमी के कारण यह निषेध मिट गया है। उत्तर वैदिक-काल के 'पिप्पलाद' (पीपल का फल खानेवाले) ब्राह्मण-कुल का यह नाम भी इसी प्रकार पड़ा था।

अतः ऐतिहासिक वस्तुस्थिति यह है कि, अन्न संकलनकर्त्ताओं की अत्यन्त विरल आबादीवाले एक लगभग सीमाहीन परिवेश में अन्न-उत्पादक समाज का शनैः शनैः विस्तार हुआ। जैसाकि स्वाभाविक था, अन्न-उत्पादक समाज की जन वृद्धि अधिक तेजी से हुई, और इसलिए वह अछूती भूमि में अधिकाधिक फैलता गया। अन्न-उत्पादकों की गतिविधियां बढ़ गयीं, तो उत्पादकों और संकलनकर्त्ताओं का एक दूसरे के सम्पर्क में आना स्वाभाविक था, फिर वह सम्पर्क चाहे लड़ाई के रूप में रहा हो, या आदान प्रदान के रूप में। प्रत्येक उपान्तीय अन्न-संकलक समूह संख्या में बहुत छोटा था, परन्तु विभिन्न कबीलों की विविधता अन्तहीन थी। जहां कृषि से प्रति वर्ग किलोमीटर में सौ आदमियों का उदर-भरण हो सकता है, वहां शिकार और अन्न संकलन के सबसे बेहतर तरीके अपनाने पर भी एक व्यक्ति का भी निर्वाह नहीं हो सकता, और समृद्धतम पशुपालन से मोटे तौर पर तीन से भी कम आदमियों का निर्वाह होगा। इसके अलावा, सिंचाई और खाद का उपयोग करके अन्न-संकलनवाले क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक क्षेत्र में अच्छी खेती की जा सकती है। भारत में (वस्तुतः पाकिस्तान

मे) बडे पमाने पर पहली बार अन-उत्पादन हुआ सिंध नदी की घाटी मे, यानी पश्चिमी पजाब और सिंध मे। इसका समय है ३००० १७०० ई० पू०। इस खेती का उस विशेष प्रकार की भूमि के बाहर विस्तार नही हो सका। तब खेती का असली विस्तार पूव की ओर १८०० किलोमीटर तक गगा की घाटी में हुआ। इसके लिए अन उत्पादन के सवथा भिन्न तरीके अपनाने पडे, और इसके साथ ही एक नयी समाज-व्यवस्था—जाति—की भी जरूरत पडी। यह विस्तार काई हजार साल तक चला, यानी ७०० ई० पू० तक। आदिम परिस्थितियो मे ऐसा विस्तार सम्भव न होता यदि इसमे आरम्भिक स्तर की जाति व्यवस्था—जिसमे दासता के बिना ही श्रम के फल को हथियाया जा सकता था—का सहयोग न मिलता।

फिर अगला मुख्य विस्तार सीधे प्रायद्वीप की ओर हुआ, जिसे उन्नत तकनीक वाले, विशेषत नवार्जित धातुज्ञानवाले, उत्तर के अत्यन्त विकसित समाज का बल प्राप्त था। इन नये प्रदेश मे कही अधिक विविधता थी, इसलिए इसमे आबाद होना उस प्रकार सम्भव नही हुआ जसाकि उत्तर मे हुआ। इसलिए जाति-व्यवस्था का न केवल दायरा बढा बल्कि कार्यक्षेत्र भी बढा, जिसमे आदिवासियो के पूजा विधानो को सम्मान देने के लिए ब्राह्मणो द्वारा पुराण लिये गय, और कबील के बबर सरदार कबीले पर शासन करनेवाले राजा या सामन्त बन गय। यह वस्तुत बाह्य प्रेरणा के अन्तगत नय वर्गो का उदय था, जबकि उत्तर की पुरानी जाति-व्यवस्था का विकास कबीले के भीतर की वग-रचना से हुआ था। अन्त म, सामन्ती व्यवस्था मे जातिप्रथा ने प्रशासन-न्याय मे भी सहयोग दिया, और प्राथमिक उत्पादक को बिना किसी विशेष बल प्रयोग के उसके अपन काम स बाधे रखा गया। नयी भूमि पर बसे हुए देहातो के किसान जसाकि पहले बताया जा चुका है, पुराने कबीले से निर्मित जाति के एक ही सगोत्र-समूह के थे। भूमि पर इसी समूह का अधिकार था। पहले बसे हुए किसानो की अनुमति के बिना इनकी बिरादरी मे कोई भी नवागन्तुक प्रवेश नही पा सकता था। जिस व्यक्ति को समूह से बाहर निकाल दिया जाता था, उसके लिए एक प्रकार से समाज म कोई स्थान नही था, वह 'जाति-बाह्य समझा जाता था। ऐसे प्रत्येक समूह के अपने विशिष्ट नियम और रीति रिवाज थे। 'राजा, उसके पदाधिकारी आर ब्राह्मण सलाहकार विभिन्न समूहो के सदस्यो के बीच उठनेवाले झगडो का फसला करते थे और इसमे वे स्थानीय प्रथाओ और नियमो का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। समूह के भीतर के झगडा का निबटारा अधिकतर जाति पचायत अथवा ग्रामसभा द्वारा होता था, और वहा आज भी होता है जहा आधुनिक स्वरूप की व्यक्तिगत सम्पत्ति या अथ व्यवस्था ने पुरानी परम्परा को नष्ट नही कर दिया है। जाति भेद और ब्राह्मणो की धूतता ने देश को अधविश्वास के दलदल म

कमाया गया और इस प्रकार विदेशी आक्रमणों के सामने देश असहाय बना रहा। फिर भी, जाति ने कभी-कभी सामन्ती जुल्म से गरीबों की रक्षा की है। निःशस्त्र किसानों के लिए विरोध प्रदर्शन का एक यही उपाय था कि वह अत्यधिक कर लगायी गयी अपनी भूमि को जोतने से सामूहिक रूप से इनकार कर दें। जब तक आबाद न हुई भूमि या अनकटे जंगल मौजूद रहे, तब तक वे दूसरी जगह जाकर बस सकते थे। सामन्ती युग के परवर्ती दौर में जब कृषियोग्य भूमि का अधिक फैलाव हुआ, तो उस समय ऐसा सामूहिक 'ग्राम त्याग' (मराठी गामवई, यूनानी में anachoresis), बाहर के उनके समकक्ष लोगों की सहायता के बिना सम्भव नहीं था। अपनी जाति के अन्य सदस्यों से वे हमेशा ही ऐसी आवश्यक सहायता माँगने के अधिकारी थे। यह पुरातन भारतीय पद्धति की किसान हड़ताल थी। जाति-व्यवस्था, जो बहुत पहले एक घोर अंधविश्वास का रूप ले चुकी थी, उन्नीसवीं सदी के अन्तिम काल में राजनैतिक दलबन्दी के रूप में विकसित हुई। यह व्यवस्था नये पूँजीवादी जनतान्त्रिक शासन में आगे भी कायम रह सकती है, और इससे खतरनाक तनाव पैदा होने का हमेशा भय बना हुआ है। भारत को विभाजित रखने के लिए अंग्रेजों ने जाति प्रथा को न केवल प्रोत्साहन दिया बल्कि उसका बाकायदा इस्तेमाल भी किया। यह निराधार और दूषित आधुनिक जाति प्रथा और कितने दिन तक चलेगी?—यह प्रश्न भारत में नवीनतम उत्पादन प्रणाली की तीव्रता से जुड़ा हुआ है। कानून अब जाति को नहीं मानता। बालू में अपना सिर छिपा लेनेवाले शतुरमुर्ग की तरह के सुधार-सिद्धान्त पर आधारित जनगणना में भी अब जाति का उल्लेख नहीं रहता। लेकिन शहरी जीवन, घनी बस्तियाँ, रेल, बस तथा नौकाओं के आधुनिक परिवहन, कारखानों में सभी जातियों के मजदूरों का जमाव, और नकद अर्थ-व्यवस्था में पैसे की अपार शक्ति से जाति की मुख्य विशेषता—समूहों का परम्परागत अलगाव—अब नष्ट हो रही है। यन्त्रीकृत जीवन में अब ब्राह्मण-पुरोहित के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है, वैज्ञानिक नियमों से संचालित मशीनों ने जाति प्रथा को निरर्थक सिद्ध कर दिया है।

तीसरा अध्याय

सर्वप्रथम नगर

३.१ सिन्धु सभ्यता की खोज

पिछले दो अध्यायों में भारत में पर-संस्कृति ग्रहण के स्वरूप पर विचार किया गया। भारत में किसानों की संख्या आज भी बहुत अधिक है, कुछ कबीलाई जन भी बचे हैं। ये दोनों जन समुदाय युगों से एक-दूसरे को प्रभावित करते आ रहे हैं। बेहतर भोजन-सामग्री उपलब्ध होने से किसान-वर्ग की आन्तरिक वृद्धि हुई, तो कबीलाई जीवन के विघटन के कारण इसकी बाह्य वृद्धि हुई। इसके इस टेढ़े-मेढ़े किन्तु कुल मिलाकर अविरत विकास का पता लगाने में कोई खास कठिनाई नहीं होती। इस विकास की रूपरेखा स्पष्ट है, यद्यपि प्रत्येक प्रदेश में इसके ठीक-ठीक तिथिक्रम को समझ पाना हमेशा सम्भव नहीं है। शहरी जीवन के उदय और विकास के सवाल को भी सुलझाना जरूरी है। अन्ततः, सभ्यता का अर्थ ही है—सम्पूर्ण देश में जीवन की एक प्रमुख विशेषता के रूप में नगरीय यानी नागरिक जीवन की संस्थापना। यद्यपि आधुनिक भारत में नगरों का विकास विदेशी उत्पादन प्रणाली के कारण हुआ है, पर भारत में यन्त्रयुग से काफी पहले और सामन्ती युग के भी पहले नगरों का अस्तित्व रहा है। प्रश्न उठता है प्रागैतिहासिक युग में इन नगरों का उदय कैसे हुआ?

एक पीढ़ी पहले तक स्वीकृत मत यह था कि भारत में थोड़े बहुत भी महत्त्व के नगरों का उदय पहले-पहल ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी में हुआ। मान लिया गया था कि इन नगरों का निर्माण आर्यों के वंशजों ने किया था। ये पशुपालक घुमन्तु आर्य लोग एक आक्रामक कांस्ययुगीन जनजाति के रूप में उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत में पहुंचे थे। लगभग १५०० ई० पू० के कुछ समय बाद तक ये आपस में, और पंजाब के कुछ आदिवासियों से लड़ते-झगड़ते रहे। फिर धीरे

धीरे गगा की द्रोणी मे नागरिक जीवन और सभ्यता की स्थापना हुई। पुराने मत के अनुसार भारत का पहला महान नगर सम्भवत पटना माना गया था। यह अनुमान मुख्यत उन प्राचीनतम सस्कृत ग्रथो स्तुतिगीतो तथा कथाओ से लगाया गया था जो सब कल्पितकथाओ और किंवदतियो के स्तर की थी। परन्तु १९२५ म पुरातत्त्ववेत्ताओ ने ऐसे भव्य नगर-भग्नावशेषो की एक अपूव खोज की घोषणा की जिनका प्राचीन साहित्य मे कही कोई उल्लेख नही मिलता। इनमे प्रमुख भग्नावशेष दो नगरा के थे, और ये दोना ही नगर अपने उत्कषकाल मे, ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी मे, सम्भवत एक वग मील के क्षेत्र मे फैले हुए थे। दोना ही नगर सिन्धु की द्रोणी मे महत्त्वपूण नदियो के तट पर बसे हुए थे। इनमे से एक नगर दक्षिण की ओर सिन्धु के तट पर बसा था, जो आज सिन्ध प्रदेश मे एक उजाड टीले के रूप मे मौजूद है और मोहनजोदडो के नाम से जाना जाता है। दूसरा नगर हडप्पा उत्तर की ओर पश्चिमी पजाब मे किसी समय सिन्धु की एक प्रमुख सहायक नदी रावी के तट पर बसा हुआ था। जैसाकि अक्सर ऐतिहासिक काल मे होता रहा है, इन नदियो ने अपने पात्र बदले हैं क्योकि य गहरी जलोढ मिटटी के क्षेत्र से बहती है। इन नगरा मे कई मजिलो के भव्य एव सुदृढ मकान थे जो भलीभाति पकायी गयी इटा मे बनाये गये थे और जिनमे स्नानघर और शौचालय जसी सुविधाएँ उपलब्ध थी। तेजी से घूमनेवाले चाक पर बडी सख्या मे निर्मित उनके मिटटी के बतन बहुत बढिया है, यद्यपि उन पर की गयी चित्र-कारी उतनी अच्छी नही है। सोना चादी, जवाहरात तथा विनष्ट सम्पत्ति के अय अवशेष भी प्राप्त हुए है। मकाना की याजना अपूव है, आरम्भ मे ये २००×४०० गज के आयताकार खण्डो पर बनाय गये थे। साथ ही चौडी मुख्य सडकें और अच्छी गलिया हैं। इतने प्राचीन काल मे इतना सुनियोजित तथा ऐसा जटिल और उत्तम नागरिक सगठन अयत्र कही भी देखने को नही मिलता। स्थापत्य की दृष्टि से प्राचीन मिस्र के नगर उनके शासका के पहाडी जैसे मकबरो और विशाल मन्दिरो की तुलना मे नगण्य थे। सुमर, अक्कद और बेबीलोन म सिन्धु सभ्यता के नगरो से मिलती जुलती इटा स बन नगर थे, परन्तु उनका विकास धीरे-धीरे हुआ। इन सभी नगरा की सडकें रोम, लदन, पेरिस तथा बाद के भारतीय नगरो की सडका की तरह टढी मेढी देहाती पगडडियो-जैसी थी। परन्तु सिन्धु सभ्यता की नगर-योजना सचमुच ही बडी आश्चयकारी है। सडकें सीधी थी और समकोण मे मिलती थी। वर्षा का पानी निकालने के लिए जल-निकास की बढिया व्यवस्था थी और गन्दी नालिया को साफ करने के लिए मल-कुण्ड थे। आधुनिक समय तक अन्य किसी भी भारतीय नगर मे ऐसी सुविधाएँ उपलब्ध नही थी, बहुत-से नगरा मे तो आज भी नही हैं। सिन्धु घाटी के नगरो म बडे बडे धाय-कोठार थे। ये कोठार इतने बडे हैं कि इन्ह किसी की व्यक्तिगत

सम्पत्ति नही माना जा सकता। इन कोठारो के समीप ही अनाज कूटने तथा भरने वाले खास वग के कमकरो अथवा दासो के रहने के लिए चालें बनायी गयी थी। काफी व्यापार होने के भी प्रमाण मिले हैं। कुछ व्यापार समुद्र-पार के देशो से भी होता था।

इस सारी नयी जानकारी के परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीय इतिहास म सम्बन्धित पुरानी धारणाओ मे सशोधन करना आवश्यक हो गया। भारत का सास्कृतिक विकास एक सीधे तकसगत क्रम मे नही हुआ है। दिखायी देता है कि इसमे बडी रुकावट आयी और किन्ही अस्पष्ट कारणो से यह पशुचारियो की बबरावस्था मे लौटा। हडप्पा जैसे बडे नगर के अस्तित्व का अथ है इसका पोषण करनेवाले ऐसे क्षेत्र का अस्तित्व जहाँ पर्याप्त अतिरिक्त अनाज पैदा किया जाता था। ऐसा नगर सामान्यत सत्ता का केन्द्र बन जाता है। अन्य शब्दो मे, एक या अधिक नगरो के अस्तित्व का अथ है राज्य का अस्तित्व। कुछ लोग अतिरिक्त अनाज पैदा करते थे, जिसे ऐसे लोग ले जाते थे जो स्वय अनाज पैदा नही करते थे और जिनका काम था सयोजन निर्देशन तथा नियन्त्रण करना। इसका अथ यही है कि बहुतो पर चन्द लोगो के शासन की व्यवस्था पर आधारित वग विभाजन तथा श्रम विभाजन के बिना प्राचीन युग मे नगरो का अस्तित्व सम्भव नही था। लेकिन तब ऐसा नगर अपना उत्तराधिकारी या चिह्न छोडे बिना मिट कैसे गया? इसके खण्डहरो पर इसके प्रत्यक्ष प्रभाव मे या इसकी प्रतिद्वदिता मे नये नगरो का उदय होना चाहिए था। इराक मे नगरो के विजेताओ ने उन्हें आबाद रखा। बेबीलोन का महान शासक और विधिप्रवतक हम्मूरबी (ईसा पूव सत्रहवी सदी) आरम्भ मे ऐसे ही बबर विजताओ मे से एक था। मिस्र मे भी यही हुआ। लेकिन भारत मे नागर सस्कृति की ऐसी अपेक्षित अखण्डता नही देखने का मिलती।

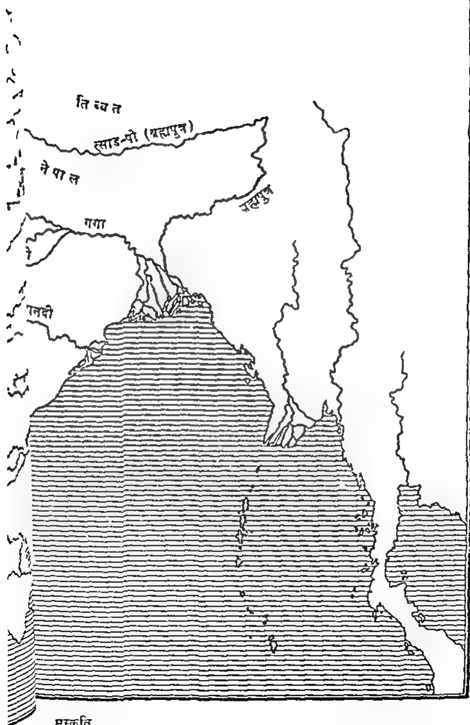
मेसोपोटामिया की खुदाई के अन्य पुरावशेषो के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि ईसा पूव तीसरी सहास्त्री म यहाँ के नगरो के विदेशी नगरो से व्यापारी सम्बन्ध थे। मोटे तौर पर नागर सिन्धु सस्कृति का काल हम ३००० ई० पू० से २००० ई० पू० तक मान सकते है। अधिक-से अधिक १७५० ई० पू० के कुछ समय बाद ही इसका अन्त हुआ। अन्त होने के पहले लम्बी अवधि तक इस सस्कृति का ह्रास होता रहा, परन्तु इसका वास्तविक विनाश एकाएक ही हुआ है। मोहनजोदडो मे नगर म आग लगाकर लोगो की हत्याएँ की गयी। इस हत्या काण्ड के बाद नगर की आबादी नहा के बराबर रह गयी। इस प्रकार की विनाश लीला के हडप्पा से बहुत कम सबूत मिले हैं क्योकि यहा के ऊपरी स्तरो को नष्ट कर दिया गया है। यहाँ की सामग्री (मुख्यत ईंटो) को ले जाकर आधुनिक इमारतें खडी की गयी परन्तु इससे भी कही अधिक इसका इस्तेमाल हुआ रेल-मार्ग के लिए उपलब्ध सबसे सस्ती मिट्टी के रूप मे। प्रचण्ड अन्त के इन प्रमाणो

मे पुराने सस्कृत ग्रन्थो के उन अलकारिक वणना की सायक व्याख्या सम्भव हुई जिनम कहा गया है कि शत्रुओ को युद्ध मे निदयता से कुचल दिया गया है, उनकी सम्पत्ति लूट ली गयी है और नगर नष्ट कर दिये गये हैं। इस प्रकार जिस काव्य युग को यानी ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी की पशुचारण अवस्था को भारतीय सस्कृति के प्रारम्भ के रूप मे ग्रहण किया जाता था, वह वस्तुत अधिक प्राचीन और निश्चित रूप से श्रेष्ठतर नागर सस्कृति पर बबरता की विजय थी। हमारी सहज अपेक्षा के अनुसार जहा ऐतिहासिक प्रगति को नया सवेग मिलना चाहिए था, वहाँ हम प्रबल ह्रास के दशन करते ह।

यहा इतिहासकार के सामने एक विचित्र समस्या खडी हो जाती है। सिन्धु सभ्यता के किसी भी अभिलेख को अब तक पढ पाना सम्भव नही हुआ है। इसके अलावा, छाप लगाने के लिए बनी मुहरो पर अकित बिम्बो तथा मिटटी के बतनो के ठीकरो पर उकेरे गये कुछ चिह्नो के रूप मे ही ये अभिलेख उपलब्ध हैं। सिन्धु लिपि अज्ञात है और अब तक पढी नही गयी है। यह लिपि पढी गयी होती तो भी हमे कुछ व्यक्तियो के नाम या व्यापारी सगठनो के तथा एक दो देवताओ के नामो के अलावा अधिक जानकारी नही मिलती। पुरातात्त्विक सामग्री की लिखित दस्तावजो अभिलेखो आदि मे तुलना करने के बाद ही समस्त प्राचीन इतिहास रचा जाता है। सिन्धु घाटी से पुरातात्त्विक सामग्री तो काफी अधिक मिली है परन्तु यहा मे प्राप्त अभिलेखो को पढ पाना अभी तक सम्भव नही हुआ है। किसी भी पुरावशेष के साथ किसी एक भी व्यक्ति अथवा घटना का सम्बध जोड पाना सम्भव नही हुआ है। हम यह भी नही जानते कि सिन्धु सभ्यता के लोग कौन-सी भाषा बोलते थे। दूसरी ओर, जिन बबर आक्रमणकारियो न इस सहस्राब्दी-पूण सस्कृति को पूणत नष्ट कर डाला है उनके भी उल्लेखनीय पुरावशेष नही मिले हैं। इसीलिए पुरान सस्कृत लेखो का कई निर्णायक बातो के बारे मे निश्चित अथ लगाना सम्भव नही हुआ है, क्योकि कुछ महत्त्वपूण शब्दा का विशिष्ट स्थलो अथवा वस्तुओ से जोड पाना सम्भव नही हुआ है। कुछ शब्दो को तो समझ पाना भी सम्भव नही है। सिन्धु सभ्यता के अन्तकाल और नये किन्तु काफी छोटे भारतीय नगरो के सम्भाव्य प्राचीनतम उदयकाल के बीच ६०० वर्षों का स्पष्ट अन्तर है, इसके बाद भारतीय इतिहास का प्रवाह अबाध गति से बहता है। इस अन्तरकाल मे विध्वसक और विध्वस्त दोनो ही इस उप महाद्वीप के एक कोने म, आज के पश्चिमी पाकिस्तान मे, सक्रिय रहे। देश के अय भागो मे खाद्य-सामग्री एकत्र करनेवाल लोगो की अतिविरल आबादी थी और य लोग पाषाण-युगीन कबीलाई गिरोहो के रूप मे अपने-अपने ढग का जीवन बिता रहे थे। भारत के प्रमुख सास्कृतिक विकास की प्रारब्धि को और ईसा पूव दूसरी तथा तीसरी सहस्राब्दी के भारतीय इतिहास-लेखन की सम्भावना को बडी गहरी क्षति पहुची है।



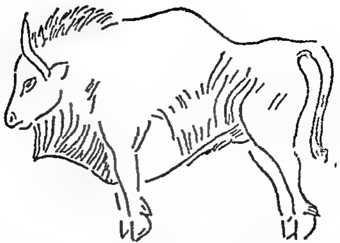
0 100 200 300 400


ति ब्ब त
त्साङ-पो (ब्रह्मपुत्र)
ने पा ल
ब्रह्मपुत्र
गगा
नदी

विपरीत, अमेज़ोन और मिसीसिपी ससार की विशालतम नदियाँ होने पर भी प्रागैतिहासिक काल मे इनके किनारे सभ्यताओ का विकास नही हुआ। अमेज़ोन तट के जगल इतने घने हैं कि आज भी उन्हे साफ करने से कोई विशेष लाभ नही होगा। और अमरीका के मध्य-पश्चिमी प्रदेश के तृणी ढेले इतने मोटे थे कि फौलाद के भारी हल के आगमन के पहले वहाँ खेती करना सम्भव न था। इसी प्रकार भारत की पवित्र नदी गगा के तट पर या इसके समीप ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी तक किसी महत्वपूर्ण शहर की स्थापना नही हुई थी और तब तक सिन्धु घाटी की सभ्यता विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो चुकी थी।

सिन्धु घाटी की सस्कृति कांस्ययुग की थी। यद्यपि छुरी तथा घरेलू औजारो के रूप मे अब भी चट पत्थर के बढिया फलको का इस्तमाल होता था, परन्तु हडप्पा और मोहनजोदडो के सबसे अच्छे औजार कांसे के ही थे, जो मजबूत थे और उपयोगी भी। ये औजार तांबे के नही बल्कि असली कांसे के थे, जो तांबे तथा वग के साथ अल्पमात्रा मे अन्य कुछ धातुएँ मिलाने से बनता था। तांबे की कच्ची धातु राजस्थान से प्राप्त की जाती थी और वहाँ यह इतनी अधिक मात्रा मे उपलब्ध थी कि इस धातु का पश्चिम के देशो को निर्यात भी किया जाता था। बेबीलोनी तथा अन्य पूर्ववर्ती लेख इस निष्कर्ष का समर्थन करते हैं। सिन्धु प्रदेश और इराक के बीच के व्यापार-विनिमय का बडा केन्द्र फारस की खाडी के बहरीन द्वीप मे था। मेसोपोटामिया के आख्यानो का दिलमून यही द्वीप है। यही पर अमर मान जानेवाले सुमेर के पौराणिक शासक नोह जिउसुद्र ने जल प्रलय से बच निकलने के बाद अपने दिन बिताये थे और अमरत्व के रहस्य की खोज मे निकले हुए वीर गिलगमेश ने उसे खोज निकाला था। मिट्टी के फलको पर उत्कीर्ण कीलाक्षर लेखो से जानकारी मिलती है कि अलिक दिलमून नामक एक विशेष श्रेणी के व्यापारी इस बहरीन द्वीप से व्यापार करते थे। आधुनिक खुदाई से यह बात भलीभाति सिद्ध हो चुकी है, यद्यपि करीब १०० ००० कब्रो के टीलो की खुदाई होनी अब भी बाकी है। सिन्धु सभ्यता के नगरो मे और मेसोपोटामिया मे जो बटननुमा गोलाकार कुछ मुहरें मिली हैं वे सम्भवत बहरीन मे ही बनी थीं। बाद मे इन व्यापारियो ने असीरी राजा के विशेष आश्रय मे और उसकी साझेदारी मे व्यापार किया। लाभ का बडा हिस्सा राजा ले लेता था परन्तु वह उनका सबसे बडा ग्राहक भी अवश्य रहा होगा। मेसोपोटामिया के निवासी सिन्धु प्रदेश को सम्भवत मेलुख्ख कहते थे। परन्तु १७५० ई० पू० के बाद मेलुख्ख का कही कोई उल्लेख नही मिलता, जिसका अर्थ यह है कि व्यापारी सम्बन्ध टूट गये थे, सम्भवत आक्रमणकारियो के कारण। दोनो देशो के बीच मे और भी कई व्यापार-केन्द्र थे, जैसे, मगान या मक्कान, जिसकी अभी तक ठीक से पहचान नही हो पायी है परन्तु जो सम्भवत बहरीन

और सपाट पीठवाले 'ऊरस प्रकार के', जो अब भारत से लुप्त हो गये हैं। इन मुहरो पर गडा, हाथी, मेढा तथा सयुक्त रूप मे कई सारे पशुओ की आकृतियाँ भी अकित हैं। यह दलील सही नही है कि इस प्रदेश मे तब अधिक वर्षा होती थी और इसलिए अधिक जगली पशु विचरण करते थे। पजाब मे सोलहवी सदी मे भी गडे पाये जाते थे और उनका शिकार होता था। हिमालय क्षेत्र के हाथियो का सफाया सामन्ती युग मे हुआ। परन्तु सिन्धु सभ्यता की अर्थव्यवस्था मे गडे का कोई महत्त्व नही था, और हाथी को तब तक शायद पालतू नही बनाया गया था। भस भसा, जिनकी भारत मे आज काफी तादाद है, सिन्धु सभ्यता की केवल कुछ ही मुहरो पर उत्कीर्ण हैं। एक मुहर पर भसे द्वारा एक या अधिक शिकारियो का उछालने का दृश्य उत्कीर्ण है अत लगता है कि उस समय तक शायद इसे पालतू नही बनाया गया था। परन्तु इन मुहरो का उद्देश्य अपने समय के पशु जीवन अथवा सामान्य जीवन के चित्रण से भिन्न था। एक मुहर पर पशुओ से घिरे हुए तीन मुहवाले एक देवता—कालान्तर के पशुपति शिव के आदिरूप—की आकृति उत्कीर्ण है। ऐसी दैवी आकृतियाँ कुछ अन्य मुहरो पर भी अकित हैं। एक मुहर पर पाल, डाँडे तथा पतवार सहित एक नौका का दृश्य अकित है। दो मुहरो पर ऐसा दृश्य अकित है जिसमे एक पुरातन और भारतीय विशेषतावाले वीर को अपने दोनो हाथो मे एक-एक व्याघ्र का गला घोटते हुए दिखाया गया है। इन मुहरो पर मेसोपोटामियाई मुहरो के उस दृश्य का प्रभाव स्पष्ट है जिसमे सुमेरी वीर गिलगमेश को सिंहो का गला घोटते हुए दिखाया गया है। सिन्धु सभ्यता की एक मुहर मे गिलगमेश के कई पराक्रमो मे उसके साथी वृषभ मानव एनकिदु को भी पहचाना जा सकता है। इससे भी प्रसगवश भारत और मेसोपोटामिया के बीच के सम्बन्ध सिद्ध होते हैं। इस प्रकार, इन मुहरो का कुछ धार्मिक महत्त्व था। ये छाप लगाने की मुहरें हैं, (मेसोपाटामिया की मुहरो की तरह) गीली मिट्टी की तह पर लुढकायी जाने-वाली बेलनाकार मुहरें नहीं हैं। सामान की पेटियो पर अथवा भरे हुए कलशो पर सुरक्षा के उद्देश्य से इन मुहरो के छाप लगाये जाते थे। चीन की तरह मेसोपोटामिया मे इन छापो का उपयोग दस्तावजो पर हस्ताक्षरो के रूप मे भी होता था। परन्तु सिन्धु सभ्यता के नगरो से मिट्टी के फलको पर या अन्य किसी वस्तु पर ऐसे हस्ताक्षरित दस्तावेज नही मिले है। माल की गठरियो अथवा कलशो को ढककर रस्सी से बाध दिया जाता और फिर गाठो पर मिट्टी का पलस्तर चढाकर उस पर मुहर लगा दी जाती थी। आज यह सब करने पर यदि सील यथावत बना रहता है, तो उससे केवल इतना ही प्रमाणित होगा कि माल मे कोई हेरफेर नही हुआ है। परन्तु प्राचीन काल मे यह सील अवश्य ही किसी न किसी प्रकार के निषेध का सूचक रहता होगा और इस प्रकार माल को सुरक्षित



चित्र ६ ल लोजरी बास्स स्थान से प्राप्त मास के उत्तर हिमयुग के चित्रकार द्वारा खीची गयी वनवृषभ की पूर्व रेखाकृति । चुनी हुयी भूमिगत गुफाओ म चित्रित पशुओ के बडे पमान वाले एसे चित्र जो मूलरेखा के अनुसार हूबहू बनाये गय हैं ऐसी रूपरेखाओ वाले स्थलो से और एक-दूसर से कई सौ किलोमीटर अन्तर के स्थानो पर पाये गये हैं । एसे उत्कीर्णित ककडो से आग बढ़कर ही बाद म सिंधु घाटी की उत्कीण मुहरें बनी हैं ।

रखता होगा । वस्तुत भारत मे इन मुहरा के जो कई छाप मिले है उनके पीछे रस्सी, गाठ अथवा सरकण्डो के निशान नही मिले है। इससे स्पष्ट होता है कि ये सील किसी पासल पर नही लगाये गय थ । सुमेर स विशेष प्रकार की ऐसी भी मुहरें मिली हैं जिनका उपयोग धार्मिक अनुष्ठाना मे होता था (व्यावसायिक मुहरा से ये सिफ इसी माने मे भिन्न हैं कि य कुछ बडी है) । ये सभी मुहरें लगभग उसी आकार के उन छोटे उत्कीण शालग्रामो की परम्परा मे बनी हैं जिन पर यूराप के हिमयुगीन कलाकार स्थूल रेखाचित्र तैयार करते थे । इन स्थूल रेखाचित्रो से ही, बडे पैमाने पर, वे अँधेरी गुफाओ मे वनवृषभ अथवा अय पशुआ के हूबहू चित्र तयार करते थे । प्रतिचित्राकन की इस प्रक्रिया का कोई खास आनुष्ठानिक उद्देश्य और महत्त्व था । बाद म जाकर समाज ने यद्यपि इन अलकृत मुहरा का इस्तमाल पूजा अथवा प्रजनन सस्कार से भिन्न कार्यों के लिए किया, फिर भी इनका मूल ऐन्द्रजालिक आशय ईसा पूव पहली सहस्राब्दी तक नष्ट नही हुआ था ।

सिंधु सस्कृति की सबसे महत्त्वपूण विशषता—उनकी अनाज पदा करन की विशेष पद्धति—का पुनर्निर्धारण करना अत्यावश्यक है। यह काय मिस्र और मेसोपोटामिया की समान स्तर की नदी घाटी सस्कृतियो के साथ तुलना करन स ही सम्भव हो सकता है । सिंधु की द्रोणी मे सिफ दो भव्य नगर थ—मोहन

जोदडो और हडप्पा। इनकी तुलना मे शेष सभी बस्तिया अथवा उनके भग्नावशेष अति लघु है। आशा के विपरीत, ऐसी लघु बस्तिया भी निश्चय ही काफी कम हैं। मिस्र मे नील नदी के प्रथम महाजलप्रपात और इसके मुहाने के दलदल-भरे डेल्टा के बीच म जो सकरी घाटी है, उसमे प्राचीन युग की ज्ञात सघनतम आबादी थी। यहा नदी की ७५० मील लम्बाई म दस हजार वगमील से भी कम क्षेत्र म अत्यन्त पुरातन पद्धति के कृषि उत्पादन से रोमन-काल मे ७० लाख लागो का भरण पोषण होता था इतना ही नही, बचा हुआ अनाज न केवल रोमवासियो के काम आता था बल्कि भूमध्य सागर के अन्य देशो के साथ उसका व्यापार म भी इस्तेमाल होता था। दोनो ओर की उजाड पथरीली चट्टानो के बीच म नील नदी की घाटी ३० मील से अधिक चौडी नही है। इसमे भी खेती-योग्य जलोढ मिट्टी की भरती का विस्तार कभी भी १० मील से अधिक नही रहता। परन्तु नील नदी की भीषण वार्षिक बाढ मिट्टी की नयी भरती डालती रहती है, हालांकि इसमें सहायक सिद्ध हो सकनेवाली वर्षा का खास मिस्र मे करीब-करीब अभाव ही है। मेसोपोटामिया म ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरकाल मे नहरो के पानी स खेता की सिचाई होती थी। यह प्रदेश सिन्धु द्रोणी के प्रदेश से छोटा था, और उससे अधिक उपजाऊ भी नही था, फिर भी यहाँ एक दजन से अधिक प्रमुख और कई छोटे छोटे नगर थे। प्रत्यक नगर तथा उसके पश्च प्रदश का अपना एक राज्य था, अपने अपने उद्योगधधे और व्यवसाय थे। और य नगर अक्सर एक दूसरे से लडते रहत थ। क्या कारण है कि सिन्धु प्रदेश म केवल दो ही बडे नगर थे, और उनके साथ फरनो जसे भव्य स्मारक और मसोपोटामिया जसे बहुत-सारे नगर टीले नही मिलत ?

इसका उत्तर यह जान पडता है कि सिन्धु प्रदश के लोग नहरो से सिंचाई नही करते थे और न ही उनके पास भारी हल था। सिन्ध और पजाब मे आज कृषि की जो स्थिति है वह इन्ही दो आधुनिक साधनो के कारण है। केवल बाढ की सिचाई से अधिक खेती सम्भव नही है, यद्यपि जहाँ बाढ से उपजाऊ मिट्टी जमा हो जाती है वहाँ गहरी जुताई के बिना भी बढिया उपज होती है। यही वजह है कि सिन्धुलिपि मे आमतौर से पाया जानेवाला हगी का भावचित्र तो पहचान मे आ जाता है (कुछ लोग इसे उँगलियो सहित हाथ का चित्र भी मानत ह), किन्तु इसमे हल के लिए कोई चिह्न नही है। इस प्रदेश मे अब केवल पाच बडी नदियाँ हैं इसीलिए इसे पजाब (पच-आप) यानी पाच नदियो का प्रदेश कहते है। प्राचीन काल मे इस प्रदेश मे सात बडी नदिया थी, जिनम से दो—घग्घर और सरसुति—सूख गयी हैं। सिन्धु नदी मे प्राकृतिक बाढें आज भी आती है। यहा की बाढ से सिचित भूमि आज भी सर्वाधिक उपजाऊ है, यद्यपि यहा मिस्र की तरह बाढ स गहरी मिट्टी जमा नही होती और यह उतनी उवर

भी नहीं है। जान पड़ता है कि सिंधु घाटी के लोगों ने बाढ़वाले क्षेत्र का विस्तार कर लिया था, परंतु यह उन्होंने नहरें खोदकर नहीं बल्कि बहाव रोकने वाले बांधों का निर्माण करके किया। कभी-कभी ये बांध मौसमी भी होते थे। फसल से प्राप्त अतिरिक्त अनाज को इन प्रमुख नदियों के रास्ते ऊपर या नीचे दो प्रमुख राजधानियों को भेजा जा सकता था। इन राजधानियों में अनाज की सफाई-कुटाई तथा वितरण के लिए धान्य कोठार बने हुए थे। इस अतिरिक्त उपज से ही व्यापारियों तथा नाविकों का, आलीशान मकानों और गरीब बस्तियों में रहनेवालों का, घरेलू उपयोग और विदेशों में बिक्री के लिए चीजें तैयार करने वाले कारीगरों का और नगर-सफाई का काम करनेवाले निम्न वर्ग के लोगों का भरण-पोषण होता था। जान पड़ता है कि सिन्धु नगरों के लगभग उदयकाल से लेकर अंतकाल तक अतिरिक्त अनाज की यही स्थिति कायम रही। सिंधु संस्कृति की विशेषता यह है कि इसने न तो नये नगरों को जन्म दिया, न यहां मिस्र की तरह राजवंशों में सुविख्यापित परिवर्तन हुए, और न ही ये लोग बड़ी संख्या में गंगा के उतने ही उपजाऊ किन्तु वनाच्छादित मैदान में फैले।

३.३ सिन्धु सभ्यता की प्रमुख विशेषताएं

अब समस्या है उन तरीकों के बारे में कुछ तर्कसंगत अनुमान लगाने की जिनके द्वारा उत्पादकों से अतिरिक्त अनाज वसूल किया जाता था। इसके लिए यह देखना जरूरी है कि ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मिस्र और मेसोपाटामिया के विकासक्रम से सिंधु घाटी के नगर ठीक किन अर्थों में भिन्न थे। तब इन भिन्नताओं का स्पष्टीकरण सिंधु समाज के पुनर्निर्धारण का एक तरीका हो सकता है।

जैसाकि पहले कह चुके हैं, पहली बात है—महती परिवर्तनों का अभाव। लगता है जैसे दोनों नगर पूर्ण नियोजन के साथ प्रकट हुए हों। जहां तक पता चलता है, दोनों की मूल योजना एक सी है। सिंधु सभ्यता के अन्तकाल तक दोनों नगरों में परिवर्तन नहीं हुए। मिट्टी के बर्तन, औजारों की बनावट और मुहरें एक सी बनी रहीं। लिपि में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसके सर्वथा विपरीत भारत के ऐतिहासिक युग में हर सदी में अक्षरों के स्वरूपों में इतना अधिक परिवर्तन होता रहा कि पाण्डुलिपियों अथवा अभिलेखों की तिथि निर्धारण के लिए लिपि एक काफी अच्छा साधन—कभी-कभी तो एकमात्र ज्ञात साधन—सिद्ध होती है। इन नगरों का भूस्तर धीरे-धीरे ऊंचा होता गया। मोहनजोदड़ो में हर साल आनेवाली बाढ़ की सीमा के ऊपर तक मकान की निचली मंजिलों को भर दिया जाता, और फिर ऊपर नयी मंजिलें बनायी जातीं। कुछ मकान अपने-आप ढह जाते, तो उनके समतल किये गये मलबे पर नये मकान बनाये जाते थे। सड़कों की सतह भी ऊंची होती गयी। लेकिन इनकी योजना ज्यों

की-त्या बनी रही। इसी प्रकार, पुरानी दीवारा पर अथवा कमरे के उसी ढाचे पर थोडे-बहुत परिवतन के साथ और अधिक ऊँचे मकान खडे कर दिये जाते थ। बढाते-बढाते इटा के मूल घेरे पर कुएँ इतने ऊपर उठ गय हैं कि आज अधिकाधिक गहरी खुदाई करते जाने पर वे कारखाना की चिमनियाँ-जैसे दिखायी देते हैं। ह्रास और अव्यवस्था के चिह्न केवल अंतिम अवस्था म ही दृष्टिगोचर होते हैं। ऊपरी स्तर के कुछ मकान, जो बतरतीब और घटिया सामग्री से बने हैं, सडका पर चले आये हैं। इसका अथ यह है कि नगर के ऐसे मुहल्ले तब तक ध्वस्त हो चुके थे। आँवें, जो पहले किसी भी स्तर म नगर के भीतर नहीं दिखायी देत, वे अब नगरसीमा के भीतर लगाये जाने लगे। इटो के भट्ठे कही नही दिखायी दिय। नगर के एक हजार वर्षों के समृद्धिकाल म य इटें कहीं दूर ऐसे स्थान पर तैयार की जाती थी जहाँ ईंधन सुविधा से उपलब्ध था। वहाँ से बलगाडियाँ अथवा नावा द्वारा ये ईंटें महानगर मे लायी जाती थी। लकडी बडी-बडी नदियो के रास्ते हिमालय से लायी जाती थी। अन्तिम दौर मे बन मकानो म कुछ पुराने इमारती सामान का और धूप म सुखायी गयी बिना पकी इटो का इस्तेमाल किया गया है। सिन्धु सभ्यता के इस एक हजार वर्षों के काल म मिस्र मे पूरे एक दजन राजवशो ने शासन किया, अक्कदियो ने सुमेर पर अधिकार कर लिया, सारगोन महान ने एक साम्राज्य की स्थापना की जो उसके उत्तराधिकारियो के हाथा नष्ट हो गया। इस कालावधि मे मेसोपोटामिया के प्रत्यक नगर के ढाचे मे महत्त्वपूर्ण परिवतन हुए, परन्तु भारतीय नगर यथावत् बने रहे।

दूसरी विशेषता यह है कि उन दो समान्तर संस्कृतियो की तरह सिन्धु नगरा म सावजनिक स्मारक या सजावट देखने को नही मिलती। अपवाद सम्भवत एक ही है। कोई बडा सथागार तो नही मिला है परन्तु मोहनजोदडो मे स्तम्भयुक्त पाश्व अथवा प्रकोष्ठवाला जो ७० मीटर लम्बा मण्डप मिला है, उसका उपयोग सम्भवत सावजनिक काय के लिए होता था। सिन्धु नगरा मे न कोई अभिलेख मिले हैं, न सूच्याकार स्तम्भ अथवा मूर्तियाँ, और न ही किसी प्रकार का कोई जनादेश प्राप्त हुआ है। कुछ आलीशान मकानो की दीवारें सात फुट चौडी हैं, भलीभाँति पकी हुई ईंटा की हैं, जिससे जाहिर होता है कि य मकान कई मंजिला के थे। परन्तु नदी-तट की अन्य समकालीन सभ्यताओ के राजप्रासादा अथवा मन्दिर-समूहा की शान निराली ही थी। जहा तक पता चला है, सिन्धु नगरा मे सडक की ओर की दीवारें बिना किसी सजावट के सपाट होती थी। पच्चीकारी, भित्तिचित्र, चमकदार खपडे, खास तौर से तैयार की गयी प्रतिमायुक्त इटें, गचकारी, यहा तक कि अलंकृत द्वार भी यहा देखने को नही मिलते। सामान्यतया घर का प्रवेशद्वार बगल की गली की ओर रहता था और यह दरवाजा भी सँकरा होता था ताकि आसानी से बन्द किया जा सके।

अन्य शब्दो मे, इन मकानो म निहित सम्पत्ति का उस प्रकार सजावटी प्रदशन नही होता था जैसाकि मन्दिरो मे अथवा सैनिक विजय के वृथागौरव मे होता रहा है। साथ ही, इनकी सचित धन सम्पदा असामाजिक तत्त्वो या लुटेरो से पूरी तरह सुरक्षित नही थी। नगर पर जिस किसी का भी शासन रहा हो, पर समुचित सुरक्षा व्यवस्था का अभाव था।

इससे तीसरी प्रमुख विशेषता सामने आती है—प्रबल प्रहारी साधना की विस्मयकारी कमजोर व्यवस्था। मोहजोदडो से प्राप्त हथियार वहां के वढिया औजारो की तुलना मे कमजोर हैं। भाले पतले और पशका-रहित हैं, पहले जोरदार आघात मे ही इनकी नोक मुड जाती होगी। तलवारें बिलकुल नही मिलती। जो कठोर चाकू और कुल्हाडे मिले हैं वे हथियार नही बल्कि औजार हैं। धनुधर के लिए तो एक भावचित्रात्मक सकेन अस्तित्व मे आ गया था, परन्तु तीरो के फलक कासे के नही, पत्थरो के होते थे। प्रजा पर शासन करनेवाली सत्ता जो भी रही हो, वह अधिक बलप्रयोग नही करती थी। दोनो ही नगरो मे एक ओर दुग के टीलें हैं, हडप्पा मे कालातर मे इसकी किलेबन्दी कर दी गयी थी। आरम्भ मे यहा एक दस मीटर ऊँचे कृत्रिम चबूतरे पर बिना किलेबन्दी के ही कुछ भवन आदि बनाये गये थे। चबूतरे की भित्तिया के साथ ढलानवाले माग बने हुए थे, जो सस्कार-समारोहो के लिए तो सुविधाजनक थे, परन्तु सुरक्षा की दृष्टि से निरुपयोगी थे।

सिन्धु सभ्यता मे परिवतन का अभाव केवल आलस्य अथवा रूढिवादिता के कारण नही है, इसके अधिक गहन कारण हैं। यहाँ लोग सीखने के प्रति जान बूझकर उदासीन रहे जब कि नये-नये प्रयोग करते रहने से स्थिति मे बडा सुधार होता। सिन्धु प्रदेश के व्यापारी बेबीलोन और सुमेर मे नहरो से होनेवाली सिंचाई से निश्चय ही परिचित थे। सिन्धु प्रदेश के विमान स जो चित्र उतारे गये हैं उनमे सिंचाइ के आधुनिक साधना के अलावा कोई नहरें नजर नही आती। वे लोग खुली भटठी मे ढाली गयी कासे की साधारण कुल्हाडी का ही एक औजार के रूप मे इस्तमाल करते रहे, जबकि सिन्धु सभ्यता के कारीगर निश्चय ही ऐसे कुल्हाडे और बसूले बनाने म समथ थे जिनमे लकडो के हत्थे डालने के लिए कोटर या छेद बने हो। इस प्रकार के औजारा के नमूने केवल ऊपरी सतहा मे ही मिले हैं, और ये निर्विवाद रूप से उत्तर पश्चिम की ओर से आये हुए उन आक्रमण कारियो के हैं जिनकी (भारत से बाहर की) कब्रो म ऐस औजार प्राप्त हुए हैं। यही हाल तलवार-जस अधिक सक्षम हथियारा का है, सिन्धु सभ्यता मे इनका आगमन बाहर स हुआ।

सिन्धु नगरा के लिए कोई पूववर्ती उदाहरण न मिलना, पहली बार इनकी नीव पडना और एकाएक एक दो सदी म ही, इनका बनकर तैयार हो जाना,

इस बात का सूचक है कि इनके निर्माण की प्रेरणा बाहर से मिली है। इनका दीर्घकालीन परिवर्तन-रहित स्थायित्व यही सिद्ध करता है कि, इनके जिस रूप को विकसित किया गया था वह स्थानीय परिस्थितियो के अनुरूप था। यह विकास भी इतनी द्रुतगति से हुआ कि, सिन्धु प्रदेश के पश्चिम तथा उत्तर पश्चिम मे बलूचिस्तान मे जिन प्रागैतिहासिक गावो के पुरावशेष मिले हैं उनसे इनका क्रमश उदय होना सम्भव नही जान पडता। बलूची शैली के मृत्भाण्ड हडप्पा की नीव के ठीक नीचे तो मिले हैं, पर स्वय नगर मे नही मिले हैं। नगर निर्माता परदेशियो ने बडी सख्या मे आक्रमण नही किया था। सिन्धु सभ्यता के स्थापत्य और सामान्य शिल्प की अपनी कुछ खास विशेषताएँ हैं, सुमेरिया जैसी विस्तृत नागर सस्कृति से इन्हे ग्रहण नही किया गया। साथ ही जैसाकि पहले बताया जा चुका है, सिन्धु नगरो मे स्थानीय पद्धति से बनी हुई कुछ पुरातन (गिलगमेश एनकिदु) सुमेरी प्रकार की मुहरें भी मिली हैं। लेकिन ये सुमेरी लोग भी दजला फरात नदीतटो के मूल निवासी नही थे, ये मूलत किसी पहाडी प्रदेश से आये थे। उनके प्रमुख मन्दिर, जिन्हे जिगुरात या जिक्कुरात कहते हैं, ७० फुट या इससे भी अधिक ऊँचे कच्ची इटो के चबूतरो पर बनाये गये थे। ये चबूतरे वस्तुत कृत्रिम पहाडिया ही थी। मेसोपोटामिया के नगरो (हस्सुना) के निम्नतम स्तरो के नीचे जिस प्रकार के आदिकालीन मृत्भाण्ड मिले हैं, वैसे भाण्ड ईरानी पठार के उदाहरणार्थ, जेरमो स्थान के, ईसा पूर्व पाचवी सहस्राब्दी मे किसाना के भी मिले हैं। यही स्थिति मिस्र की है। जान पडता है कि, जिन लोगों ने पहली बार शक्तिशाली मिस्री राज्यो की नीव डाली थी, वे बाहर से आये थे। मिस्र (गेबेल-अल अरक) से प्राप्त एक प्रागैतिहासिक छुरे की अद्भुत मूठ पर अंकित दृश्य, जिसमे एक मल्लयोद्धा को दो सिहो का गला घोटते हुए दिखाया गया है पुन एक बार गिलगमेश की कथा का स्मरण कराता है। यह [illegible] उस काल का है जब नील घाटी मे नगरो का विकास अभी-अभी शुरू हुआ था फिर भी इसकी एक विशेषता है इसमे सिंहहन्ता को ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है जैसा मिस्रवासी कभी नही पहनते थे। सुमेरी और [illegible] एकदम नग्न हैं। कला मे इस प्रकार की बाह्य प्रवृत्तिया इस बात की स्पष्ट सूचक हैं कि इन महान सस्कृतिया के बीज बाहर से लाये गये थे। फिर भी जिन तीन नदी घाटी सस्कृतियो की हमने तुलना की है वे [illegible] भिन्न भिन्न स्थानीय परिस्थितिया के कारण, [illegible] के रूप मे विकसित हुई।

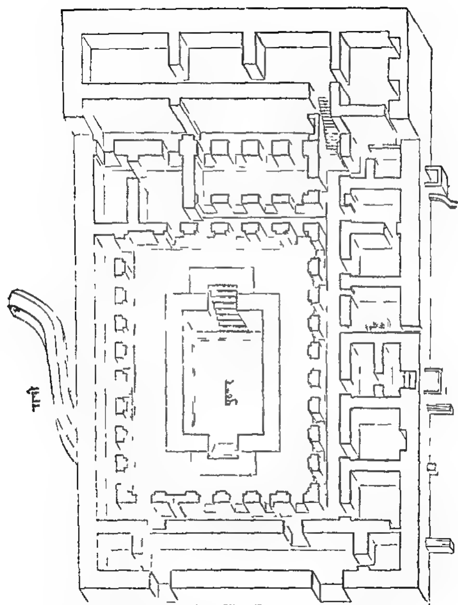
इसकी सर्वोत्तम व्याख्या निम्न प्रकार [illegible] है। इन शक्तिशाली नदी घाटी सस्कृतियो का जन्म [illegible] किन्तु विकसित क्षेत्र अथवा क्षेत्रो से आये थे। [illegible] के लिए

उनकी अज्ञात मूल भूमि मे और अधिक विस्तार के लिए स्थान नही रहा होगा, और विकसित इसलिए कि इन तीनो ही महान सभ्यताओं के निर्माताओं को कृषि, इंट निर्माण, मकानो के निर्माण तथा इनके समुचित नियोजन और बाढ बहुत सैनिक तन्त्र का ज्ञान था। सैनिक तन्त्र की आवश्यकता दो कारणो से थी। कभी कभी पानी के लिए लडाई करनी पडती थी। मरुप्रदेश से बहनेवाली नदियों की विस्तीर्ण जलोढक घाटियो मे कृषि के होने मात्र से ही आहार-संग्राहकों को अन्न-उत्पादक नही बनाया जा सकता था। भारत के परवर्ती युगो मे भी परिवर्तन को इसी समस्या का बार बार सामना करना पडा है। आहार संग्राहकों की अपेक्षा अन्न-उत्पादकों की वृद्धि अधिक तेजी से होती रही और वे अधिकाधिक क्षेत्र पर अधिकार जमाते गये। इससे दोनो के बीच सशस्त्र संघर्ष होना स्वाभाविक ही था। फिर वह समय भी आया जब यह आनुषंगिक खोज हुई कि अधिक मजदूरो की जरूरत को शस्त्रबल द्वारा, अर्थात दास बनाकर, जल्दी पूरा किया जा सकता है।

इन प्राथमिक संस्कृतियो के सम्भाव्य मूल अथवा कम से-कम आदिरूप चताल हुयुक (अनातोलिया) और जेरिको (फिलस्तीन) के ईसा पूर्व सातवी सहस्राब्दी के प्राचीन स्तरो मे खोजे गये हैं। इनमे से पहले स्थल पर एक छोटा सा शहर था, जिसमे मकान पूरी तरह एक-दूसरे से सटे हुए थे और मकान मे उतरने के लिए ऊपर छत मे बने 'द्वार' से सीढ़ियाँ डालने की व्यवस्था थी। टोकरियो के अनुकरण पर मिट्टी के बर्तन अभी अभी बनने शुरू हुए थे। पत्थर की मूर्तियाँ बनती थी और उनकी पूजा होती थी। जेरिको मे मृत्भाण्ड पूर्व नव पाषाण युग का प्रस्तर खण्डो से निर्मित एक अद्भुत किलाबन्द बुर्ज मिला है। यह बुर्ज झरने की रक्षा के लिए आवश्यक था, क्योकि उस शुष्क प्रदेश मे पानी का यही एकमात्र स्रोत था। यह आवश्यक नही है कि इन दोनो मे से कोई भी स्थल नील घाटी की, मैसोपोटामिया की अथवा सिन्धु घाटी की सभ्यता का निकटतम स्रोत रहा हो। अभी तक ऐसा कोई प्रमाण नही मिला है जिससे इनके बीच किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सिद्ध हो। पुरातात्विक विधियो को इनके बीच के दिक और काल के अन्तर को भरने के लिए अभी काफी समय लगेगा। जो भी हो निरन्तर विकसित होकर बडे नगर-राज्यो मे रूपान्तरित होने मे बाधक होने वाले अनुपयुक्त प्रदेशो मे आबाद ये आरम्भिक छोटी कृषक बिरादरियाँ ही वह अपरिहार्य बीज है जिससे कालान्तर मे नदी घाटियो की वैभवशाली सभ्यताओं का उदय हुआ।

३ ४ सामाजिक ढाँचा

सिन्धु नगरो के सामाजिक स्वरूप के बारे मे कुछ कहने के पहले इन दोनो नगरो की एक और खास विशेषता का उल्लेख आवश्यक है। सर्वोत्तम भवन



चित्र ७ मोहेंजोदडो के विशाल स्नानागार का विन्यास (पुनर्निर्मित)

समूह के समीप ही, किन्तु एक १० मीटर ऊँचे ईंटों के चबूतरे पर बने धनी लोगों के मकानों से स्पष्टतः पृथक, 'दुर्ग' का टीला है। दोनों नगरों के टीले समान आकार के और आयताकार हैं। हड़प्पा के टीले का आधुनिक काल में ईंटों की खदान के रूप में इस्तेमाल हुआ है, इसलिए यह नष्ट हो चुका है। और, मोहनजोदड़ो के इस टीले के एक भाग पर ईसा की दूसरी सदी का एक बौद्ध-स्तूप आज भी मौजूद है। यदि मान लें कि टीले पर बने भवनों की योजना तथा इनका विन्यास एक-सा था, तो यह स्पष्ट होता है कि आरम्भ में इन भवनों का इस्तेमाल सार्वजनिक कार्यों के लिए होता था, न कि सैनिक कार्य के लिए। किलाबन्दी बाद में हुई। मोहनजोदड़ो में इस स्थान पर अनेक कमरों वाला एक ऐसा भवन मिला है जो शुरू में कई मंजिलों का था। इसके भीतरी खुले प्रांगण में करीब २३ × ३९ फुट का ८ फुट गहरा एक आयताकार कुण्ड है। इसमें ईंटों की बढ़िया चुनायी हुई है, और कुण्ड की दीवार के मध्य में जलावरोधक डामर की एक परत है। कुण्ड के तल तक पहुंचने के लिए दोनों सिरों पर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, जिन पर आरम्भ में लकड़ी के तख्त बिछे हुए थे। कुण्ड को सम्भवतः साफ करने के लिए ही एक बढ़िया नाली द्वारा इसके पानी को बाहर निकालने की व्यवस्था की गयी थी। प्रांगण के समीप के ही एक कमरे में कुआँ बना हुआ था, जिससे परिश्रमपूर्वक पानी निकालकर इस 'स्नानागार' को भरा जाता था। शेष जो कमरे हैं उनके द्वार आमने-सामने नहीं हैं, कुछ कमरों में पहली या और ऊपर की मंजिलों तक पहुंचने के लिए सीढ़ियां बनी हुई हैं। यह 'विशाल स्नानागार' नहाने-धोने के लिए नहीं बना होगा, क्योंकि हर मकान में बढ़िया गुसलखाने और अच्छे कुएँ थे, और सिन्धु नदी दुर्ग के टीले के पास से ही बहती थी। निश्चय ही इस स्नानागार का सम्बन्ध ऐसी किसी विस्तृत संस्कार-विधि से रहा होगा जिसका वहां के निवासियों के लिए विशेष महत्त्व था।

कालान्तर के प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलनेवाले संस्कार-कुण्डों के उल्लेखों का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाये, तो इस 'स्नानागार' का मूल प्रयोजन काफी हद तक स्पष्ट हो जायेगा। संस्कृत में इन्हें 'पुष्कर' अर्थात कमलताल कहते हैं। पूरे ऐतिहासिक युग में ऐसे कृत्रिम ताल बनाये गये हैं, पहले स्वतन्त्र रूप में, बाद में मन्दिरों के समीप। ऐसे ताल या कुण्ड आज भी बनाये जाते हैं। स्पष्ट है कि प्राकृतिक कमलताल से काम नहीं चलता था। धार्मिक संस्कार से सम्बन्धित स्नान तथा शुद्धिकरण के अलावा ऐसे पुष्कर प्राचीन काल में राजाओं और पुरोहितों के अभिषेक के लिए भी आवश्यक थे। भारतीय राजा का अभिषेक होता था, यूरोप की तरह 'अभ्यंजन' नहीं। इसके अतिरिक्त, तीर्थस्थानों में सीढ़ियां (आधुनिक भारतीय घाट) विशेष रूप से पायी जाती हैं। धार्मिक स्थल के लिए 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है

कि प्रारम्भ मे जल को पार करने के लिए घाट उतरना पडता था। ये दो विशेष ताएँ मोहनजोदडो के 'विशाल स्नानागार' को कालान्तर के भारत के पवित्र पुष्करो से भलीभाँति जोड देती हैं। परन्तु प्राचीनतम उल्लेखो मे पुष्कर के एक तीसरे प्रयोजन का भी वणन है, जो इसे आदिम प्रजनन सस्कारो से जोडता है। ये पुष्कर सामायत जल-विहारिणी अप्सराओ के क्रीडास्थल माने जाते थे। जमाकि वणन है, ये अप्सराएँ अनुपम सुदरियाँ होती थी, और वीर पुरुपो को आकर्पित करके उनके साथ समागम करती थी और इस प्रकार अत मे उन्हे पतन की ओर ले जाती थी। ये जल विहारिणी सुन्दरियाँ नृत्य और गायन मे भी पारगत होती थी। इन अध-देवी अप्सराओ के अपने अपने नाम थे और प्रत्येक अप्सरा एक विशेप क्षेत्र से सम्बन्धित होती थी। अनक प्राचीन भारतीय राजवश किसी न किसी अप्सरा के साथ किसी वीर के अस्थायी समागम से उत्पन्न हुए माने जात हैं। य अप्सराएँ किसी के साथ विवाह करके स्थायी सामान्य गृहस्थ जीवन नही बिता सकती थी। इससे मोहेंजोदडो के 'विशाल स्नानागार' के साथ कुछ विचित्र ढग से निर्मित कमरो की उपयोगिता पर प्रकाश पडता है। यह व्यवस्था उस सस्कार की अग थी जिसम पुरुप न केवल कुण्ड के पवित्र जल मे स्नान करते थे बल्कि मातृदेवी का प्रतिनिधित्व करनेवाली उन देवदासियो के साथ सम्भोग भी करते थे। ये देवदासियाँ दुग के भवन-समूह मे रहती थी। यह निष्कप खीच-तानकर नही निकाला गया है। सुमेर-बेबीलोन के इश्तर के मन्दिरो मे ऐसी ही प्रथाएँ थी, जिनमे बडे परिवारो की लडकियो को भी भाग लेना पडता था। स्वय देवी इश्तर एक चिरकुमारी होने के साथ-साथ वारागना भी थी, मातृदेवी थी, परन्तु किसी देवता की पत्नी नही थी।[1] वह नदी की भी देवी थी। वास्तव मे सिन्धु प्रदेश का दुग का यह टीला मेसोपोटामिया के जिक्कुरात का ही प्रतिरूप है। मातृदेवी का अस्तित्व मिट्टी की उन छोटी किन्तु डरावनी मूर्तियो से भी सिद्ध होता है जिनमे स्त्रियो को सिर को पूरी तरह ढकने-वाले पक्षीरूप भारी मुखौटे डाले हुए दर्शाया गया है। ऐसी मूर्तियाँ प्राक-सिन्धु गावो के भग्नावशेपो मे और इन दो सिन्धु नगरो मे भी मिली हैं। ये मूर्तियाँ महज गुडिया या खिलौने नही हैं बल्कि किसी ऐसी देवी की मूर्तियाँ हैं जो जन्म और मृत्यु की अधिष्ठात्री मानी जाती थी। उसकी बडी मूर्तियाँ बनाने की आवश्यकता नही थी, क्योकि प्रतिमा के बिना ही उसकी ओर से उसकी देव-दासियाँ सभी आवश्यक सस्कार विधियाँ पूरी कर देती थी।

अब इस स्थिति की मिस्र और मेसोपोटामिया के साथ तुलना करके देखना जरूरी है। सिद्धान्त रूप से मिस्र का फरून एक दैवी शासक था, राज्य की भूमि

१ इश्तर का एक पति था और उसका नाम था तम्मुज या दुम्मुजी—अनुवादक

का अधिनायक था। परन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि वह बहुसंख्यक शस्त्रधारी कुलीन-वर्ग और उससे भी बड़े पुरोहित वर्ग के सहयोग से ही शासन कर सकता था। नील नदी की सकीर्ण घाटी में उसके शासन का एक आवश्यक प्रयोजन था। खाद्य सामग्री के अलावा शेष सारा आवश्यक कच्चा माल—इमारती लकड़ी, खनिज या धातुएँ आदि—बड़े प्रयास से, और कभी-कभी तो सैनिक अभियान से भी, आयात करना पड़ता था। आयात के बाद उस माल का बँटवारा करना जरूरी होता था। अलग अलग गाँव यह सब करने में असमर्थ थे, क्योंकि कार्यों और सामग्री के बँटवारे का सचालन बिना किसी झगड़े के होना जरूरी था। यह सचालन और बँटवारा—और आवश्यकता पड़ने पर आक्रमण और युद्ध भी—फरऊन का मूलभूत कार्य था। यही कारण है कि फरऊन के शासन और स्मृति से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का, जैसे पिरामिडों का, निर्माण भव्य स्तर पर किया गया है। चूँकि सिन्धु प्रदेश में ऐसे स्मारक नहीं मिले हैं, इसलिए हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यहाँ पर दैवी युद्ध-नायकों का वंशानुगत शासन नहीं था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है सिन्धु नगरों में किसी राजप्रासाद के अवशेष नहीं मिले हैं और जो हथियार मिले हैं वे बहुत थोड़े और कमजोर हैं। किसी महान विजेता की स्मृति में खड़ा किया गया कोई भी स्मारक मोहेंजोदड़ो या हड़प्पा में नहीं मिला है। कुछ प्रसिद्ध अंग्रेज पुरातत्त्वविदों ने इन दो बड़े सिन्धु नगरों को एक साम्राज्य की उत्तरी और दक्षिणी राजधानियाँ माना है। उनका यह मत न केवल मिस्र के सादृश्य पर, बल्कि सम्भवत उनकी इस भावना पर भी आधारित है कि भारत में इतनी विकसित किसी भी वस्तु का अस्तित्व केवल एक सुदृढ़ साम्राज्यी शासन (अंग्रेजों जैसे) के फलस्वरूप ही सम्भव है। इस मत पर और टिप्पणी अनावश्यक है।

मेसोपोटामियाई संस्कृति सिन्धु सभ्यता के अधिक समीप थी। मिस्रियों की तरह आर्थिक आवश्यकताओं के लिए उन्हें दूसरे देश जीतने की जरूरत नहीं थी और आन्तरिक बँटवारे के लिए किसी प्रबल केन्द्रीय सत्ता की भी जरूरत नहीं थी। मेसोपोटामियाई अर्थव्यवस्था में व्यापार ने (यह व्यापार पूर्व और पश्चिम के देशों के अलावा अफ्रीका तट के देशों के साथ भी चलता था) बड़ी महत्त्व की भूमिका अदा की है। परन्तु जहाँ मेसोपोटामियाई नगर में कई मंदिर होते थे, जिनकी अपनी भूमि थी और जो व्यापार में भी भाग लेते थे, वहाँ सिन्धु नगर में केवल एक जिक्कुरात टीला मिलता है और आम लोगों के लिए किसी प्रभावशाली या लोकप्रिय धार्मिक स्थल के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता, फिर घरेलू या पारिवारिक पूजा संस्कारों का चाहे जो भी स्वरूप रहा हो। मेसोपोटामिया में व्यापारियों का ऊँचा स्थान था, भूमि दास पशुधन तथा अन्य सामग्री के रूप में उनके पास प्रचुर सम्पत्ति थी परन्तु उनके मकान वैभवशाली

सिन्धु नगरो के मकाना-जैसे नही थे और उनकी साफ-सफाई की व्यवस्था भी खराब थी। उनके उत्तराधिकार के नियमो, अनुबन्धो, कर्जों तथा बन्धका के बारे मे हमे काफी जानकारी मिलती है। परन्तु सिन्धु सभ्यता का ऐसा कोई दस्तावेज नही मिला है। यह भी एक बडी पहेली है कि सिन्धु सभ्यता के व्यापारी मेसोपोटामिया के साथ व्यापार करते थे, फिर भी उन्होंने वहाँ की लेखन-पद्धति—मिट्टी के खपडो या फलको पर नुकीली कील से अक्षर उकेरने की पद्धति—का नही अपनाया। क्या कारण है कि उन्होंने विदेश के बेहतर औजारा को नही अपनाया? खेती के लिए नहरो की सिचाई और गहरी जुताई का सहारा क्या नही लिया? कुछ सिन्धु व्यापारिया ने फरात तट के समीप इस पद्धति से उपजाई गयी बढिया फसल अवश्य ही देखी होगी। इसका यही उत्तर हो सकता है सिन्धु प्रदेश के व्यापारी को इन सुधारो को अपनाने मे कोई लाभ नजर नही आया होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त भूमि महान मन्दिर तथा उसके पुरोहित-समुदाय की सम्पत्ति रही होगी, और इसका बन्दोबस्त भी सीधे उन्ही के हाथ म था। एक बार प्रतिष्ठित हो जाने पर, प्राचीन जगत के अधिकाश पुरोहितो की तरह, इन्होन भी हर नयी पद्धति का विरोध किया होगा। इन पुरोहिता को परिवतन की जरूरत नही थी, और व्यापारियो के लिए परिवतन लाभप्रद नही था। मसोपोटामिया मे एक शक्तिशाली लौकिक शासक, इशक्कु, होता था, जो युद्ध के समय नगर की सेना का नेतृत्व करता था और जो अन्तत एक दवी अथवा अध-दैवी राजा बन गया था। वह अपने नगर के मन्दिरा की शासन-व्यवस्था मे अधिक दखल नही देता था, परन्तु विजित नगरो मे मनमानी करने की उसे पूरी स्वतन्त्रता थी। सिन्धु प्रदेश मे ऐसी राजप्रथा के भी प्रमाण नही मिलते। राजपद अत्यावश्यक ही नही था। खेतीहर किसान विशेष बलप्रयोग के बिना ही अपना अतिरिक्त अनाज सौप देते थे। सिन्धु समाज का मूलभूत वैचारिक बल शक्ति-प्रदशन अथवा हिंसा मे नही बल्कि धम म निहित था। यही बात कालान्तर के कई युगा के भारतीय समाज के बारे मे भी दोहरायी जा सकती है। शान्तिमय धार्मिक गतिहीनता के मध्य बीच बीच मे युद्ध, आक्रमण, विजय और अराजकता क प्रचण्ड दौर—यही रहा भारतीय इतिहास का स्वरूप। सिन्धु प्रदेश म यह गतिहीनता दीघकाल तक टिकी, अडिग रही।

यहाँ के व्यापारी अपनी सम्पत्ति अपनी हवेलियो की सुदृढ चारदीवारी के भीतर जमा करन म स्वतन्त्र थे, परन्तु ऐसा एक भी मकान नही मिला है जिसे हम सही माने म महल या राजप्रासाद कह सकें, ऐसा भी कोई भवन नहीं मिला है जो आकार प्रकार और महत्त्व म दूसरा से काफी बढा चढा हो। इसका अथ यह है कि सिन्धु प्रदेश के व्यापारियो पर हल्के कर लगाये गये थे, और मेसोपोटामिया के व्यापारिया की तुलना मे वे निश्चय ही कही अधिक मुनाफा कमाते

थे। ऐसा कोई राजा नही था जो व्यापार मे बडा साझेदार बनकर उनका अधिकाश मुनाफा हथिया ले। दूसरी ओर, सनिक सुरक्षा की व्यवस्था अपर्याप्त थी, या बिलकुल ही नही थी, और इसलिए उन्हे अपनी और अपनी सम्पत्ति की रक्षा स्वय ही करनी पडती थी। यह बात उनके उस विचित्र नैराश्यपूर्ण और भारी तथा सपाट स्थापत्य से सिद्ध होती है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सिन्धु नगरो के खण्डहरो की खुदायी मे इस बात के सबूत मिले हैं कि इनके अत-काल के पहले भी नगर मे लुटेरे और डाकू सक्रिय थे। व्यापारियो का हिसाब किताब वस्त्र, तालपत्र या ऐसी ही किसी नष्ट हो जानेवाली चीज पर लिखा जाता होगा। परन्तु सीमित स्थानीय लेन-देन के लिए उन्हें अधिक लिखा पढी की आवश्यकता नही थी, स्मृति के सहारे ही काम चलता होगा। यह प्रथा भी कालान्तर के भारतीय समाज मे जारी रही—जबानी अनुबन्धो का पूरी तरह पालन किया जाता रहा। विदेशी पर्यवेक्षको को यह बात अचरज मे डाल देती है।

अनाज का सग्रह और वितरण महान मन्दिर की ओर से होता था। धान्य-कोठार टीले-नुमा दुर्ग के भवन-समूह के अन्तर्गत या उसके समीप थे, और इस-लिए उसी के अग थे। अनाज की सफाई कुटाई करनेवाले मजदूर समीप की चाल मे रहते थे, जिसके कमरे एक-जैसे किन्तु बडे घटिया बने हैं। ये मजदूर सम्भवत मन्दिर के दास थे, मेसोपोटामिया मे भी कल्लु या गल्लु नामक ऐसे दास थे। उत्पादन की प्रक्रिया मे मन्दिर किस हद तक भाग लेता था, यह तो ज्ञात नही है, परन्तु विदेशी उदाहरणो के आधार पर लगता है कि यह सहभागिता पूरी-पूरी रही होगी। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यापारियो की मुहरो पर किसी देवी की आकृति उत्कीर्ण नही है। बिना किसी अपवाद के सभी टोटेम पशु नर हैं। जिन थोडी-सी मानवाकृतियो को पहचाना गया है, वे भी नर की ही प्रतीत होती हैं। इसका एक कारण सम्भवत यह जान पडता है कि व्यापारियो ने अपने अलग ऐसे गौण सम्प्रदाय विकसित कर लिये थे जिनमे मातदेवी की कोई प्रत्यक्ष साझेदारी नही थी। ऐसी स्थिति मे व्यापार के मुनाफे के बारे म भी यही बात सच होगी, परन्तु भू राजस्व की बात निराली थी।

बस, सिन्धु सस्कृति का पुनर्निर्माण इसी सीमा तक सम्भव है। जाहिर है कि इस व्यवस्था का विस्तार नही हुआ। उत्तर की ओर और समुद्रतट के समीप सिन्धु सभ्यता की बस्तियाँ बहुत थोडी और नगण्य हैं। मुख्य शहरी आबादी तो ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी के अत समय मे ही घट गयी थी। अब तकसगत सवाल यही है कि, नगरो के अंतिम विध्वस के बाद कितनी-कुछ सिन्धु सस्कृति जीवित रही। निश्चय ही, दस्तकारी और व्यापार स सम्बन्धित बहुत कुछ बचा रहा। कालान्तर के भारतीय वजनो और सम्भवत मापो (यह बात उतनी

स्पष्ट नहीं है) की भी परम्परा अक्सर सीधे मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा तक पीछे चली जाती है। कुछ आख्यान और अनुश्रुतियाँ भी बची रही होंगी, जैसे, जलप्रलय की भारतीय कथा जो सुमेर-बेबीलोन की और बाइबल में वर्णित विश्वव्यापी जलप्लावन की कथा के ढाँचे पर गढ़ी गयी है। यह कथा प्राचीन नहीं बल्कि परवर्ती संस्कृत साहित्य में देखने को मिलती है, और यह नये और पुराने के, आर्यों और आर्य पूर्वों के उत्तरोत्तर समागम के उन बहुत से लक्षणों में से एक है जिसके कारण भारतीय साहित्य और कानूनी व्यवहार का प्रत्याशित क्रम कभी-कभी उलट जाता है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि मिस्र में जनजीवन के बुनियादी ढाँचे एवं स्वरूप में कोई गहरा परिवर्तन हुए बिना ही वहाँ एक के बाद एक कई राजवंश शासन करते रहे। जो परिवर्तन दिखायी देते हैं वे केवल फराऊन के राजप्रासाद तक ही सीमित हैं, और इसका कारण है विजयों से प्राप्त नये खनिज मिल जाना अथवा युद्ध में बन्दी बनाये गये बहुत-सारे दासों पर अधिकार होना। आम जनता का जीवन लगभग पूर्ववत् बना रहा। कुछ आयजनों ने मिस्र पर भी आक्रमण किया था। नये-नये आक्रमणकारियों के साथ मेसोपाटामिया की भाषा और धार्मिक सम्प्रदाय तो बदले, परन्तु वहाँ के नगर स्थायी बने रहे। वहाँ शासन चाहे सुमेरियों का रहा हो, या बेबीलोनिया का या असीरिया का या ईरानियों का, अधिक-से-अधिक यही हुआ कि सत्ता का केन्द्र एक नगर से दूसरे नगर चला गया। मेसोपोटामियाई सभ्यता का अन्तिम विनाश तभी हुआ जब नहरों की सिंचाई-व्यवस्था नष्ट हो गयी और अन्न उपजानेवाली भूमि मरुक्षेत्र में बदलती गयी। सिन्धु नगरों के पूर्ण विनाश का सम्भवतः एक ही कारण था—उनकी कृषि-व्यवस्था का नष्ट हो जाना। चूंकि वहाँ नहरों की व्यवस्था नहीं थी, इसलिए इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं। पहला तो यह कि, जैसाकि अक्सर हुआ है, नदियों ने अपने पात्र बदले होंगे। इससे नगर नौकाश्रय नष्ट हो गये और अनाज पहुंचाना कठिन हो गया। दूसरे, आक्रमणकारी मूलतः कृषक नहीं थे। उन्होंने बाढ़ की सिंचाई के लिए बनाये गये बाँधों को जिनसे एक चौड़े भूक्षेत्र में उपजाऊ मिट्टी जमा होती थी, तोड़ डाला। इससे अनाज का उत्पादन बन्द हो गया, और इसके साथ ही दीर्घकालीन गतिहीनता से विघटित होते आ रहे नगर भी नष्ट हो गये। वास्तविक जीवनक्षम समाज का पुनर्निर्माण नये और पुराने के समागम से ही सम्भव हुआ।

चौथा अध्याय

आर्य

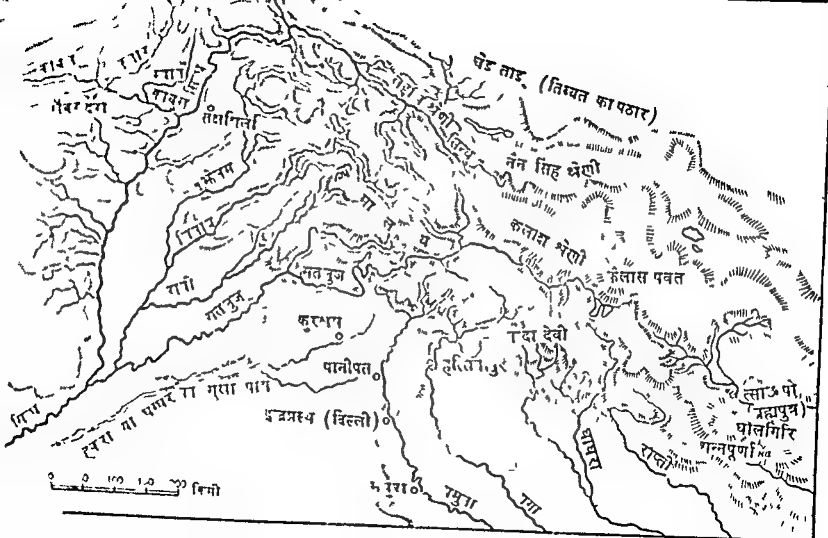
४ १ आयजन

सस्कृत म और इससे प्रभावित अधिकाश भारतीय भाषाओ मे 'आय' शब्द का अर्थ है—स्वतन्त्र, 'श्रेष्ठ अथवा तीन उच्च वर्णों का सदस्य। अन्य अनेक शब्दो की तरह विगत शताब्दियो मे इस शब्द का भी अर्थ बदला है। बाद के दिनो मे यद्यपि इसका इस्तेमाल 'महोदय' अथवा 'श्रीमान' जसे आदर-सूचक शब्दो के अर्थ मे हुआ है, किन्तु एकदम आरम्भिक दिनो मे यह शब्द मानव जातीय समूह के रूप मे किसी विशेष कबीले या कबीलो का सूचक था। अधिकाश इतिहासकार इन्ही प्राचीन आर्यो से भारतीय इतिहास शुरू करते हैं। कुछ लेखक अब भी यह मानते हैं कि सिन्धु सभ्यता के जनक आर्य लोग थे। इस मत का कारण यह पूर्वग्रह है कि भारतीय सस्कृति की प्रत्येक उच्च उपलब्धि आर्यों की ही देन हो सकती है। जमनी के भूतपूर्व नात्सी शासन तथा उसके अधिकृत दर्शन ने आर्य' शब्द को जो घृणित जातीयवादी अर्थ दिया, उससे उलझन और भी बढ़ गयी है। इस विषय म यह भी कुछ सन्देह स्वाभाविक है कि, वस्तुत कोई आर्य कभी थे भी या नही, और यदि थे, तो वे किस तरह के लोग थे।

आर्यों की प्रमुख विशेषता एक ऐसी विशेषता जिसके कारण एक बडे जन समूह के लिए यह नाम उचित जान पडता है है—उनका एक सामान्य भाषा परिवार। य महत्त्वपूर्ण भाषाएँ सारे यूरेशिया म फली हुई हैं। सस्कृत, लैटिन तथा यूनानी प्राचीन आर्य भाषाएँ थी। लैटिन से दक्षिणी यूरोप मे रोमास भाषा समूह (इतालवी स्पेनिश फ्रासीसी रूमानियन आदि) का विकास हुआ। इसके साथ ही टयूटानिक (जमन, अँगरेजी, स्वीडिश आदि) और स्लाव (रूसी, पोलिश आदि) भाषावग भी आर्य भाषा परिवार के अन्तगत आते हैं। अनेक वस्तुओ के

शब्दा की आपस मे और आर्येतर भाषाओ के शब्दा से तुलना करके देखने पर यह बात सिद्ध हो जाती है। यूरोप की फिनिश, हगेरियन तथा बास्क भाषाएँ आय-परिवार की नही हैं। हिब्रू और अरबी, भले ही इन भाषाओ के स्रोत सुमेर की प्राचीन सस्कृति तक पीछे जाते हो, आय भाषाएँ नही है, ये सेमेटिक भाषाएँ हैं। तीसरा विस्तत आर्येतर भाषा परिवार चीनी मगोलाई है, जिसके अन्तगत चीनी, जापानी, तिब्बती, मगोलाई तथा अन्य अनेक भाषाओ का समावेश होता है। यह भाषा परिवार सास्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व का है, यद्यपि भारत के लिए इतना नही। इदो आय भाषाएँ सस्कृत से विकसित हुई हैं। इस प्रकार आरम्भ मे विकसित हुई भाषाएँ है पालि, जो मगध मे बाली जाने के कारण मागधी भी कहलाती है, और अन्य अनेक प्रान्तीय प्राकृत भाषाएँ। इन्ही से हिन्दी, पजाबी, बगला, मराठी आदि आधुनिक भाषाएँ निकली। किन्तु भारत मे आर्येतर भाषाओ का भी एक विस्तत और सास्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वग है जिसमे द्रविड भाषा समूह के अतगत तमिल, तलुगु कनड, मलयालम तथा तुलु भाषाओ का समावेश होता है। इनके अलावा छोटे छोटे कबीलो की बहुतसारी बोलिया है जिनसे हमे भारतीय भाषाओ की आरम्भिक अवस्थाओ के बारे म काफी जानकारी मिलती है। एक समय इन सब बोलियो को 'ऑस्ट्रिक' भाषा-परिवार के अन्तगत रखा जाता था, परन्तु मुडारी, उराव टोडा आदि के बीच के अन्तर को देखत हुए यह शब्द अब अनुपयुक्त समझा जाने लगा है। अब मुख्य प्रश्न है क्या भाषा-समुदाय या भाषा परिवार के एक सामूहिक [illegible] के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना न्यायसगत है कि किसी आय जाति या आर्यजनों का कोई अस्तित्व था?

'प्रजाति' शब्द की चाहे जितनी लचीली व्याख्या की जाये यह मानना कठिन है कि स्कण्डेनेविया के गोराग निवासी और सावले बगाली एक ही प्रजाति के हैं। इसलिए यूरोप के चोटी के कुछ भाषाविद करीब एक सदी पहले ही इस निष्कर्ष पर पहुच थे कि आय जाति की बात उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार 'लघुकपालीय व्याकरण' की। आय एक भाषाशास्त्रीय शब्द है, मानव जातीय इकाई स इसका कोई सम्बन्ध नही। फिर भी, यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे ऐसे लोग मौजूद थे जो स्वय को [illegible] आय कहत थे। हखामनि सम्राट दारयवहु प्रथम (दारा या डेरियस मृत्यु ४८६ ई० पू०) अपन अभिलखो म [illegible] 'हखामनिषिय, पार्स पारसपुत्र आय वशज आय'। [illegible] ऐतिहासिक [illegible] था जिसम हखामनि कुल और [illegible] का भी समावेश होता था। ऋग्वेद प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थ है, [illegible] वदित दवताओं की [illegible] है। [illegible]



चेड ताड. (तिब्बत का पठार)
नैन सिंह श्रेणी
कैलास पर्वत
कैलाश श्रेणी
सतलुज
कुरुक्षेत्र
पानीपत
(दिल्ली)
घाघरा
धौलागिरि
ब्रह्मपुत्र
बिमी

क्रमश पीछे जाते हुए भारत की समस्त लिखित सामग्री को, वेदो को भी, प्रकार के कालक्रम मे आयोजित करना सम्भव है। परवर्ती ग्रन्थ पूववर्ती ग्रन्थ या तो उल्लेख करते हैं या उनका अनुकरण करते हैं। भाषा की पुरातनत पूवकालिकता सिद्ध होती है। इस प्रकार, ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रन्थ सिद्ध होते ९, इसके बाद यजुर्वेद (जिसकी शुक्ल और कृष्ण दो शाखाएँ हैं) और सामवेद का स्थान है, और काफी बाद मे अथववेद की रचना हुई, जिसमे मन्त्र-तन्त्र पर विशेष बल दिया गया है। एक सगत अनुमान यह है कि ऋग्वेद के अधिकाश भाग की रचना लगभग १५००-१२०० ई० पू० के बीच मे पजाब मे हुई, अथवा कम-से-कम इसमे उल्लिखित घटनाएँ इस काल की है। परन्तु भारत के बाहर के आर्यों की तरह ये वदिक आय भी उसी प्रकार आपस मे निरन्तर लडत रहे, जिस प्रकार य अनार्यों और आय पूव लागा से लडे। अत यह निष्कष युक्तिसगत जान पडता है कि आय भाषाएँ बोलनेवाले केवल कुछ ही लोग अपने को आय कहते थे। दारयवहु के पुत्र क्षयाप की सेना मे आयनामक टुकडिया थी, और यह भी जानकारी मिलती है कि मीडियावासी, जो पारसियो के पहले हुए आरम्भ मे 'आय कहलाते थे। 'ईरान' शब्द की उत्पत्ति 'आर्यानाम्' अर्थात् 'आर्यो का (देश)' से हुई है। यद्यपि यूनानी, पारसी और पजाब के भारतीय लोग आय भाषाएँ बोलते थे, किन्तु सिकन्दर के समकालीन इतिहासकारो ने 'आय शब्द का प्रयोग इस नामवाले केवल उसी कबीले के लोगो के लिए किया है जो उस समय सिन्धु नदी के दाहिने तट पर बसे हुए थे।

आदिम आय भाषा बोलनेवाले मूल लोग किस प्रकार के थे? जैसाकि पहले बताया जा चुका है, आदिम भाषाओ मे 'वक्ष', 'पशु', 'मछली आदि जातिवाचक शब्दो की बजाय हर प्रकार के पक्षी, पशु, मुरगा-मुरगी तथा पौधे के लिए पृथक्-पृथक् शब्द हैं। उदाहरणाथ, भाषाशास्त्रियो ने, नितान्त स्थानीय शब्दो को छोडकर, 'वक्ष' शब्द के लिए आय भाषाओ मे पाये जानेवाले समान धातु शब्दो की तुलना की है। इससे जान पडता है कि मूल आय वक्ष भूज था जो उत्तरी यूरोप और हिमालय मे तो होता है, परन्तु ऊष्ण जलवायु मे नही। उनकी मछली सम्भवत सामन थी। इस प्रकार के विश्लेषण को आगे बढाया जा सकता है। धरातल पर पौधो (जिनकी खेती होती है और जो किस्मे दूर-दूर तक यात्रा कर चुकी हैं, उन्हे छोडकर), जगली पशुओ, पक्षियो और मछलियो का सामान्य वितरण काफी हद तक निर्धारित हो चुका है, और ज्ञात है। उन पालतू किस्मो के बारे मे कुछ छूट देनी होगी जिन्हें मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान ले गये होंगे। उदाहरण के लिए, चाय और इसके लिए प्रयुक्त यह शब्द ऐतिहासिक काल मे चीन से आया। इससे हम यह निष्कष नही निकाल सकते कि 'चाय आय शब्द अथवा आय पेय था, कि चीनी एक आय भाषा है, या कि चीन आर्यों का

मूल देश था। ऐसी सदिग्धताओ को दूर कर देने के बाद निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल आर्य लोग यूरेशिया के उत्तरी क्षेत्रो से परिचित थे, और सम्भवत वही उनका मूल स्थान था।

किन्तु भाषाशास्त्रीय विश्लेषण का दायरा और इसकी उपयोगिता सीमित है। आर्यों की सगोत्रीय शब्दावली मे अदभुत समानता है। उल्लिखित भाषाओ मे माता, पिता, भ्राता, श्वसुर, विधवा आदि के लिए प्राय एक-से शब्द मिलते हैं। इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मूल सामाजिक सगठन एक सा था और ये लोग भी वस्तुत एक ही थे। साथ ही, 'पाद (पैर) के लिए तो सर्वसामान्य आर्य शब्द मिलता है, परन्तु 'हस्त (हाथ) के लिए ऐसा कोई शब्द नही है। संस्कृत के 'दुहितृ (पुत्री) शब्द का अर्थ 'दूध दुहनेवाली' भी होता है, और यह शब्द आर्य भाषाओ मे व्यापक रूप से पाया जाता है। इसके आधार पर कुछ यूरोपीय विद्वानो ने आर्यों के घरेलू जीवन का एक मनोहर चित्र तैयार किया है। दुर्भाग्यवश, दूध' के लिए कोई सर्वसामान्य शब्द नही मिलता। प्राचीन आर्य भाषाओ म 'गाय' और 'अश्व' के लिए सर्वसामान्य शब्द मिलते हैं, जिससे पता चलता है कि ये पशु उनकी अर्थव्यवस्था के मूल आधार थे। परन्तु इस पद्धति का बहुत दूर तक इस्तेमाल करने का अर्थ होगा हास्यास्पद परिणामो पर पहुचना। जब अन्य कोई साधन उपलब्ध न हो, तभी इस पद्धति का उपयोग उचित है।

४ २ आर्यों की जीवन-पद्धति

एक व्यापक सिद्धान्त के रूप मे यह कहा जा सकता है कि कोई भी भाषा, जब तक वह बेहतर उत्पादन प्रणाली से जुडी न हो, विविध भाषाओवाले बहुसख्यक लोगो पर लद नही सकती। आक्रमणकारी आर्यों के गिरोह बहुत बडे नही रहे होगे, क्योंकि जिस भूमि से वे आये थे वहा उन अधिकाश सभ्य तथा खेतीहर प्रदेशो से अधिक आबादी का पालन सम्भव नही था जिन पर उन्होने आक्रमण किये। तब वे अपने को और अपनी भाषा को दूसरे पर कैसे थोप पाये? संस्कृति को, इसके व्यापक अर्थ मे उनकी प्रमुख देन क्या थी? भारत पर हमला करने वाले आर्यों के बारे म काफी-कुछ कहा जा सकता है। लिखित और भाषिक प्रमाणो के आधार पर भारतीय ईरानी लोगो के लिए ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के आगे 'आर्य नाम का प्रयोग निश्चय ही न्यायसगत है। पुरातत्त्व से हमे जानकारी मिलती है कि ये खास आर्य ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी म युद्धप्रिय खानाबदोश लोग थे। उनके भोजन का मुख्य स्रोत और सम्पत्ति का मापदण्ड मवेशी थे, जिन्हे वे महाद्वीप के विशाल विस्तार म चराते रहते थे। घोडे को वे रथ के साथ निपुणता से तो नही जोत पाते थे, परन्तु इससे उन्हें सामरिक दाँवपेंचो के लिए गति और युद्ध मे श्रेष्ठता मिली। आर्य कबीलो का सगठन पितृसत्तात्मक था कबीले म पुरुष ही अधिनायक और सम्पत्ति का स्वामी होता

था। आय देवता भी अधिकतर पुरुष ही है, पर कुछ देवियाँ पहले के युगो से और पहले के लोगो से ली गयी थी।

जब हम आय सस्कृति की चचा करत ह, तो इसका अथ हमे स्पष्ट होना चाहिए। तुलना मे आय लोग ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी की उन महान नागरी सस्कतिया से श्रेष्ठ नही थे जिन पर उन्होने हमला किया और जिन्हे प्राय नष्ट कर डाला। आर्यो के ऐसे कोई विशिष्ट मृत्भाण्ड अथवा खास औजार नही है जिनके आधार पर आय सस्कृति का पुरातात्त्विक विवेचन किया जा सके। वस्तुत जिस बात के कारण इन लोगा को विश्व इतिहास मे इतना महत्त्व मिला है, वह थी इनकी बेजोड गतिशीलता, जो इन्हे मवेशियो के चल खाद्य भण्डार के रूप मे, युद्ध मे अश्व-रथ के रूप मे और भारी माल ढोने के लिए बलगाडी के रूप मे प्राप्त हुई थी। इनकी मुख्य उपलब्धि यह थी कि इन्होने ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी की महान नदी घाटी सभ्यताओ स दूर बसी हुई छोटी, अवरुद्ध तथा प्राय पतनोन्मुख कपक बिरादरियो के बीच के अवरोधो को बडी निममता से नष्ट कर डाला। आर्यो ने उन स्थानीय शिल्पा को अपना लिया जो उनके लिये उपयोगी थे, और आगे बढ गये। उनके आक्रमण से मची हुई तबाही का जीर्णोद्धार करना बरबाद हुए लोगा के लिए प्राय असम्भव हो जाता था। फिर भी, आय और मिस्री (और बाद के असीरी) आक्रमणो म मूलभूत अन्तर था। मिस्र का फरुन लूट, भेंट, तांबे के खनिज पर अधिकार अथवा अपनी योजनाओ पर काम करने के लिए दास प्राप्त कर लेने के बाद वापस लौट जाता था। एकदम ही नष्ट कर दिया गया हो तो बात निराली है, अन्यथा आक्रान्त प्रदेश मे जीवन बहुत-कुछ पुराने ढग स ही चलता था। परन्तु जिन पुरानी बस्तिया पर आर्यो का हमला होता था, और इनमे से अधिकाश बस्तियाँ अगम्य स्थानो मे होती थी और फरुन-जसे आक्रमण के लिए अनुपयुक्त थी, वहा मानव समाज और मानव इतिहास की नयी शुरुआत, वह भी यदि सम्भव हुई तो, एक नितान्त नये स्तर से होती थी। इसके बाद छोटी खेतीहर इकाइया और बन्द कबीलाई बिरादरियो म पहले जैसा अलगाव असम्भव हो जाता था। वे शिल्प विधियाँ जो प्राय निरथक कमकाण्डो से सम्बन्धित होने के कारण स्थान विशेष मे ही बडे जतन से गुप्त रखी जाती थी, अब सवसामान्य ज्ञान बन गयी। साधारणत आय और आय-पूव लोगा के मेल जोल से, प्राय नयी आय भाषा के साथ, नयी बिरादरिया बनी।

ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी मे मध्य एशिया से आर्यों की दो लहरें आयी—पहली लहर इस सहस्राब्दी की शुरुआत मे आयी, और दूसरी अन्त समय मे। इन दोनो ने भारत को प्रभावित किया, और सम्भवत यूरोप को भी। ये दोनो ही गतिविधियाँ सुविचारित, नियोजित अथवा निर्देशित नही थी। उनकी अपनी मातृभूमि (मोटे तौर पर आधुनिक उज्बेकिस्तान) के चरागाह, सम्भवत लम्ब

सूखे के कारण, मवेशियो और उनके मालिको के भरण पोषण के लिए पर्याप्त नही थे। देशान्तरण सदैव ही किसी निर्धारित दिशा म नही हुआ। भारत म पहुचे हुए लोगो मे से कुछ, या तो खदेड दिये जाने के कारण अथवा नय प्रदेश की परिस्थितिया सन्तोषजनक न होने के कारण, वापस लौट गये। यह बात ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दि के उत्तराद्ध की कुछ हित्ती मुहरो पर उत्कीण कूबडवाल विशिष्ट भारतीय बल को देखने से स्पष्ट हो जाती है। हित्ती भाषा का मूल भी आय भाषा मे है। खत्ती शब्द जो हित्ती का ही पर्याय है, सस्कृत के क्षत्रिय और पालि के खत्तिय शब्द से सम्बधित जान पडता है। हित्तियो ने अनातोलिया के खेतीहर जनसमुदाय को पराजित किया, वहां बस गये, और अपना शासन शुरू कर दिया। उनके और भारतीयो के बीच कोई सतत और घनिष्ट सम्बध नही रहे। परन्तु जो सम्पक था, चाहे वह कितना भी खण्डित और अल्पकालीन क्या न रहा हो, वह इस दृष्टि से महत्त्वपूण था कि लोहे का ज्ञान, जिससे हम हित्तिया को पहली बार परिचित देखते हैं (फिर उन्होने यह रहस्य चाहे किसी भी पुरान जनसमुदाय से प्राप्त किया हो), आर्यों की दूसरी लहर के साथ भारत पहुँच सका।

भारतीय आर्यो के भाईबन्द नजदीक ईरान मे थे। ईरान और मीडिया के लोग भी सस्कृत से मिलती जुलती आय भाषा बोलते थे। ई० पू० १४०० के आसपास के मितन्नी अभिलेखो से पता चलता है कि एक आय भाषा मे भारतीय-आय देवताओ की उपासना करनेवाले लोग ईरान की उरमिया झील के समीप बसे हुए थे। ईरान में इन्ही इद्र, वरुण, मित्र आदि देवताओ की उपासना होती थी, परन्तु ईसा पूव छठी सदी के अन्तिम समय मे जरतुश्त ने इनको बहिष्कृत कर दिया। केवल अग्नि ही एकमात्र ऐसा भारतीय-आय देवता था जिसकी दोनो ही उपासना करते रहे। सस्कृत का 'देव शब्द ईरानी मे दानवसूचक बन गया। परन्तु अवेस्ता मे (आर्यों के) अधिकृत प्रदेश के रूप मे सप्तसिंधु यानी सात नदियो के प्रदेश (पजाब बाद मे दो नदियां सूख गयी) का उल्लेख है। कुछ इन्दो ईरानी वीर कैस्पियन तट के प्रदेश—आजकल के गिल्यान और मजन्देरान प्रदेश—से अपनाये गये। ईरानी ग्रथो म राजा यिम के 'वर' के बारे म जानकारी मिलती है, यह 'वर' एक एसा आयताकार स्थान था जिसमे, जब तक कोई पाप न करे, मृत्यु अथवा जाडे या शीत घुस नही सकता था। दरअसल, यह एक प्रकार से 'स्वणयुग का ही एक सीमित रूप था। तब दयालु राजा यिम न निषेध भग के कारण दण्ड की भागी बनी अपनी प्रजा को बचाने के लिए स्वय मृत्यु का वरण किया, और इस प्रकार यह पहला मर्त्य बना। भारत मे ऋग्वेद का यम भी प्रथम मर्त्य, प्राचीन पतृक मृत्यु देवता है, और यह आज भी मृतको का ही देवता है। आरम्भकाल मे जब किसी भारतीय आय की मृत्यु होती थी, तो वह यम के सरक्षण में ही अपने

पूवजो से जा मिलता था। कालान्तर मे यह यम नरक मे मृतको को यातनाएँ देनेवालो का अधिनायक बन गया, और बाकी देवता स्वग के स्वामी बन गये। ईरान के धार्मिक ग्रन्थो म यिम के 'वर' के बारे मे जिस प्रकार की परम्परागत जानकारी मिलती है, ठीक उसी लम्बाई चौडाई के आयताकार बाडे सोवियत पुरातत्त्ववेत्ताओ ने उज्बेकिस्तान मे खोज निकाले हैं। प्रागैतिहासिक काल के य निमाता पत्थर की दीवारो से सटे हुए छोटे छोटे कमरा मे रहते थे, और सकट के समय ये अपने पशुओ को बीच की खुली जगह मे बाँध देते थे। इदो-आर्यो के महान देशान्तरण के पहले यिम और उसका अधिकार-क्षेत्र एक प्रागैतिहासिक वास्तविकता थी। बाद मे यही 'वर' यूनानी आख्यानो मे औजियन (गन्दगी स भरी) की अश्वशाला के रूप मे प्रकट हुआ, जिसे हेराक्लीज ने साफ किया।

ऋग्वेद के सूक्तो को चौदहवी सदी के उत्तराद्ध मे दक्षिण भारत मे ठीक से सम्पादित किया गया, लिपिबद्ध किया गया और उन पर भाष्य लिखे गये। तब तक ऋग्वेद के पाठ को अक्षर ब अक्षर कण्ठस्थ रखा गया था (जैसाकि भारत के कुछ पण्डित आज भी करते हैं), और इसे आम तौर पर लिपिबद्ध नही किया गया था। इसस निष्कष निकलता है कि समूची वैदिक परम्परा जीवित नही रह पायी। ऋग्वेद का कर्मक्षेत्र पजाब की भूमि थी। इस वैदिक परम्परा को वहन करने-वाले पुरोहित-वशक्रम के सदिया से इस भूमि से सारे सम्बन्ध टूट गय थे, इसलिए यहाँ के विविध स्थला के नामा का सही अथ लगाना उनके लिए प्राय असम्भव हो गया था। स्थाना, नदियो तथा व्यक्तिया के नामो के अलावा भी ऐसे अनक महत्त्वपूण शब्द हैं जिनके अथ लगाने मे आज भी कठिनाई होती है, क्याकि भाषा बदल गयी है। पुरानी बाइबिल (पूवविधान) की तुलना मे वेदो का ऐतिहासिक महत्त्व कुछ कम ही है, क्याकि बाइबिल को उन लोगा ने सदैव ही एक इतिहास के रूप मे प्रस्तुत किया जो अपनी उस विशेष भूमि से सम्पक बनाये रखे थे। फिलस्तीन का पुरातात्त्विक अध्ययन भारत की अपेक्षा कही अधिक उन्नत और अधिक वज्ञानिक ढग से हुआ है, और इससे बाइबिल की अनक घटनाओ की पर्याप्त पुष्टि होती है। दूसरी ओर, आय लोग हमेशा ही स्थान बदलते रहते थे। और नदिया तथा पवतो के नाम अक्सर ही उनके साथ यात्रा करते रहते थे। वेदो की पवित्र नदी सरस्वती कभी अफगानिस्तान की हलमन्द (प्राचीन पारसी म हरहवति और असीरी मे अरकत्तु) नदी थी, फिर पूर्वी पजाब की एक नदी सरस्वती कहलाई, जो ऋग्वेद-काल के बाद सम्भवत प्रथम सहस्राब्दी मे सूख गयी।

किसी अन्य बेहतर सामग्री के अभाव मे, ऋग्वेद को यदि हम इसके वतमान रूप म ही ग्रहण करें तो इससे कम से कम जिस विरोधक काय की पुष्टि होती है, वह है सिन्धु नगरा का विध्वस। वेदो का प्रमुख देवता अग्नि है, इसकी स्तुति

मे अन्य किसी भी देवता की अपेक्षा अधिक सूक्त रचे गये हैं। अग्नि के बाद महत्त्व का देवता है इन्द्र, जो हिंसक, पितृसत्तात्मक कास्ययुगीन बर्बर था, जो कि प्रथम लहर के आर्य निश्चित रूप से थे, मानवीय युद्धनेता-जैसा जान पड़ता है। वस्तुत यह अब भी एक अनिर्णीत प्रश्न है कि, क्या इन्द्र सचमुच आर्यों का युद्ध मे नेतृत्व करनेवाला एक देवत्वप्राप्त युद्धनेता अथवा ऐसे सक्रिय मानवीय नेताओ के एक सिलसिले का द्योतक नही है। कई बार इन्द्र का अतिमादक सोमरस (एक अत्यन्त नशीला पेय जिसकी अभी तक ठीक से पहचान नहीं हो पायी है) पीने के लिए और अपने आर्य अनुयायियो के विजय-अभियान का नेतृत्व करने के लिए आवाहन किया जाता है। इन्द्र ने आर्यों के शत्रुओ को नष्ट कर डाला और अनार्यों (अदेवयु) के कोष भण्डारो को लूटा। इन्द्र ने शबर पिप्रु अशमानस, शुष्ण (जो सम्भवत अनावृष्टि का साकार रूप था) नमुचि आदि अनेक दानवो की हत्या की। इनमे से कई नाम अनार्यों के जान पड़ते हैं। वैदिक देवाख्यानो की सम्भाव्य ऐतिहासिक वास्तविकता से पृथक करना हमेशा ही एक कठिन काम रहा है, आलकारिक स्तुति रणक्षेत्र मे सैनिक विजय की सूचक हो भी सकती है, और नही भी। नमुचि की 'सेना की स्त्रियाँ मानवी थी अथवा मातृदेवियाँ थीं ? इस दानव की क्या दो पत्नियाँ थी, या कि यह दो नदियो के उस स्थानीय देवता का सूचक है जिसे हम अक्सर मेसोपोटामिया की मुद्रा पर अकित देखते हैं ? भारत मे पहुचने के पहले आर्यों ने अन्य नागरी सभ्यताओ को नष्ट किया था। इन्द्र ने आर्य मुखिया अभ्यावर्तिन चायमान के लिए हरियूपीया के बचे खुचे वरशिखा को मार डाला। नष्ट किया गया यह कबीला वृचीवत का था। इन्द्र ने इनके १३० कवचधारी योद्धाओ की प्रथम पक्ति को यव्यावती (रावी) नदी के तट पर मिट्टी के घडे की तरह चकनाचूर कर दिया, सारी शत्रु सेना की 'पुराने चिथडे की तरह' धज्जियाँ उड गयी, और शेष लोग भयभीत होकर भाग गये। ऐसी यह ओजस्वी भाषा हडप्पा मे घटित किसी वास्तविक सघर्ष की परिचायक है, फिर यह सघर्ष आर्यों के दो समूहो के बीच हुआ हो या आर्यों और अनार्यो के बीच। ऐसी स्थिति मे यकीन होने लगता है कि हडप्पा का समाधि क्षेत्र एच, जिसका समय आर्य पूर्व नागरी सस्कृति के बाद आता है अपनी ऊपरी सतह मे आर्य समाधियो का सूचक है। इसी प्रकार, नार्मिनि नगर को मोहेंजोदडो के साथ मिलाने का लोभ होता है परन्तु इस नगर के बारे मे ऋग्वेद से हमे इस बात के अलावा अधिक जानकारी नही मिलती कि यह सम्भवत आग से नष्ट हुआ था। आर्यपूर्व लोगो के अपने अनेक लकडकोट और दुर्ग थे जिनमें कुछ मौसमी (शारदी) थे, और कुछ अन्य इतने मजबूत थे कि उन्हे 'आयसी' यानी पीतल के कहा गया है। शत्रुओ को काले (कृष्ण) और चपटी नाकवाले (अनासस) कहा गया है। इन्द्र (पुरन्दर) ने घनी आबादीवाले जिन पुरो या

दुर्गों को नष्ट किया, उन्हें आलकारिक भाषा में 'कृष्ण भ्रूणा से गर्भित' कहा गया है।

जिस एक साहसिक काय के लिए इन्द्र की बार-बार स्तुति की गयी है, वह है 'नदियों की मुक्ति'। उन्नीसवीं सदी में, जब प्रकृति-सम्बन्धी मिथकों से हर प्रकार की घटना को यहाँ तक कि होमर के काव्य में वर्णित ट्रॉय के विध्वस को भी, समझाया जा रहा था, तब उपर्युक्त कथन का अर्थ लगाया गया—वर्षा लाना। इन्द्र बादलों में बन्द जल को मुक्त करनेवाला वर्षा का देवता बन गया। परन्तु वर्षा का वैदिक देवता पर्जन्य है। जिन नदियों को इन्द्र ने मुक्त किया था वे कृत्रिम व्यवधानों से 'रोकी गयी' थी। दानव वृत्र 'एक विराट सर्प की तरह पर्वत की ढाल पर लेटा हुआ था'। इन्द्र ने जब इस दानव की हत्या कर दी, तो 'पत्थर गाडी के पहिए की तरह लुढकने लगे' और 'पानी दानव की निर्जीव देह के ऊपर से बह निकला'। इस वर्णन की समस्त अलकारिकता के बावजूद, इसका केवल एक ही अर्थ हो सकता है—बाध का विध्वस। योग्य भाषाशास्त्रियों के विश्लेषण के अनुसार वृत्र शब्द का अर्थ 'बाधा' अथवा 'व्यवधान' है, कोई 'दानव' नहीं। इस अपूर्व साहसिक काय के लिए इन्द्र को वृत्रहन कहा गया है। यही शब्द ईरानी में वेरेथ्रघ्न बनकर आलोक के महान जरतुश्ती देवता अहुर-मज्द के लिए प्रयुक्त होने लगा। ये मिथक और रूपक उन विधियों की स्पष्ट जानकारी देते हैं जिनसे अन्ततोगत्वा सिन्धु प्रदेश की कृषि नष्ट हो गयी। साथ ही इन्द्र ने विबालि नदी (अभी तक अज्ञात) को, जो अपने तटों को लाघकर बहने लगी थी, सही धारा में बहाया। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, सिन्धु सभ्यता में विशेष बाध बाँधकर, जो कभी-कभी अस्थायी होते थे, बाढ के पानी से सिंचाई करने की प्रथा थी। इससे आर्यों के मवेशी झुण्डों के लिए भूमि अत्यन्त दलदली हो जाती होगी, और बाधी गयी इन नदियों के कारण पशुओं को दूर-दूर तक चराना असम्भव हो गया होगा। इन बाधों के विनाश के साथ ही सिन्धु नगरों में आर्यों के लम्बे समय तक आबाद बने रहने की सम्भावना भी नष्ट हो गयी, क्योंकि वहा साल भर में बहुत कम वर्षा होती थी।

ऋग्वेद में प्रमुख रूप से जिन अनार्य लोगों का उल्लेख है, परन्तु बहुत अधिक नहीं, वे हैं पणि। धनी, विश्वासघाती, लालची, युद्ध में इन्द्र के सामने टिकने में अक्षम—ऐसा ही उनका सामान्य वर्णन है। ऋग्वेद के एक बाद के किन्तु प्रसिद्ध सूक्त में इन पणियों और इन्द्र की सदेशवाहक श्वानदेवी सरमा (सरोवर की देवी) के बीच का एक सवाद दिया हुआ है। यह सवाद न केवल सस्वर पाठ के लिए, बल्कि स्पष्टत अभिनय के लिए भी था, और इसलिए यह किसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का आनुष्ठानिक कीर्तिगान था। भाष्य आमतौर पर यही

बताते हैं कि पणियों ने इन्द्र की गायें चुराकर छिपा दी थीं। सरमा दूती बनकर यह माँग करने आयी थी कि वे गायें इन्द्र के अनुयायियों को यानी देवों को लौटा दी जायें। दरअसल, सूक्त में गायों की चोरी का कोई जिक्र नहीं है, परन्तु गायें भेंट देने की सीधी और स्पष्ट माँग की गयी है जिसे पणि तिरस्कारपूर्वक ठुकरा देते हैं। तब उन्हें इसके भयंकर परिणामों की चेतावनी दी जाती है। जान पड़ता है कि आक्रमण करने के लिए आर्यों का यह एक आदर्श तरीका था। 'पणि' नाम आर्य प्रतीत नहीं होता, परन्तु इससे व्युत्पन्न कई महत्त्वपूर्ण शब्द संस्कृत में और संस्कृत से बाद की भारतीय भाषाओं में आ गये हैं। आधुनिक 'बनिया' शब्द संस्कृत के 'वणिक' से बना है, परन्तु इस वणिक के लिए पणि के अलावा अन्य कोई मूल स्रोत ज्ञात नहीं है। संस्कृत का 'पण' शब्द सिक्के का सूचक है और क्रय विक्रय तथा व्यापार की सामान्य वस्तुएँ 'पण्य' कहलाती हैं। प्राचीनतम भारतीय सिक्कों के भारमान ठीक वही हैं जो कि मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक खास वर्ग के बजनों के हैं, और ये ईरान अथवा मेसोपोटामिया में प्रचलित मानकों से भिन्न हैं। ऐसा लगता है कि कुछ सिन्धुजनों ने आर्यों की लूट-खसोट से अपने को बचा लिया और इस प्रकार व्यापार व उत्पादन की पुरानी परम्परा जारी रखी।

ऋग्वेद में स्थायी बस्ती (ईंटों से बने नगरों की बात तो बहुत रही), लिखने पढ़ने, कला तथा स्थापत्य के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। यज्ञादि अवसरों का सस्वर पाठ ही उनका संगीत था। उनका शिल्प-कौशल मुख्यतः रथ, औजार तथा युद्धास्त्रों के निर्माण से आगे नहीं बढ़ा था। निर्माता के स्वष्ट देवता और उसके अनुयायी, जो सभी मूलतः सिन्धु सभ्यता के जान पड़ते हैं। परन्तु अभी कबीले के भीतर वर्ण भेद या वर्ग भेद पैदा नहीं हुआ था। कारीगर अभी भी कबीले के स्वाधीन सदस्य थे, उन पर जाति विशेष की मुहर नहीं लगी थी। परन्तु अगले ही चरण में, जब कबीलों का विघटन होने लगा, वे जातियों में बँट जाते हैं। बुनाई का काम स्त्रियाँ ही करती थीं, यद्यपि पुरुष ऋषि के सूक्त रचना के काम को भी 'बुनाई' कहा गया है, मानो यह करघी पर बुना जानेवाला कोई नमूनेदार कपड़ा हो। पुरुषों के सामुदायिक जीवन का केन्द्र सभा थी। यह 'सभा' शब्द कबीले की संसद और सभाभवन दोनों का ही द्योतक है। कबीलाई परिषदों के अलावा सभा पुरुषों के लिए और केवल पुरुषों के लिए, विश्राम-स्थल भी थी। सभा जूए का अड्डा भी होती थी। प्राचीनतम वेद ऋग्वेद, के एक कालान्तर के किन्तु प्रसिद्ध सूक्त में एक ऐसे जुआरी का उल्लेख है जो अपने इस असाध्य व्यसन में लीन है और उसे घर परिवार की तनिक भी परवाह नहीं है। कहीं कहीं रथों की दौड़, नर्तकियों तथा मुक्केबाजों के भी उल्लेख मिलते हैं। स्पष्ट है कि आर्य लोग बर्बर थे, और इनकी संस्कृति तुलना में उन नागरी लोगों की संस्कृति से घटिया स्तर की थी जिनको इन्होंने नष्ट किया।

कालान्तर की ऋग्वेदिक सनिक गतिविधियाँ ऐतिहासिक जान पडती हैं, क्योंकि उनका श्रेय इन्द्र देवता को नही, बल्कि मानवो, वीरो अथवा राजाओ को दिया गया है । इस प्रकार की सबसे प्रसिद्ध घटना है—दस राजाओ के संघ पर राजा सुदास (उच्चारण सुदा) की विजय । सुदास को पजवन यानी पिजवन का वंशज और दिवोदास का पुत्र कहा गया है । यहाँ अन्त्यपद 'दास' कुछ विचित्र लगता है । बाद की संस्कृत म दिवोदास नाम का अथ होगा—'स्वग का सवक', परन्तु आरम्भ मे अनाय शत्रुओ को 'दास' अथवा 'दस्यु' कहा जाता था । उनका एक खास रंग (वण जो बाद मे जातिवाचक शब्द बन गया) था—कृष्ण, जो उन्हें आर्यों मे अलग करता था । यह शब्द सिफ उनके साँवले रंग का सूचक है, जब कि नवागन्तुक आय कुछ उजले रंग के थे । कई सारी विजयो के बाद ही 'दास' का अथ 'गुलाम (इसके समानार्थी अंगरेजी शब्द 'स्लेव' तथा 'हेलट' भी आरम्भ म मानवजातीय वर्गों के नाम थे) शूद्र जाति का और सेवक हो गया, और 'दस्यु' शब्द का अथ हो गया—'लुटरा या 'डाकू' । आरम्भकाल में ही एक आय राजा के नाम के साथ 'दास' शब्द का जुड जाना यह सूचित करता है कि १५०० ई० पू० के तुरन्त बाद ही आर्यों और अनार्यों मे कुछ मेल मिलाप हो चुका था । पता चलता है कि सुदास भरत जन के या सम्भवत भरतो की एक विशिष्ट शाखा त्रित्सु के मुखिया थे । आज हमारे देश का जो भारत नाम है, उसका अथ है 'भरतो का देश' । भरत निश्चय ही आय थे । परन्तु आरम्भिक आर्यों के लिए जातीय शुद्धता कोई अथ नही रखती थी । यहाँ के आदिवासी तत्त्वो को ग्रहण करना उनके लिए सहज सम्भव था, और उन्होने इन्हें ग्रहण भी किया ।

ऋग्वेद म सुदास के विरोधियो के भी नाम दिये गये हैं । उस समय, और बाद मे भी बहुत समय तक, कबीले और उसके मुखिया का नाम एक ही होता था, विशेषत बाहरवालो के लिए । यहाँ शत्रुओ के दस से अधिक नाम हैं । यह भी निश्चित है कि इन दस मे से कुछ आय कबीले थे । पक्थ के बारे मे कहा जाता है कि इसका सम्बन्ध आजकल के पाकिस्तान और अफगानिस्तान के पख्तून अथवा पठान से है । ये लोग पश्तो बोलते है, जो एक इदो ईरानी भाषा है । इन लोगो का ऋग्वेदिक मूल सम्भव जान पडता है, क्योंकि हिरोदोतस ने भी 'पक्त्यन' नाम के एक भारतीय कबीले का उल्लेख किया है । अलिन का अथ भ्रमर है और मत्स्य का मछली, और ये दोनो ही आरम्भिक टोटेम (गणचिह्न) नाम हैं। अलिनो के बारे मे हमे कोई जानकारी नही मिलती, पर मत्स्य कबीले के लोग ऐतिहासिक युगो मे आधुनिक भरतपुर के पास, ऋग्वेदिक रणक्षेत्र के काफी पूव म, बसे हुए थे । वयाकरण पतंजलि, जिन्होने ईसा पूव दूसरी शताब्दी मे उत्तरी पश्चिमी पंजाब मे अपने ग्रन्थ की रचना की थी, उदाहरणस्वरूप 'प्राच्य भरत

को एक अनावश्यक पद मानते हैं, क्योंकि 'पूव के अलावा भरत और कही नही हैं'। सामान्यत, इन तथा अन्य उल्लेखो से आर्यों के प्राच्य गमन के बारे मे स्पष्ट जानकारी मिल जाती है। सुदास के दस शत्रुओ मे एक शिग्रु भी थे। शिग्रु शब्द का अर्थ होता है सहिजन अथवा शोभाजन का पेड ('मारिंगा टेरिगोस्पर्मा', परन्तु कुछ लोगो के अनुसार यह शेवगा का पेड है)। मथुरा से प्राप्त एक कुषाण लेख मे इस नाम के एक ब्राह्मण गोत्र का उल्लेख है, परन्तु वर्तमान गोत्र-सूचियो मे यह कही देखने को नही मिलता। इसमे कोई सन्देह नही कि कबीलो के ये नाम टोटेमिक स्वरूप के हैं। परन्तु सबसे आश्चर्य की बात यह है कि सुदास के शत्रुओ मे भृगु भी थे, जो उस समय स्पष्टत एक कबीले का नाम था। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह शब्द 'फ्रिजिअन' (एशिया माइनर के फ्रिजिया' देश के निवासी) से सम्बन्धित है। एक अन्य स्थान पर भृगुओ द्वारा इन्द्र के लिए बनाये गये एक रथ की विशेष प्रशसा की गयी है। परन्तु पुरातन सस्कृत के युग से लेकर आज तक इस नाम की यदि कोई स्मृति शेष है, तो वह है एक बहिर्विवाही ब्राह्मण गोत्र समूह, जो आज भी शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण वर्ग मे इनका समावेश बाद मे हुआ, परन्तु ये तेजी से आगे निकल गये।

दस राजाओ के (दाशराज्ञ) युद्ध का कारण यह था कि, इन दस ने परुष्णी नदी को मोडने का प्रयत्न किया था। आजकल की रावी नदी का एक भाग परुष्णी कहलाता था। परन्तु रावी ने अनेक बार अपना पात्र बदला है। सिंधु नदी समूह के पानी के दिशा-परिवर्तन को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच आज भी काफी वाद विवाद चल रहा है। 'चाटुकार' पुरु यद्यपि सुदास के शत्रु थे, परन्तु वे आर्य थे और भरतो के निकट सम्बन्धी भी थे। बाद की परम्परा मे तो भरत पुरुओ की एक शाखा के रूप मे ही प्रकट होते हैं। ऋग्वेद के विभिन्न सूक्तो मे वही कुल-पुरोहित निष्पक्ष भाव से पुरुओ को शाप भी देता है और आशीर्वाद भी, जिससे पता चलता है कि उनके और भरतो के बीच का मनमुटाव स्थायी नही था। इनके बीच का झगडा आर्यो और अनार्यों के बीच के झगडे से भिन्न प्रकार का था। पुरु हडप्पा क्षेत्र मे बसे रहे और बाद मे उन्होंने अपना शासन पजाब तक फैलाया। इन्ही पुरुओ से ३२७ ई० पू० मे सिकन्दर का सबसे कडा मुकाबला हुआ था। आधुनिक पजाबी कुलनाम 'पुरी' की उत्पत्ति सम्भवत पुरु नामक कबीले से ही हुई है।

दस राजाओ पर विजय का गुणगान करनेवाले पुरोहित-ऋषि का कुलनाम वसिष्ठ (सर्वश्रेष्ठ) है। यह नाम परम्परागत सात प्रमुख बहिर्विवाही ब्राह्मण समूहो मे से एक है। मूल पुरोहित कुशिक (उल्लू) गोत्र के विश्वामित्र थे। ऋग्वेद में पुरोहित का कार्य अभी किसी जाति विशेष से जुडा नही था। दरअसल, इस प्राचीनतम वेद मे जाति भेद यदि कहीं दिखायी देता है, तो वह है गौरवर्ण आर्यो

मे और कृष्णवर्ण अनार्यों मे। जैसाकि प्राचीन यूनान और रोम मे भी होता था परिवार, कुल अथवा कबीले की उपासना विधियो की जिम्मेदारी किसी पुरुष को सौंपी जाती थी। कबीले द्वारा ऐसे पुरुष का नियोजन वरिष्ठता, चुनाव अथवा प्रथा के अनुसार होता था। यद्यपि वेदो मे यज्ञ मे भाग लेनेवाले पुरोहितो के विशिष्ट पदो की सूची मिलती है, परन्तु पुरोहित-पद पर ब्राह्मण जाति का एकाधिकार होने के बारे मे कोई जानकारी नही है। लेकिन वसिष्ठ एक नये प्रकार के पुरोहित थे। वह दो वैदिक देवता मित्र और वरुण—जो किसी समय क्रमश सूर्य और आकाश के देवता थे—के बीज से पैदा हुए थे। उनकी मा का कोई उल्लेख नही है। इसके विपरीत, ऋग्वेद की उसी एक ऋचा मे कहा गया कि, वसिष्ठ उर्वशी (अप्सरा अथवा जलदेवी) के मन से उत्पन्न हुए (उर्वश्या मनसो धिजात) ऐसे कुम्भ से भी पैदा हुए जिसमे दोनो देवताओ के वीर्य का समागम हुआ और उन्हे द्युति से 'आवर्त' एक पुष्कर मे खोजा गया। सतही तौर पर उलझा प्रतीत होनेवाला यह विवरण वस्तुत काफी स्पष्ट और सुसगत है। इसका अर्थ यह है कि, वसिष्ठ किसी आर्य पूर्व मातृदेवी के मानवीय प्रतिनिधियो की सन्तान थे, और इसलिए उनके कोई पिता नही थे। पितृसत्तात्मक आर्यों मे शामिल होने के लिए जहा एक ओर किसी सम्मान्य पिता की आवश्यकता थी, वहा दूसरी ओर अनार्य माता को नकारना भी जरूरी था। आज भी मौजूद एक अन्य प्रमुख ब्राह्मण गोत्र-समूह के सस्थापक अगस्त्य भी इसी प्रकार एक कुम्भ से पैदा हुए थे। कुम्भ का अर्थ है गर्भाशय और इस प्रकार यह मातृदेवी का प्रतीक है। इन सात प्रमुख कुल पुरुषो का, यानी सप्त ऋषियो' का, समय प्राचीन सुमेरी अथवा सिन्धु सभ्यता के युग तक पीछे जा सकता है। ब्राह्मण धर्मग्रन्थो मे इनके नामो की जो सूचिया हैं, उनमे कोई ताल मेल नही है। आठवें ऋषि विश्वामित्र ही सही माने मे आर्य थे। ऐसे 'कुम्भजात' ऋषियो का आर्यों के उच्च पुरोहित वर्ग मे समाविष्ट कर लेना एक मौलिक नवाचार था। आर्यों और आदिवासियो के इस नये सयोग से विशेषज्ञो का एक ऐसा वर्ग—ब्राह्मण वर्ण—विकसित हुआ जो बाद मे समस्त आर्य कर्मकाण्ड के एकाधिकार का दावेदार बन गया। आज जितने भी प्राचीन धर्मग्रन्थ प्राप्त है, वे इसी वर्ग ने सुरक्षित रखे, इसी वर्ग द्वारा पुन लिखे गये, और इसलिए इनमे ब्राह्मणो का महत्त्व बढा चढाकर बताया गया है। फिर भी, इन्होने एक कार्य अवश्य किया जिसके महत्त्व पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है इन्होने एक दूसरे के शत्रु बने हुए समूहो को साथ ही उनकी बहुत-सारी नयी उपासना विधियो को भी, सर्वसामान्य देवताओ की उपासना करनेवाले एक समाज मे सम्मिलित किया।

ऋग्वेद से ही जानकारी मिलती है कि ब्राह्मण पुरोहितो का एक ऐसा नया पेशा अकुरित हो रहा था जो आवश्यकता पडने पर एक से अधिक स्वामी की

सेवा करन के लिए तत्पर रहता था, फिर वह स्वामी आय हो या अन्य कोई। ऋषि वश अश्व्य दास राजा बलबूथ और तरुक्ष को धन्यवाद देता है, और विविध प्रकार के दान के लिए, जिसमे सौ ऊँट भी थे, उनके कबीलो को आशीवाद दता है। प्राचीन भारतीय परम्परा मे ऊँट के उल्लेख बहुत कम मिलत हैं, और भारत के बाहर भी लगभग १२०० ई० पू० तक इसे पालतू नही बनाया गया था। और, मोट तौर पर इस सूक्त का रचना-काल भी यही है। बलबूथ और तरुक्ष नामो मे आय ध्वनि नही है, और य अन्यत्र भी सस्कृत ग्रथो मे देखने को नही मिलत। इस सबसे यह भी ध्वनित होता है कि वेदो मे उल्लिखित कुछ असुर-दानव ऐतिहासिक असीरी रह होग, जिनमे से राजा तिगलथ-पिलेसर (तृतीय) ने हलमन्द नदी तक आय प्रदेश पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी। एक अन्य सूक्त का रचयिता आर्य ऋषि 'पणिया के मुखिया बृबु' को उसके आश्रय के लिए आशीवाद देता है।

पूव की ओर बढनेवाले आय उन आर्यों से भिन्न थे जिन्होंने पहली बार भारत पर आक्रमण किया था। अब अतिरिक्त श्रम के लिए एक नये प्रकार के आदिवासी भृत्य, दास, उपलब्ध थे। नये और पुराने के, आय पूव और आर्यो के मेल से एक अतिविशिष्ट पुरोहित वग अस्तित्व मे आ गया था। इस युग के बारे मे अभी तक हम कोई पुरातात्त्विक जानकारी नही मिली है। सूक्ता की जान कारी से जिस एक भौतिक वस्तु का चित्र सुस्पष्ट होता है वह है रथ। परन्तु यह आशा रखना व्यथ है कि किसी दिन खुदाइ मे हम वदिक रथ मिल जायगा। आर्यों के कोई विशिष्ट मत्भाण्ड नही थे, यद्यपि उत्तरी (चित्रित) घूसर भाण्ड जल्दी ही यह स्थान ग्रहण कर लेते हैं। पुरातत्त्ववत्ताओ को ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी के अन्त समय तक का आर्यो अथवा इदो-आर्यो का कोइ शिल्प भी नही मिला है। यह अनुमान उचित ही है कि कुछ विचित्र वैदिक देवता, जिनके बारे मे अन्यत्र कोई जानकारी नही मिलती, आयपूव लोगो से अपनाये गये हैं। जैसे अरुणोन्य की देवी उपस, इन्द्र के हथियारो को बनानेवाला शिल्पी देवता त्वष्ट और नातिविश्रुत दवता विष्णु जिसको बाद मे जाकर भारत मे बडी प्रसिद्धि मिली, फिर उसका अतीत चाहे जो रहा हो। इनमे से उपस के साथ व्यास नदी के तट पर इन्द्र की भिडन्त की घटना प्रसिद्ध है, जिसमे उपस की बलगाडी चकनाचूर हो गयी, और वह भाग गयी। बाद मे, इन्द्र और त्रित नामक वीर ने मिलकर त्वष्ट के पुत्र त्वाष्ट्र को जो तीन सिरवाला असुर ऋषि था और जिसका नाम बहुत-कुछ अपने पिता जसा ही था, मार डाला। जिस सूक्त म इस हत्या का वणन है उसके रचयिता वही त्वाष्ट्र मान जाते हैं जिनका सिर काटा गया था। इसका अथ यह है कि उपस की भाँति त्वाष्ट्र का भी विनाश सम्भव नही था। उसके तीनो सिर पक्षी बन गये, जिनम स कम स-कम दो

ज्ञात ब्राह्मण गोत्र के टोटम है। इसके अलावा, उपनिषदो के उपदेष्टाओ की परम्परा मे त्वाष्ट्र का स्पष्ट रूप से ऊँचा स्थान है। इन देवकथाओ के अधिक गहन विश्लेषण मे जाने से हम मूल समस्या से दूर भटक जायेंगे, हालाकि एक ईरानी आख्यान म भी तीन सिरोवाले दानव के वध का वणन है, और उसका सम्बन्ध यूनानी इओस से है। परन्तु ब्राह्मणो की कम-से-कम इतनी देन तो है ही कि उन्होने वदो म ही इन्द्र के शत्रुओ और उनके द्वारा पूजित मूलत विरोधी देवताओ के साथ कुछ बन्धुता स्वीकार की।

४ ४ ऋग्वेदोत्तर आय

सभी आय पूव की ओर नही बढे, और न ही उनकी अग्रगति एकसमान थी। यह इतनी सरल बात नही थी कि और अधिक आय भारत मे पहुचते रह और पहले के आर्यों को आगे ढकेलते गय। पुरु जन ईसा पूव चौथी सदी के अन्त समय तक पजाब मे टिके रहे यद्यपि उन्हें भी दूर के प्रदेशो मे अपनी शाखाएँ भेजकर उपनिवेश स्थापित करने पडे, क्योकि उनके मूल प्रदेश मे बहुत अधिक पशुचारी लोगो का भरण पोषण नही हो सकता था। रेगिस्तान के कारण दक्षिण की ओर विस्तार सम्भव नही था। पूव की ओर यमुना के समीप अधिकाधिक घने जगल थे इन्हे जब तक लोहे के औजारो से साफ नही किया जाता तब तक कोई लाभ नही था। आगे बढने के दो ही माग थे एक, पजाब और गगा की घाटी के बीच के निम्न जलविभाजक पर सँकरी पटटी, और दूसरा, हिमालय की तराई के किनारे-किनारे जहाँ उथली भूमि को आग स भली भाँति साफ किया जा सकता था। ताबा राजस्थान की खानो म उपलब्ध था, परन्तु लौह-अयस्क, कम-स कम एसे बढिया लौह-अयस्क जो लाभदायक सिद्ध हो, काफी दूर थे। केवल धातु और धातुकम का ज्ञान पर्याप्त नही था, मुख्य समस्या थी खनिज-भण्डारो तक पहुचने की। इसलिए आय कबीलों को छोटी छोटी टुकडियो म विभक्त होना पडा, परन्तु इनमे से अधिकाश टुकडियो के बारे मे हमे कोई जानकारी नहीं मिलती, यहाँ तक कि इनके नाम भी हम मालूम नही। यूनानी अथवा भारतीय ग्रन्थो मे इनम से कुछ के केवल उल्लेख मात्र मिलते ह।

यजुर्वेद की जानकारी से १००० ८०० ई० पू० के काल के बारे मे कुछ निष्कष निकालने म हमे मदद मिलती है। इसी वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण इस जानकारी को ६०० ई० पू० तक आगे बढाता है। कोई निश्चित तिथि ज्ञात नही है, समाज और कबीलो की अन्तहीन विविधता के बारे मे हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। सिकन्दर के समय तक पजाब के कुछ कबीलो म यह प्रथा थी कि व आवश्यकतानुसार घर घर मे अनाज का वितरण करत थे और अतिरिक्त अनाज का व्यापार विनिमय मे इस्तेमाल करने की बजाय उसे जला डालते थे। दूसरे कुछ कबीले सम्पन्न बन गय, आक्रामक राज्यो मे बदल गय।

सेवा करने के लिए तत्पर रहता था, फिर वह स्वामी आय हो या अन्य कोई। ऋपि वश अश्व्य दास राजा बलबूथ और तरुक्ष को धयवाद देता है, और विविध प्रकार के दान के लिए, जिसम सौ ऊँट भी थे, उनके कबीलो को आशीर्वाद देता है। प्राचीन भारतीय परम्परा मे ऊँट के उल्लेख बहुत कम मिलते हैं, और भारत के वाहर भी लगभग १२०० ई० पू०'तक इसे पालतू नही बनाया गया था। और, मोट तौर पर इस सूक्त का रचना-काल भी यही है। बलबूथ और तरुक्ष नामो मे आय ध्वनि नहीं है, और ये अयत्र भी संस्कृत ग्रन्थो मे देखने को नहीं मिलते। इस सबसे यह भी ध्वनित होता है कि वेदो मे उल्लिखित कुछ असुर दानव ऐतिहासिक असीरी रहे होंगे जिनमे से राजा तिगलथ पिलेसर (ततीय) ने हलमन्द नदी तक आय प्रदेश पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी। एक अय सूक्त का रचयिता आर्य ऋषि 'पणियो के मुखिया बृबु' को उसके आश्रय के लिए आशीवाद देता है।

पूव की ओर बढनेवाले आय उन आर्यों से भिन्न थे जिन्होने पहली वार भारत पर आक्रमण किया था। अब अतिरिक्त श्रम के लिए एक नये प्रकार के आदिवासी भृत्य, दास, उपलब्ध थे। नये और पुराने के, आय पूव और आर्यो के मेल से एक अतिविशिष्ट पुरोहित-वग अस्तित्व मे आ गया था। इस युग के बारे मे अभी तक हमे कोई पुरातात्त्विक जानकारी नही मिली है। सूक्तो की जानकारी से जिस एक भौतिक वस्तु का चित्र सुस्पष्ट होता है वह है रथ। परन्तु यह आशा रखना व्यथ है कि किसी दिन खुदाई म हमे वैदिक रथ मिल जायगा। आर्यों के कोई विशिष्ट मृद्‌भाण्ड नहीं थे, यद्यपि उत्तरी (चित्रित) धूसर भाण्ड जल्दी ही यह स्थान ग्रहण कर लेते हैं। पुरातत्ववेत्ताओ को ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के अन्त समय तक का आर्यो अथवा इदा-आर्यो का कोई शिल्प भी नही मिला है। यह अनुमान उचित ही है कि कुछ विचित्र वैदिक देवता, जिनके बारे मे अन्यत्र कोई जानकारी नही मिलती, आयपूव लोगो से अपनाये गये हैं। जस अरुणोदय की देवी उषस इन्द्र के हथियारो को बनानेवाला शिल्पी देवता त्वष्ट्र और नातिविश्रुत दवता विष्णु जिसको बाद मे जाकर भारत मे बडी प्रसिद्धि मिली फिर उसका अतीत चाहे जो रहा हो। इनमे से उषस के साथ व्यास नदी के तट पर इन्द्र की भिडन्त की घटना प्रसिद्ध है, जिसमे उषस की बैलगाडी चकनाचूर हो गयी, और वह भाग गयी। बाद म, इन्द्र और त्रित नामक वीर ने मिलकर त्वष्ट के पुत्र त्वाष्ट्र को, जो तीन सिरोवाला असुर ऋषि था और जिसका नाम बहुत-कुछ अपने पिता जसा ही था, मार डाला। जिस सूक्त मे इस हत्या का वणन है उसके रचयिता वही त्वाष्ट्र माने जाते हैं जिनका सिर काटा गया था। इसका अर्थ यह है कि उषस्‌ की भाँति त्वाष्ट्र का भी विनाश सम्भव नहीं था। उसके तीनो सिर पक्षी बन गये, जिनमे से कम-से-कम दो

ज्ञात ब्राह्मण गोत्र के टोटम हैं। इसके अलावा, उपनिषदों के उपदेष्टाओं की परम्परा में त्वाष्ट्र का स्पष्ट रूप से ऊँचा स्थान है। इन देवकथाओं के अधिक गहन विश्लेषण में जाने से हम मूल समस्या से दूर भटक जायेंगे, हालांकि एक ईरानी आख्यान में भी तीन सिरोंवाले दानव के वध का वर्णन है, और उसका सम्बन्ध यूनानी इओस से है। परन्तु ब्राह्मणों की कम-से-कम इतनी देन तो है ही कि उन्होंने वेदों में ही इन्द्र के शत्रुओं और उनके द्वारा पूजित मूलतः विरोधी देवताओं के साथ कुछ बन्धुता स्वीकार की।

४.४ ऋग्वेदोत्तर आर्य

सभी आर्य पूर्व की ओर नहीं बढ़े, और न ही उनकी अग्रगति एकसमान थी। यह इतनी सरल बात नहीं थी कि और अधिक आर्य भारत में पहुंचते रहे और पहले के आर्यों को आगे ढकेलते गये। पुरु जन ईसा पूर्व चौथी सदी के अन्त समय तक पंजाब में टिके रहे यद्यपि उन्हें भी दूर के प्रदेशों में अपनी शाखाएं भेजकर उपनिवेश स्थापित करने पड़े, क्योंकि उनके मूल प्रदेश में बहुत अधिक पशुचारी लोगों का भरण पोषण नहीं हो सकता था। रेगिस्तान के कारण दक्षिण की ओर विस्तार सम्भव नहीं था। पूर्व की ओर यमुना के समीप अधिकाधिक घने जंगल थे, इन्हें जब तक लोहे के औजारों से साफ नहीं किया जाता, तब तक कोई लाभ नहीं था। आगे बढ़ने के दो ही मार्ग थे एक, पंजाब और गंगा की घाटी के बीच के निम्न जलविभाजक पर संकरी पट्टी, और दूसरा, हिमालय की तराई के किनारे किनारे जहां उथली भूमि को आग से भली भांति साफ किया जा सकता था। तांबा राजस्थान की खानों में उपलब्ध था, परन्तु लौह-अयस्क, कम-से-कम ऐसे बढ़िया लौह अयस्क जो लाभदायक सिद्ध हों, काफी दूर थे। केवल धातु और धातुकर्म का ज्ञान पर्याप्त नहीं था, मुख्य समस्या थी खनिज-भण्डारों तक पहुंचने की। इसलिए आर्य कबीलों को छोटी छोटी टुकड़ियों में विभक्त होना पड़ा, परन्तु इनमें से अधिकांश टुकड़ियों के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती, यहाँ तक कि इनके नाम भी हमें मालूम नहीं। यूनानी अथवा भारतीय ग्रन्थों में इनमें से कुछ के केवल उल्लेख मात्र मिलते हैं।

यजुर्वेद की जानकारी से १००० ८०० ई० पू० के काल के बारे में कुछ निष्कर्ष निकालने में हमें मदद मिलती है। इसी वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण इस जानकारी को ६०० ई० पू० तक आगे बढ़ाता है। कोई निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है, समाज और कबीलों की अन्तहीन विविधता के बारे में हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। सिकन्दर के समय तक पंजाब के कुछ कबीलों में यह प्रथा थी कि वे आवश्यकतानुसार घर घर में अनाज का वितरण करते थे और अतिरिक्त अनाज का व्यापार विनिमय में इस्तेमाल करने की बजाय उसे जला डालते थे। दूसरे कुछ कबीले सम्पन्न बन गये, आक्रामक राज्यों में बदल गये।

ईसा की सातवी सदी के प्रारम्भ म चीनी यात्री युवान च्वाङ् को यह देखकर बडी हैरानी हुई कि निम्न-मध्य सिन्धु प्रदेश की काफी बडी आबादी अभी तक पशुचारी अवस्था मे है और उनमे यूथ-विवाह की अशिष्ट कबीलाई प्रथा मौजूद है। ये लोग सम्भवत वेदोत्तर अभीरा के वशज थे, परन्तु इस उदाहरण से कम से कम इतना तो प्रमाणित होता ही है कि आय जीवन के रीति रिवाज कुछ खास प्रदेशो मे ऐतिहासिक मध्ययुग तक जीवन्त रहे। किसी भी एक काल को लेकर सम्पूण देश के बारे मे कोई सवसामान्य बात कहना सम्भव नही है। अधिक से अधिक हम उन मूलभूत परिवतनो की ही खोजबीन कर सकत हैं जिनका अन्तत सारे देश मे फलाव हुआ।

यजुर्वेदिक समाज तथा इसके कमकाण्ड का आधार पशुचारी जीवन था, यह बात एक सरसरी नजर डालने से ही स्पष्ट हो जाती है। फिर भी, एक सूक्त से, जो ऋग्वेद के प्राचीनतम ढाचे के अनुरूप नही है (और जिसका आज भी पठन होता है), पता चलता है कि कृषि और धातुओ का महत्त्व बढता जा रहा था। सूक्त है 'मेरे लिए दूध, रस घृत, मधु, सहभोजन और सहपान (सग्धि और सपिति), कषण वर्षा जय विजय, धन-सम्पत्ति, समद्धि घटिया जौ (कुयव) का आहार भूख से मुक्ति, चावल, यव तिल, मोठ मूग, गेहूँ, मसूर, ज्वार बाजरा और जगली धान की (यज्ञ से वद्धि) हो। मेरे लिए पत्थर, मिट्टी, गिरि पवत, बालू, वक्ष स्वण कास्य, सीसा, वग लोहा, ताँबा, अग्नि, जल, कन्दमल पौधे, जुती भूमि की उपज, अनजुती भूमि की उपज, पालतू और जगली मवेशी, सबकी यज्ञ द्वारा वद्धि हो।' यह सूक्त ८०० ई० पू० के आसपास का है, और इससे पता चलता है कि लौहयुग के आय अब उत्पादन की नयी-नयी समस्याओ का सामना कर रह थे, जब कि ऋग्वेदिक कास्य युग के इनके पूवज एक समद्धतर सभ्यता की लूट से सन्तुष्ट होने के बाद ही नये चरागाहो की खोज मे जुट गये थ।

अब सिन्धु सभ्यता के क्षेत्र के पूर्वी भाग मे और उसके परे रहनेवाले नागा का भविष्य उज्ज्वल था। यमुना नदी से ५० मील दूर तक के प्रदेश मे पहुँचने में आर्यों का कोई विशेष कठिनाई नही थी। इस प्रदेश के विरल जगल को आग लगाकर साफ किया जा सकता था। परन्तु आग से साफ की गयी भूमि को आबाद करने के लिए जसा सामाजिक सगठन जरूरी था, वह साधारण कबीले के स्तर से आगे बढ चुका था। सबसे निम्न जाति—कबीले म अब जाति भेद पैदा हो गया था—अब शूद्र कहलाती थी सम्भवत किसी कबीले के नाम पर (जैसे, निम्न सिन्धु प्रदेश म सिकन्दर के विरुद्ध लडनेवाला ऑक्सीड्रकोई कबीला)। कबीले के मवेशियो की भाँति य शूद्र-दास भी कबीले अथवा कुल समूह की सामूहिक सम्पत्ति होते थे। इन दासो को तीन उच्च वर्णों की तरह कबीले की सदस्यता के अधिकार प्राप्त नही थे। तीन उच्च वर्णों को ही महीं

माने म आय और कबीले के पूण सदस्य माना जाता था। य तीन वण है क्षत्रिय (योद्धा और शासक), ब्राह्मण (पुरोहित), और वैश्य (कृषि और पशु-पालन द्वारा समूचा अतिरिक्त अनाज पैदा करनेवाला अधिवासी)। 'वण' शब्द का अथ हो गया—इन चार वग-जातियो म से कोई भी एक। इन जातियो की वगव्यवस्था उन कबीला मे अस्तित्व म आयी जिनमे सम्पत्ति धारण की सीमा विस्तृत हो चुकी थी और जो काफी बडे पैमाने पर व्यापार विनिमय मे भाग लेत थे। परन्तु यह बात प्रत्येक आय कबीले के बारे मे सही नही थी। बहुत से कबीलो म अभी कोई वग भेद पैदा नही हुआ था, और कुछ मे केवल आय शूद्र का ही भेद था। यदि प्राचीन यूनान और रोम की तरह शूद्र को खरीदा या बेचा नही जाता था, तो इसका कारण यह नही था कि भारतीय आर्यों के मन मे उनके प्रति कोई दयाभाव था। इसका स्पष्ट कारण यही था कि अभी माल उत्पादन और व्यक्तिगत सम्पत्ति का पर्याप्त विकास नही हुआ था। मवेशी एक प्रकार से गिरोह की सामूहिक सम्पत्ति होते थे, यह बात सहज ही प्रमाणित हो जाती है। गोत्र शब्द का अथ है 'गोष्ठ' यानी 'गाया का बाडा, और इसका अथ बहिर्विवाही कुल भी है। पता चलता है कि एक गोत्र की गाया का दूसरे गोत्रो की गाया स अलग पहचानन के लिए उनके बदन या कान पर विशेष चिह्न दाग जाते थे। जिस सामाजिक इकाई की जसी सम्पत्ति होती थी वैसा ही उसे नाम मिल गया, और बाद के धमसूत्रो मे यह नियम ही है कि यदि किसी मृत व्यक्ति का कोई निकटस्थ उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पत्ति पर गोत्र का अधिकार हो जाता है।

कालान्तर के भारतीय समाज पर शूद्र जाति का बडा विचित्र प्रभाव पडा। भारत म उत्पादन के जैसे साधन और सम्बन्ध थे, उनमे प्राचीन यूरोप जैसी (विशेषत यूनानी रोमन पद्धति की) चलसम्पत्तिमूलक दासप्रथा को कोई बढावा या महत्त्व नही मिला। हरण करने योग्य अतिरिक्त अनाज शूद्र हमेशा ही पदा करते रहे। जाति-प्रथा के विकास से एक ऐसे सामान्य वग समाज का पूर्वाभास मिलता था जो कबीले की अलगाववाली अवस्था से आगे बढ गया हो। कुछ ब्राह्मण एक से अधिक कुला अथवा कबीलो की पुरोहिती करने लग गये थे, जिसका अथ यह था कि कई समूहो के बीच किसी-न किसी प्रकार के सम्बन्ध बढते जा रहे थे। आर्थिक पैमाने के दूसरे छोर पर कुछ ब्राह्मण छोटे छोटे समूहो म और अपने मवेशिया को साथ लेकर पूव के घने जगलो की ओर आग बढ रहे थे—कभी कभी अकेले ही सम्पत्ति और रक्षा अथवा शिकार के हथियारो के बिना ही। जाहिर है कि य किसी को भी हानि नही पहुँचा सकते थे और इनका विशेष महत्त्व इस बात मे था कि इन्होने जगलो मे रहनेवाले अन्न सग्राहक बबर नागा से समझौता कर लिया, अक्सर उनमे शामिल हो गये या उनके साथ

मैत्रीभाव से रहे। इनकी दरिद्रता और प्रकट रूप से अहिंसक वृत्ति ही इनकी एकमात्र रक्षक थी। दूसरी ओर, आवश्यकता पडने पर व्यापारी अपने साथ शस्त्रधारी क्षत्रियो को ले जाते थे, जो आदिवासियो (निषादो) से उनकी रक्षा करते थे। ये क्षत्रिय धीरे-धीरे ऐसे वैतनिक सैनिक-समूह बन गये जो भाडे पर किसी के लिए भी लडने को तैयार रहते थे।

धमग्रन्थो मे यज्ञो मे होनेवाले प्राणीवध के बारे मे प्रचुर जानकारी मिलती है। ऐसे सामूहिक यज्ञकर्म अग्नि के अलावा अन्य वैदिक देवताओ के लिए भी, यद्यपि पवित्र अग्नि के सामने ही, आयोजित किये जाते थे। यज्ञ-अनुष्ठान की अवधि तथा जटिलता निरन्तर बढती गयी। यज्ञो मे इतनी सख्या मे और इतन प्रकार के प्राणियो का वध होता था कि आज हमे यकीन करने मे कठिनाई होती है। बलि योग्य श्रेष्ठतम 'पशु' थे—मनुष्य, बैल और अश्व, परन्तु, जैसी कि यजुर्वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थो से जानकारी मिलती है, यज्ञो मे प्राय हर प्रकार के पशु एव पक्षी का वध होता था। असीम आनुष्ठानिक वध का यह अतिबीभत्स व्यवसाय यह प्रमाणित करता है कि समाज के जीवन निर्वाह के साधन नि शेष होने लगे थे। ऊपर उल्लिखित सूक्त से पता चलता है कि मवेशी, खाद्य और समृद्धि-लाभ ही यज्ञ का मुख्य उद्देश्य था। साथ ही, यह सब दूसरो पर आक्रमण करके भी प्राप्त किया जा सकता था। युद्ध मे विजय के लिए, आमतौर पर युद्ध नेता की सफलता के लिए, ये यज्ञ अत्यावश्यक समझे जाते थे। उदाहरणार्थ, अश्वमेध यज्ञ का अर्थ आर्यों की अर्थव्यवस्था के एक महत्त्वपूर्ण पशु को मारना और उसे खाना मात्र नही था। पटरानी को वध्य अश्व के साथ सम्मिलित होना पडता था जो एक बीभत्स प्रजनन अनुष्ठान था सम्भवत पूर्वकाल के किसी ऐसे अनुष्ठान का बदला रूप जिसमे राजा अथवा उसके प्रतिनिधि की बलि दी जाती थी। वध के पहले अश्व को साल भर चाहे जिधर घूमने के लिए खुला छोड दिया जाता था। यदि किसी अन्य कबीले के लोग ऐसे अश्व को रोकते, तो इसे युद्ध की चुनौती समझा जाता था। निरन्तर के इन युद्धो और यज्ञो से ब्राह्मणो की यज्ञीय दक्षिणा मे वृद्धि हुई और क्षत्रिय व्यस्त रहने लगे। परन्तु यज्ञ का एक अधिक गहरा और स्वीकृत सामाजिक प्रयोजन भी था। ब्राह्मण ग्रन्थ साफ-साफ कहते हैं 'वैश्य की तरह दूसरो को कर देनेवाला, दूसरो द्वारा भक्षणीय, दूसरा द्वारा दमनीय । शूद्र की तरह दूसरो का दास, इच्छानुसार निकाल बाहर करने योग्य इच्छानुसार वध करने योग्य।' इन दोनो वर्णो को, जो प्रधान उत्पादक थे, 'आज्ञाकारी बनाने के लिए' सम्पूर्ण कबीले की यज्ञीय यात्रा के अवसर पर दो उच्च वर्णों के बीच म घेरा जाता था। इसे देखते हुए जाति व्यवस्था के बुनियादी वर्ग-स्वरूप के बारे मे सन्देह की कोई गुजाइश नही रह जाती, यद्यपि यह वर्ग व्यवस्था अभी उत्पादन की आदिम अवस्था मे ही थी।

पहले पहल जिन करो के बारे मे जानकारी मिलती है, वे 'बलि' कहलाते थे, क्योंकि यह एसी भेंट थी जो कुल अथवा कबीले के लोगो द्वारा यज्ञ के अवसर पर मुखिया को दी जाती थी। केवल इसी सक्रांति काल मे एक ऐसे विशिष्ट अधिकारी के बारे मे जानकारी मिलती है जो भाग-दुघ (राजा का अनुभाजक) कहलाता था। उसका काम था—राजा के निकट अनुयायियो के बीच बलि भेंट का समुचित बँटवारा करना, और सम्भवत करो को भी निर्धारित करना।

अभी नगर कहलाने लायक बस्तिया बहुत ही कम थी। सकट के समय कबीले या कुल के सारे लोग उस लकडकोट के भीतर जमा हो जाते थे जहा सामान्यत मुखिया रहता था। धातुओ की कमी और पजाब की नदियो के निरन्तर पात्र-परिवतन के कारण बडी या स्थायी बस्तिया बसाने मे कठिनाइया थी। सबसे छोटी इकाई ग्राम कहलाती थी। बाद मे इस शब्द का अथ 'गाव' हो गया, परन्तु इस समय यह शब्द केवल ऐसे सगोत्र-समूह (सजात) का सूचक था जो अपने मवेशियो तथा शूद्रो के साथ अक्सर ही स्थान बदलता रहता था। ग्राम का नेतृत्व करनेवाला व्यक्ति ग्रामणी कहलाता था, जो मुखिया के प्रति उत्तरदायी कबीले का एक अधिकारी होता था। ग्रीष्मकाल मे यह ग्राम अपने मनुष्यो और पशुओ को पानी के समीप किसी अच्छे चरागाह मे ले जाता था। वर्षाकाल मे ये लोग किसी ऐसी ऊँची भूमि मे डेरा डालते थे जहा सामान्यत बाढ नही पहुच सकती थी, यहा ये लोग कुछ अनाज पैदा करते थे। अभियान के दौरान दो ग्राम, यदि वे एक ही कबीले के हो तो भी, मिलते तो उनमे कोई न-कोई बखेडा अवश्य खडा हो जाता। इसकी जानकारी हमे नये शब्द सग्राम से मिलती है, जिसका अक्षरश अथ होता है 'गामो का मिलन', परन्तु संस्कृत मे इस शब्द का अथ हो गया 'युद्ध'। कबीलाई राज्य (राष्ट्र) के ये विविध ग्राम सामूहिक यज्ञो के अवसरो पर अथवा किसी सामान्य शत्रु का मुकाबला करने के लिए ही एकत्र होते थे। इन लोगो का राजा एक ऐसा व्यक्ति होता था जो कबीले के बहुत सारे कुलस्वामियो का मुखिया होता था। राजा का यह पद बारी बारी से अथवा निर्वाचन से भी मिलता था और वशानुगत विशेषाधिकारो से भी। राजन्य (राज्य करने योग्य) शब्द का राजकुमार, राजा और आमतौर पर हर क्षत्रिय के लिए समान रूप से इस्तेमाल होता था। कबीले की प्रथाओ और नियमो ने राजा के विशेषाधिकारो को बहुत सीमित बना दिया था। लेकिन निरन्तर के युद्धो के कारण ये अधिकार बढते गये और राजपद को एक परिवार मे सीमित रखने की प्रवृत्ति भी बढती गयी। आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिए सम्भाव्य प्रतिद्वन्द्वियो का, चाहे वे राजकुमार हो, भूतपूर्व राजा हो अथवा शक्तिशाली कुलस्वामी हो, अक्सर ही दमन करना अथवा उन्हे निष्कासित (अपरुद्ध) कर देना जरूरी हो गया। जबदस्ती के ऐसे निष्कासन से जो प्राचीन अर्येम्न के

देशनिष्कासन-जैसा ही था, षडयन्त्र और कुचक्र बढने लगे, और कबीले के बन्धन और अधिक ढीले होने लगे। वर्ग व्यवस्था पर आधारित एक नियमित राजतन्त्र, जो कबीलाई एकता की प्रमुख प्रेरक शक्ति से सर्वथा मुक्त था, अब जल्दी ही अस्तित्व मे आनेवाला था।

४ ५ नगरीय पुनरुत्थान

ऊपर जिस समाज का वर्णन किया गया है, उसे सभ्य कहना कठिन है। ब्राह्मण परम्परा वेदो को आज भी समस्त भारतीय वाङमय मे श्रेष्ठतम मानती है। परन्तु वेदो के बारे मे वस्तुस्थिति सचमुच यही होती, तो फिर भारतीय सस्कृति के बारे मे कुछ लिखने लायक रह ही नही जाता। उच्चतर सस्कृति के विकास के लिए एक ऐसे सामाजिक जीवन की आवश्यकता थी जो वदिक समाज की न्यूनताओ और अन्तहीन कलहो से रहित हो। यज्ञ बलियो के असह्य अतिरेक ने तथा इन बलियो के समर्थक समाज दर्शन ने वैदिक समाज को सीमान्त तक पहुचा दिया था। नये समाज की मुख्य कथा अगले अध्याय का विषय है, परन्तु यहा हम उसकी पूर्वपीठिका पर कुछ विचार कर ही सकते है। एक नये उत्थान के रूप मे उत्तर भारत मे नगरीय जीवन की शुरुआत ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के प्रथम चरण म हुई। लगभग ७०० ई० पू० से आगे के सूक्ष्मता से तौले गये चादी के सिक्को से जिस प्रकार की नगरीय दिनचर्या, व्यापार और व्यवस्थित हिसाब किताब का अस्तित्व सम्भव प्रतीत होता है, वह साक्षरता के बिना सम्भव नही था। परन्तु यह अभी तक निर्धारित नही हो पाया है कि उस समय ठीक कौन-सी लिपि प्रचलित थी और उसका किस हद तक इस्तेमाल होता था। यह निश्चित है कि पजाब के अधिकाश क्षेत्र मे बसे हुए आर्य कबीले अनपढ थ, परन्तु यह एक सबल अनुमान है कि कुछ बाद की ब्राह्मी लिपि, कम से कम इसके प्राथमिक रूप मे, नये नगरो म ज्ञात थी। बाकी के लिए, जसे, बुद्ध ने एक गृहस्थ के पुत्र को राजगृह-जसे नगर मे शिष्ट आचरण करने के बारे म समझाया, तो यह ध्यान मे रखना जरूरी है कि ई० पू० सातवी सदी मे सही माने मे दो से अधिक बडे नगरो का अस्तित्व सम्भव नही था। शेष सब ऐसे कस्बे थे जिनमे सभी लोग एक-दूसरे को जानते थे, अथवा ऐसे गाव थे जिनम सटरगश्ती के लिए शायद ही कोई सडक हो। जो अब सामान्य नागरिक जान पडता है, वह उस समाज के लिए एक नयी बात थी जिसने सामाजिक जीवन के मुख्य केन्द्र के रूप मे 'सभा' (पुरुषो का मिलन स्थल) को त्यागकर अभी 'सथागार' (प्रतिनिधि सभा) को नही अपनाया था।

हडप्पा (जो विजय के बाद कुछ समय तक आबाद रहा) और मोहेजोदडो (जो हमले के बाद ही हमेशा के लिए खडहर बन गया) के अन्तिम विनाश के बाद जो नगर अस्तित्व म आये, वे सिन्धु प्रदेश की पूर्वी सीमा पर और उसके परे

थे। निश्चय ही ये अभी छोटे पैमाने के नगर थे। परन्तु इन नगरो के कारण खेती पर पशुचारी व्यवस्था की अपेक्षा कही अधिक बोझ पडा, और पशुचारी व्यवस्था का अब भी महत्त्व था। यजुर्वेद म ही बारह बैलो की जोडियो से खीचे जानेवाले हलो के बार मे जानकारी मिलती है। ऐसे हला का इस्तेमाल आज भी होता है, गहरे कूड बनाने और भारी मिट्टी को उलटने के लिए य अत्यावश्यक है अन्यथा भूमि से बढिया फसल नही मिलेगी और वह अपनी उवरता खो देगी। मजबूत हल तो काँसे के औजारो से लकडी को छीलकर बनाया जा सकता था, परन्तु पजाब की, विशेषत जलविभाजक के समीप की, पथरीली जमीन की जुताई के लिए लोहे के फाल की ही जरूरत थी। यह लोहा कहाँ से आया ? तलवारा और अन्य औजारा के लिए, जो अभी भी काँसे के बनते थे, अधिकाधिक मात्रा म जिस ताँबे की आवश्यकता थी, उसके क्या नये स्रोत नही थे ?

ये धातुएँ यथेष्ट मात्रा म ८०० ई० पू० के आसपास से पूव की ओर से मिलने लगी। भारत म लोहे और ताबे की कच्ची धातु के सर्वोत्तम भण्डार गगा की घाटी के पूव मे दक्षिण पूव बिहार (ढालभूम, मानभूम और सिंहभूम जिला) मे हैं। परन्तु इस प्रदेश मे आज भी घने जगल है और वर्षा अधिक होती है, और इन जगला को साफ करने पर भी यहा कृषि उतनी लाभप्रद नही होगी जितनी कि गगा की खास घाटी म होती है। यही कारण है कि, समीप ही धमन भट्टियाँ और धातु के कारखाने होने पर भी आज तक यहा काफी हद तक आदिम कबीलाई जीवन का अस्तित्व है। हम जानते है कि इस प्रदेश के ताँबे को निकाला गया था। ताम्र अयस्क के भण्डारो के समीप ही धातु कचर के और अवशिष्ट राख के अज्ञात-कालीन ढेर मिले हैं, और लगभग १००० ई० पू० की ताम्रनिधिया तो गगा के पूरे मैदान म ही मिली है। इन निधियो म मछली मारने के कुछ भाले हैं, कुल्हाडिया हैं, अद्ध-मानवाकृति जैसी वस्तुएँ है, और भी कई प्रकार की वस्तुएँ हैं। इनमे करीब दो फुट लम्बी और अनगढ छेनी जसी धारवाली सबसे बडी बल्लम-नुमा कुल्हाडिया इतनी बेढगी हैं कि इन्ह औजार नही कहा जा सकता। ये वस्तुए निश्चय ही व्यापारियो की निधियाँ है। इनका निर्माण स्वय आदि-वासियो ने नही किया था, क्योकि ताँबे के शोधन के लिए नियन्त्रित आग की, अत अच्छे भट्ठो की, आवश्यकता होती है। ऐसे भट्ठा से बढिया मृत्भाण्ड भी तैयार किये जा सकते है और यह माना जाता है कि य ताम्र-वस्तुएँ पहले-पहल मृत्भाण्डो के आवो से ही तयार की गयी थी। परन्तु इन ताम्रनिधिया के [illegible] जितने भी मृत्भाण्ड मिले है वे सारे अनगढ, अधपके तथा गेरू से पुते हुए है [illegible] खुदाई के दौरान ही उनके टुकडे टुकडे हो जाते है। इसलिए इस प्रदेश [illegible] सभ्यता के लोगो और आर्यों की, जो सामान्यत उत्तर के [illegible] का इस्तेमाल करने लग गये थे, बस्तियाँ सम्भव नही थीं। [illegible]

इनका सम्ब ध अग्रगामी आय व्यापारियो से था। परन्तु गेरुए रग के ऐसे ही घटिया मृत्भाण्ड आर्यो की हस्तिनापुर-जैसी नयी बस्तिया मे चित्रित धूसर भाण्ड के नीचे और प्राकृतिक भूतल के ठीक ऊपर प्राप्त हुए ह। इससे स्पष्ट होता है कि सारे आय पजाब मे ही पशुपालन मे जुटे हुए नही थे। ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी मे, विशेषत आर्यो की दूसरी प्रमुख लहर मे, निश्चय ही ऐसे लोग थ जिनमे आगे बढकर खोजबीन करने की दृढता एव साहस मौजूद था। ये लोग अच्छे योद्धा थे और इन्ह धातुकम का, विशेषत लोहे का, भी कुछ ज्ञान था। एशिया के जिन प्रदेशो से होकर आय लोग भारत पहुँचे थे उनमे ईसा पूव प्रथम सहस्राब्दी की शुरुआत तक लोहे का ज्ञान फैल चुका था। गगा की घाटी म घने जगल थे, इसलिए वहा कृषक बस्तिया अभी सम्भव नही थी। इसीलिए आर्यो की मुख्य बस्तियो की स्थापना एक शृखला मे, हिमालय की तराई के साथ-साथ दक्षिणी नेपाल मे हुई, और फिर यह शृखला बिहार के चम्पारन जिले मे दक्षिण की ओर मुडकर गगा नदी तक जा पहुँची। यहाँ आग लगाकर भूमि साफ की गयी थी परन्तु गगा के पास ऐसा करना सम्भव नही था। यह विधि, जिसके कारण आरम्भिक विस्तार गडक नदी के पश्चिम म तराई तक ही सीमित रहा, **शतपथ ब्राह्मण** के एक प्रसिद्ध परिच्छेद मे समझायी गयी है। इसका समय ७०० ई० पू० के पहले होना चाहिए। लेकिन चम्पारन से दक्षिण की ओर लिया गया मोड कच्ची धातुओ के भण्डारा तक पहुँचने के लिए ही था। कच्ची धातुओ के भण्डार राजगिर की पहाडियो के परे थे, और यह राजगिर गगा के दक्षिण म आर्यो की सवप्रथम बस्ती थी।

जलौघ मिट्टी के क्षेत्र को आबादी के योग्य बनाने म कठिनाइया होने के बावजूद, यह स्पष्ट है कि इतिहास मे पूण निरन्तरता प्राप्त प्रारम्भिक नगर नदी मार्गों पर बसे हुए हैं। इनम प्रसिद्ध नगर हैं कुरु प्रदेश मे इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) और हस्तिनापुर यमुना तट पर कोसम्बी (कौशाम्बी) और गगा तट पर बनारस (वाराणसी, काशी)। ईसा पूव प्रथम सहस्राब्दी की शुरुआत मे इन नगरो की स्थापना को केवल इसी आधार पर समझा जा सकता है कि, अभेद्य जगलो और दलदलवाले प्रदेशो से तेजी से बहनेवाली इन विशाल नदियो मे पहले से ही नौकाओ का आवागमन होता था। ऋग्वेद के एक बालखिल्य सूक्त स पता चलता है कि उचथ्य और ममता के ब्राह्मण-पुत्र दीघतमा अपनी वृद्धावस्था म मल्लाह बन गये थे। ऋग्वेद म सौ डाँडावाली नौकाओ के और निकटतम भूमि से तीन दिन की जल-यात्रा के सक्षिप्त उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि आय लोग नाव चलाना जानते थे। इन सारी बातो का यही एक निष्कर्ष निकलता है कि ईसा पूव प्रथम सहस्राब्दी के आरम्भकाल के ये अज्ञातनामा साहसी अग्रगामी समुद्र तक पहुँच गये थे और इन्होने कच्ची धातुओ के भण्डारो को खोज निकाला

था, अन्यथा गगा-तटपर वाराणसी के किले की खुदाई म तटव ध के नीचे पुरावशेष प्राप्त होने का कोई कारण या अथ नही हो सकता। एक वार कच्ची धातुओ की खोज हो जाने पर, फिर तराई की वस्ती शृखला का नदी के समीप के भूमाग मे उस सीमा तक विस्तार करना आसान था जहाँ तक जगलो को साफ करना सम्भव था। यह स्थापना उतनी खयाली नही है, जितनी कि यह लगती है। नदी म प्रचुर माला मे मछली उपलब्ध थी और किनार के जगलो मे जानवरो का शिकार किया जा सकता था। आवश्यकता थी तो केवल निर्भीक साहस और उद्यम की।

अगस्त्य कुल और वि ध्य पवत के दक्षिण ने आर्यो के प्रवेश के बीच कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है पर तु यह अभी मिथक की काटि का ही है, भले ही इसे दक्षिण भारत की महापापाण सस्कृति से जोडने का लोभ होता हो। कर्णाटक के ब्रह्मगिरि स्थान मे मिले महापापाणा का सम्बन्ध रायचूर जिले के नवपापाण-युगीन पशुपालको द्वारा छोडी हुई राख की ढेरियो से है। पत्थर के औजारो और मत्भाण्डो के अनुक्रम स यह सिद्ध हो जाता है। रेडियो-कावन विधि स राख की ढेरियो का काल तीसरी सहस्राब्दी के अन्त के थोडे पहले का निर्धारित होता है। उनके धूसर भाण्डो तथा नमदा की घाटी म ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी की छुट पुट बस्तियो की खुदाई मे विविध प्रकार के मत्भाण्डो के साथ यदा कदा मिलनवाले कासे के टुकडो के आधार पर कुछ पुराविद ईरानी सम्पक का अनुमान लगाते है। यदि ऐसा हो, तो इस आरम्भिक विस्तार की प्रक्रिया एक पहली ही बनी रहती है। सिन्धु प्रदेश की नगरीय सस्कृति जब अपने वैभव के शिखर पर थी तो क्या उस समय आद्य-आर्यों की कोई शान्त लहर इस प्रदेश से होकर गुजरी थी? क्या आर्यो ने लूटमार तभी शुरू कर दी जब बाद की लहर ने युद्ध म काँसे के हथियारो का इस्तेमाल करना जाना? दूसरी ओर, ईसा पूव प्रथम सहस्राब्दी के आरम्भकाल मे (आर्यो द्वारा किये गये) गगा के अन्वेषण को पुरातत्त्व से सिद्ध किया जा सकता है। रायचूर और कर्णाटक के उत्खननो मे 'उत्तरी घुसपैठ' का स्तर निश्चय ही बाद का है, और यह लौहयुग की शुरुआत का सूचक है। इसके विपरीत, पाण्डु राजार ढिबि (पश्चिम बगाल मे अजई नदी पर) की 'ताम्र पापाण युगीन पुरानिधियो मे क्रमिकता का अभाव दिखायी देता है। नमदा घाटी के समरूप अवशेषो की तरह य भी ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी के अन्वेपको की, सम्भवत आर्यो की, छुट-पुट अस्थायी बस्तिया हो सकती हैं जब कि अतरजीखेडा म स्थायी वस्ती थी।

४ ६ महाकाव्य युग

- आरम्भिक छोट नगरो मे से कुरुदेश (दिल्ली मरठ) के दो नगरो ने भारतीय परम्परा पर अपनी अमिट छाप छोडी है यद्यपि अन्तत वाराणसी

ब्राह्मणधर्म का एक पवित्र केन्द्र बन गयी, और यह आज भी है। ऐतिहासिक काल में पंजाब और उत्तरप्रदेश के बीच के क्षेत्र का सामरिक दृष्टि से बड़ा महत्व था। पिछली कई सदियों में दिल्ली भारत की राजधानी रही, और आज भी है। कुरुदेश के पानीपत स्थान पर लड़े गये कई निर्णायक युद्धों ने देश के समस्त उत्तरी भाग के भाग्य का फैसला किया है। महान भारतीय महाकाव्य महाभारत का विषय भी कुरुक्षेत्र में लड़ा गया संहारक युद्ध ही है। यदि ऐसा कोई युद्ध सचमुच ही हुआ है, तो ऐतिहासिक राजाओं तक की पारम्परिक गतवर्षीय गणना के अनुसार यह ८५० ई० पू० के आसपास ही हुआ होगा। यह अनुमानित घटना निश्चय ही काफी छोटे पैमाने पर हुई होगी, परन्तु इसका साहित्यिक महत्व उतना ही बड़ा है जितना कि यूनानी महाकाव्य के ट्रोजन युद्ध का। कुरु प्रदेश के हस्तिनापुर की मूल बस्ती प्राचीन वदिक पुरु कबीले की किसी छोटी शाखा की थी। हस्तिनापुर के द्वितीय स्तर में जो चित्रित धूसर भाण्ड मिले हैं उन्हें व्यापक रूप से आर्यों के मत्भाण्ड नहीं, बल्कि पुरु-कुरुओं का मृतिका शिल्प माना जाना चाहिए। पाण्डवों (पाण्डु-पुत्रों) की एक दूसरी शाखा ने पारम्परिक विधि से, यानी आग लगाकर, जंगल को साफ करके इन्द्रप्रस्थ (सम्भवतः दिल्ली के पुराने किले का क्षेत्र) बसाया। जंगल साफ करने का यह काम अग्नि देवता के लिए आयोजित एक महान् यज्ञ समझकर पूरा किया गया। आग के घेरे से बाहर भाग निकलने की कोशिश करनेवाले हर प्राणी का वध किया गया और इस प्रकार इस नये क्षेत्र को हल की खेती के योग्य बनाकर आबाद किया गया। तब इन पड़ोसी और सम्बन्धित राज्यों में उभय-संहारक युद्ध हुआ। बाद में इसे एक ऐसे युद्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया जिसमें समस्त पृथ्वी (जिसका अर्थ है, भारत) पर अधिकार प्राप्त करने के लिए लाखों-करोड़ों योद्धाओं ने भाग लिया। परन्तु उस समय इतना अधिक उत्पादन नहीं होता था कि उससे बड़ी सेनाओं का पोषण हो सके तथाकथित क्षेत्रीय राज्यों द्वारा सुसज्जित बड़ी सैनिक टुकड़ियों को दूर दिल्ली तक भेजना तो और भी दूर की बात रही। वास्तव में कुरु प्रदेश में कुरु राजा द्वारा शासित एक छोटा कबीलाई राज्य पाँचवीं सदी तक मौजूद था परन्तु इसके बाद इसका पूर्णतः लोप हो गया। सम्पूर्ण देश पर कुरुओं का प्रभुत्व कभी भी नहीं रहा, यदि रहा है तो केवल बाद के चारणों की कल्पना में। माना जाता है कि कुरुओं के वंशज परीक्षित का तक्षशिला में बड़े ठाठ-बाट से राज्याभिषेक हुआ था। परन्तु ईसा पूर्व चौथी सदी के पहले तक्षशिला एक देहात मात्र था और चौथी सदी से जब इसने इतिहास में प्रवेश किया तो परीक्षित का कोई अता पता नहीं था। महाभारत-युद्ध के बाद वंशानुक्रम में जो चौथा राजा हुआ, उसे बाढ़ के कारण हस्तिनापुर छोड़ देना पड़ा। इस बात के कुछ पुरातात्विक प्रमाण भी मिलते हैं। वह राजा अपनी पुरु-कुरु राजधानी

को आगे नदी तट पर कोसम्बी मे ले गया।

एक काव्य के रूप मे महाभारत का विकास इस काल्पनिक महायुद्ध की सबसे बडी विशेषता है। इलियड की भाति इस कृति का आरम्भ भी एक श्रेष्ठ राजवश के अन्त पर शोक प्रकट करने के साथ हुआ। परन्तु विजेता अभी भी शासन कर रहे थे, इसलिए स्वभावत ही इन गीतो को काफी जल्दी जय-गानो मे बदल दिया गया—कुछ-कुछ व्यग्यात्मक रूप मे। महाभारत के साथ यह जय नाम अब भी जुडा हुआ है ('जयो नामेतिहासोऽयम्'—आदिपव)। किसी भी घटना का गायन करने के पहले आमतौर पर (जैसाकि उस समय अन्य देशो म भी होता था) मगलाचरण (यहा वैदिक, और यूनान मे होमरिक) गान की प्रथा थी। यदि अनुष्ठान काय के लिए कोई सरक्षक मिल जाता तो उसकी वश परम्परा का भी गुणकीतन किया जाता था। मगलाचरण के वदिक सूक्तो के कारण ब्राह्मणो को महाभारत की परम्परा पर अधिकार करने मे आसानी हुई। जब तक ब्राह्मणधम के पुरोहित वग ने अन्य आर्यो से अपने को काफी पृथक नही कर लिया, तब तक पेशावर चारण (सूत) ही आरम्भिक कवि और गायक थ। ब्राह्मणो द्वारा सशोधित-सम्पादित महाभारत का आज उपलब्ध सकलन, जिसमे ८०,००० से ऊपर श्लोक और कुछ गद्याश है, २०० ई० पू० और २०० ई० के बीच के काल मे तयार हुआ। आदिपव के प्रारम्भ मे यह स्पष्ट कहा गया है कि उस समय २४,००० श्लोको की भारतसहिता मौजूद थी, यद्यपि यह अब पूणत लुप्त हो गयी है। विभिन्न वर्गो के श्रोताओ को आकर्षित करने के उद्देश्य से नये सम्पादको ने इसमे तरह-तरह के आख्यान और मिथक जोड दिये। कई घटनाएँ, जिनका युद्ध से कोई स्पष्ट सम्बन्ध नही है, विभिन्न पात्रो द्वारा वर्णित कथा के भीतर की कथाएँ जान पडती है। एक आधारभूत कथा की चौखट खडी करके इस विस्तार को अधिक स्वाभाविक बना दिया गया। राजा जनमेजय-तृतीय ने नागो के सम्पूण विनाश के लिए एक विराट् यज्ञ किया। ये नाग राक्षस इच्छानुसार सप या मानव का रूप धारण करने म समथ थे, और इनमे से एक ने जनमेजय के पिता परीक्षित द्वितीय को मार डाला था। अत य युद्ध-कथानक और आख्यान ऐसी कथाएँ है जिन्हे दीघकालीन यज्ञो (सत्रो) के अवसरो पर घुमा फिराकर कहना जरूरी होता था। अर्थात अपने वतमान रूप म महाभारत *प्रमुखत एक महायुद्ध का नही, बल्कि एक महायज्ञ का विवरण है।* महाभारत के विस्तार की प्रक्रिया का अन्त २०० ई० मे ही नही हो गया, यह उन्नीसवी सदी तक चलती रही। देश के विभिन्न भागो के विभिन्न सस्करणो की तुलना करके महाभारत का लगभग एक ऐसा विवेचनात्मक आद्य रूप तयार करना सम्भव हुआ जो अधिक से-अधिक ईसा की चौथी सदी का हो सकता है। मूल गीता से मिलने-जुलते पाठ के पुनरुद्धार का प्रश्न ही नही उठता।

बाद के अधिकांश प्रक्षेप धार्मिक स्वरूप के हैं, इनमें ऐसी बातें हैं जिनका वैदिक कर्मकाण्ड और धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। इन्हीं के बल पर ब्राह्मणों ने, जिनकी प्राचीन प्रतिष्ठा बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण घट गयी थी, समाज में पुनः उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। बाद में जोड़ा गया सबसे प्रभावशाली अंश है भगवद्गीता। कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण ने इस गीता का उपदेश युद्ध शुरू होने के कुछ समय पूर्व ही दिया था। परन्तु यह कृष्ण एक नया देव था, इसको परम देवत्व को आगे कई सदियों तक मान्यता नहीं मिली। गीता की संस्कृत भाषा ईसा की तीसरी सदी के आसपास की है। परन्तु कृष्ण को देवत्व प्रदान करने के काफी पहले, जब महाभारत के संशोधन का पहला दौर चला और यह एकात्मक ब्राह्मणधर्मीय महाकाव्य बन गया, उस समय इसका विशेष महत्त्व इसकी आधार-कथा के कारण ही था। दरअसल, इस आधार-कथा का महत्त्व जितना समझा जाता है, उससे कहीं अधिक है। इतिवृत्त के अनुसार, जनमेजय का यज्ञ, जिसे यहाँ पर वास्तविक युद्ध से अधिक महत्त्व दिया गया है, बिना समापन के अधूरा ही छोड़ देना पड़ा। इस विचित्र परिणति का श्रेय ब्राह्मण पिता और नाग माता के युवा पुत्र आस्तीक की प्रतिभा को है। जनमेजय का मुख्य पुरोहित सोमश्रवा भी ऐसे ही मिश्रित माता-पिता की सन्तान था। ब्राह्मणधर्म के कठोर नियम के अनुसार ब्राह्मण पिता और किसी भी अन्य जाति की माँ से उत्पन्न सन्तान को कभी भी ब्राह्मण नहीं माना गया। इसलिए इस अनिस्पीत महाकाव्य के ब्राह्मण सम्पादक अपनी वंश-परम्परा आर्य दायरे से इतनी अधिक दूर होने की बेझिझक घोषणा करते हैं, तो स्पष्ट होता है कि नाग लोग कोई राक्षस अथवा निम्न जाति के नहीं, बल्कि किसी सम्मान्य जनजाति के रहे होंगे। आस्तीक 'यायावर' (घुमक्कड़) कुल में पैदा हुआ था। इस नाम का एक परिवार ईसा की नौवीं सदी तक मौजूद था, और संस्कृत का प्रख्यात कवि-नाटककार राजशेखर, जो ब्राह्मण नहीं था या जिसने कम-से-कम मराठा अथवा राजपूत सामन्तों के चाहमान कुल की अब्राह्मण स्त्री से विवाह किया था, इसी यायावर परिवार का था।

तो फिर कौन थे ये नाग—जो सर्प-दानव के साथ-साथ मानव भी थे जिन्हें इतना दुष्ट समझा गया कि उनके विनाश के लिए विशेष प्रकार के शक्तिशाली यज्ञ का आयोजन किया गया लेकिन फिर भी ब्राह्मणों के संयोग से उनकी स्त्रियों ने वैध और अतिसम्मान्य सन्तान को जन्म दिया? उपलब्ध सामग्री से इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना सम्भव है। स्पष्ट है कि जातिगत अर्थ में 'नाग' शब्द का प्रयोग जंगलों में रहनेवाले उन आदिवासियों के लिए हुआ जो अनिवार्यतः एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं थे परन्तु जिनका गणचिह्न (टोटेम) नाग था या जो नाग की पूजा करते थे जैसाकि भारत के बहुत से आदिवासी (और केवल आदिवासी

ही नहीं) आज भी करते हैं। जब आर्यों ने कुरु प्रदेश में पहली बार अपनी बस्तियाँ स्थापित कीं, उस समय ये नाग लोग पास के जंगलों में रहते थे। अर्द्ध-मरुक्षेत्रवाली खुली नदी घाटियों अथवा पंजाब की निचली पहाड़ियों के प्रदेश की अपेक्षा गांगेय प्रदेश के जंगलों में भोजन-संग्रह अधिक आसान था। परन्तु इन्हीं घने जंगलों के कारण नाग लोगों को जीतना या उन्हें कबीलाई दासों की अवस्था पर ले आना, जैसाकि पश्चिम की ओर के दासों और शूद्रों के साथ हुआ, असम्भव हो गया। जब तक वे स्वतन्त्र भोजन-संग्राहक बने रहे तब तक उन्हें निम्न जाति की अवस्था में पददलित करना सम्भव नहीं हुआ। वेदों में ही यह जानकारी मिलती है कि, ऐसे भी कुछ गरीब ब्राह्मण थे जिन्हें किसी आर्य कबीले का संरक्षण प्राप्त नहीं था और जो शांतिपूर्वक जंगलों में जाकर सामान्यतः आहार-संग्रह पर और कभी-कभी कुछ मवेशियों के सहारे जीवन-यापन करते थे। विद्याध्ययन की पुरानी ब्राह्मण-परम्परा, जो ईसवी सन की शुरुआत तक प्रचलित रही और जो सिद्धान्त रूप में आज भी अनिवार्य समझी जाती है, यह थी कि वेदाध्ययन के इच्छुक विद्यार्थी को किसी अरण्याश्रम में बसे हुए किसी वरिष्ठ आचार्य की बारह साल तक सेवा करनी पड़ती थी। उसे गायों की देखभाल करनी पड़ती थी, अलिखित वेदों को कण्ठस्थ करना होता था, कर्मकाण्ड की हर सूक्ष्म बात में पारंगत होना पड़ता था। इन सबके बाद ही वह पूर्णतः दीक्षित ब्राह्मण बनकर बाहर निकलता था। इन आश्रमों में न तो शिकार करने की प्रथा थी, न ही खेती की जाती थी। यह शुरू-शुरू का काल था, इसलिए यदा-कदा आदिवासी नाग स्त्रियों से विवाह कर लेने की अनुमति थी ही। उस समय के ये अग्रगामी ब्राह्मण अपने साथ क्वचित् ही अपनी जाति की स्त्रियाँ ले जाते थे। यह प्रथा बाद में उस समय अस्तित्व में आयी जब गुरुकुल की परम्परा भलीभाँति स्थापित हो गयी। नाग लोगों के साथ इनके संघर्ष का सवाल ही नहीं उठता था, क्योंकि ये नाग (आजकल के आसाम के नागाओं की तरह) युद्ध प्रेमी नहीं थे और खेती भी नहीं करते थे, और इसलिए जंगलों में इनकी काफी विरल आबादी थी। हस्तिनापुर के प्रथम स्तर में अधपके घटिया दर्जे के गेरू पोते जो मृत्भाण्ड मिले हैं, वे सम्भवतः परवर्ती नाग लोगों के हैं। जैसे-जैसे जंगल साफ होते गये, वैसे-वैसे क्रमिक विलयन के साथ नाग लोग कृषि को अपनाते गये। महाभारत से जानकारी मिलती है कि कम-से-कम एक नाग वंश के, पाण्डवों के साथ तो नहीं परन्तु कुरुओं के साथ मैत्रीपूर्ण और कुछ विशेष प्रकार के सम्बन्ध थे। अतः इसे नागों के वंशजों ने अपनी-अपनी मूल उपासना विधियों को कायम रखा और विलुप्त कुरु गौरव के गायक आरम्भिक चारणों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखे तो यह एक स्वाभाविक ही बात है। महाभारत के आदिपर्व में नाग-वंशावलियों और आख्यानों को विशेष महत्त्व दिया गया है

यद्यपि युद्ध की मुख्य कथा से इनका तनिक भी कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत, यदुनायक और नरदेव कृष्ण का उत्थापित 'सर्वेश्वर' पद महाकाव्य के विभिन्न स्तरों में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने पर भी कृष्णाख्यान तथा कृष्ण वंशावली का समावेश महाभारत के परिशिष्ट ग्रन्थ हरिवंश में किया गया है। बाद के भारतीय प्रतिमाशास्त्र में महानाग की अनेक लीलाओं का प्रस्तुतीकरण हुआ है। माना जाता है कि शेषनाग ने पृथ्वी को अपने सिर पर धारण कर रखा है, उसे जल में डूब जाने से बचाये हुए है। वह जलवासी विष्णु के लिए शय्या और छत्र दोनों बना हुआ है, कालान्तर में कृष्ण इसी विष्णु का अवतार बना। नाग शिव के गले का हार है, गणेश के हाथ में एक शस्त्र है और यह एक स्वतन्त्र देवता भी है जिसकी पूजा के लिए वर्ष का एक ऐसा विशेष दिन नियत है जब धर्मपरायण लोग न ज़मीन खोदते हैं, न धातु का इस्तेमाल करते हैं। साथ ही वह भारतीय किसानों का कृपापात्र 'क्षेत्रपाल' (शिव का एक नाम) यानी खेत रक्षक भी है। महाभारत में संस्कृतियों के समागम के बारे में जो जानकारी मिलती है वह इसकी नगण्य और अतिसन्देहात्मक ऐतिहासिक विषय-वस्तु से कहीं अधिक रोचक है।

महाभारत के महत्त्व और इसकी भ्रामक व्याख्या के कारण पूर्ववर्ती विवेचन के सार-संक्षेप को पुनः प्रस्तुत करना आवश्यक है। इस महाकाव्य में प्राचीनतम कथाओं के तीन स्पष्ट स्रोत हैं: कुरु-कुरु युद्धगीत, आदिवासियों के मिथक, और युद्ध गाथाएँ। इन विसंगत कथाओं का तत्कालीन संयुक्त किन्तु अभी भी आदिम स्तर के समाज के अनुरूप किसी तरह मेल बिठाना आवश्यक था। इसके लिए कुठाली का काम दिल्ली-मेरठ मथुरा क्षेत्र ने ऐसे समय में किया जब धातुओं की, विशेषतः लोहे की, जानकारी तो थी किन्तु ये अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं थीं। उत्तरकालीन वैदिक आर्य, खाद्य संग्राहक अरण्यवासी नाग लोग और कृष्ण के नव वैदिक गोपालक, यदि आपस में लड़ना बन्द कर देते, तो मिलकर ये एक अधिक सक्षम अन्न उत्पादक समाज का निर्माण कर ही सकते थे। परिवेश और धातुओं की न्यूनता के कारण इन तीन समुदायों में से किसी भी एक के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह मात्र बल प्रयोग द्वारा दूसरों को अपने अधीन कर सके। इसलिए मिथकों का ही मिलन हुआ। मानवीय तत्त्वों का पुनस्संयोजन करने में कश्यप कुल ने सहयोग दिया और आख्यानों का सम्पादन भृगुओं के एक अन्य ब्राह्मण-कुल ने किया। संस्कृतियों का यह परस्पर मिलन इतना प्रभावकारी था कि महाभारत का आकार बढ़ता ही गया और सम्पूर्ण मध्ययुग में इसी ढाँचे पर पुराणों की पुनर्रचना हुई। यह प्रक्रिया तभी अनुपयोगी सिद्ध हुई जब सम्मिलित अन्धविश्वासों के आधार पर लोगों को एकजुट रखकर एक अधिक उत्पादक समाज का निर्माण करना सम्भव नहीं हुआ। मुसलमानों की अपेक्षाकृत आसान

विजय के कारण यह विफलता और भी पक्की हो गयी। परन्तु तब तक 'जियो और जीने दो' की मान्यता का स्थान काफी पहले से इस मान्यता ने ले लिया था कि 'तर्क-विवेचन, भौतिक वास्तविकता अथवा साधारण सहज बुद्धि की परवाह किये बिना उन सारी बातों पर विश्वास करो जो पुरोहित कहें'।

पाँचवाँ अध्याय

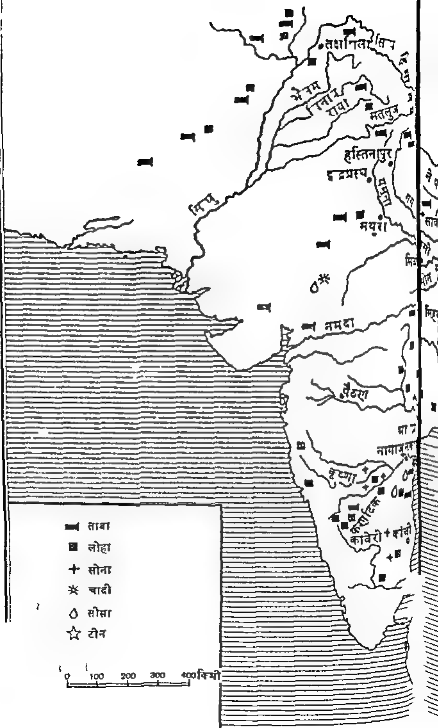
कबीले से समाज की ओर

५.१ नये धर्म

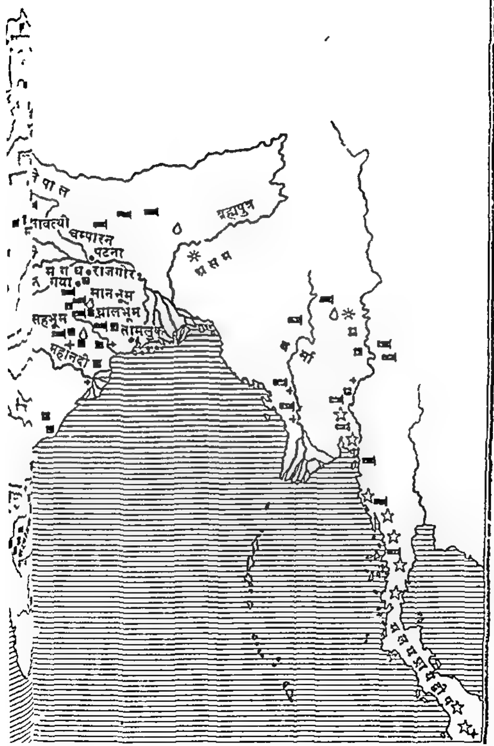
देश से बाहर के करोड़ों लोगों के लिए भारत महज बुद्ध की भूमि है। एशिया की अधिकांश जनता की दृष्टि में बौद्ध धर्म ही भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, न कि कोई राजतंत्र प्रणाली या किसी भौतिक वस्तु का निर्यात। भारतीय प्रभाव के अंतर्गत विकसित बौद्ध अभिप्रायों के बिना बर्मा, थाईदेश, कोरिया, जापान और चीन की वास्तु एवं ललित कला, और इसलिए संसार की कला, काफी अकिंचन रह जाती। प्राचीन मंगोल और तिब्बती साहित्य में बौद्ध धर्म-ग्रंथों का हिस्सा बहुत अधिक है। सन् १९५९ तक तिब्बत का सम्पूर्ण शासन चंद बौद्ध विहारों और उनके द्वारा नियुक्त अधिकारियों के हाथों में रहा है। श्रीलंका, बर्मा, थाईदेश और हिन्दचीन के लोग, न केवल (अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार) बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, अपितु अपने विभिन्न इतिहासों के उप काल में इसी धर्म के आद्य सभ्यकारी प्रभाव को स्वीकार करते हैं। ईसा की पाँचवीं और छठी सदियों में चीन के विशेषतः उसके भीतरी प्रदेश के, आर्थिक विकास में बौद्ध विहारों की जो प्रभावशाली और अपरिहार्य भूमिका रही है, उसे अभी हाल ही में समझा गया है। सुदूर देशों के अनगिनत यात्री रेगिस्तानों, हिमाच्छादित ऊँचे ऊँचे पर्वतों और प्रचण्ड समुद्री तूफानों के कष्टों को झेलकर बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सम्बंधित स्थलों के दर्शन के लिए साहसी यात्राएँ करते रहे, आज भी करते हैं। अपने समय में बौद्ध धर्म का प्रचार पूर्व की अपेक्षा पश्चिम की ओर और भी अधिक प्रभावकारी रहा। बामियाँ (अफगानिस्तान) में पूरी चट्टानों को छीलकर बनायी गयी बुद्ध की ६० मीटर ऊँची मूर्तियाँ अपने आप में इस बात की यथेष्ट प्रमाण हैं। मध्य एशिया में पाये गये अनगिनत

स्तूपा के भग्नावशेष भी इसी बातकी गवाही देते हैं। बौद्ध धम ने न केवल मानीवाद को प्रभावित किया, वल्कि इसके पहले ईसाई धम के निर्माण मे भी सहयाग दिया होगा। मत सागर की कुण्डलियो की रचना करनेवाले विद्वान् हालाकि सच्चे यहूदी थे, फिर भी उनकी कृतियो मे कुछ ऐसी विशेष बाते है जो बौद्ध उत्पत्ति की जान पडती है। कब्रिस्तान के लगभग ऊपर ही वने मठ मे उनके वास्तव्य की प्रथा यहूदी धम के लिए तो अप्रिय हो सकती है, परन्तु बौद्धो के लिए यह प्रिय ही रही है। फिलस्तीन के इस (सम्भवत एस्सीन) सम्प्रदाय के लेखा मे 'सदाचरण के उपदेशक' का जो नामोल्लेख है, वह बुद्ध की उपाधि से ठीक मिलता जुलता है। इसलिए इसमे कोई आश्चय की बात नही है कि पुरानी बाइबिल का पवत प्रवचन, इसे पहली बार सुननेवाले इसके अनुयायियो की अपक्षा, बौद्धो को अधिक परिचित जान पडे। ईसा मसीह के कुछ चमत्कार, जसे पानी पर चलना, बुद्ध के जीवन-सम्ब धी साहित्य म काफी पहले से प्रचलित थे। इसी प्रकार बरलाम और जोसफत' नामक ईसाई सत की कथा स्पष्टत बुद्ध की जीवन कथा पर आधारित है।। बगदाद के अब्बासी खलीफा हारूँ-अल-रशीद (जिसे 'अरेबियन नाइट्स' की कथाओ ने अमर बना दिया है) के बरमक नामक मन्त्रियो के परिवार के पूवज किसी समय बौद्ध 'नव विहार' के वशानुगत मठा धीश (परमक) थे। इस्लाम मे नये नये दीक्षित हुए थे, इसलिए उन पर यह स देह भी किया जाता रहा कि वे अपने पुराने धम की कुछ काफिरी मान्यताएँ कायम रखे हुए हैं।

इस असाधारण विस्तार की दो आश्चयजनक कि तु परस्पर-विरोधी विशेषताएँ हैं। भारत के बाहर इस धम का प्रचार बिना बल-प्रयोग के या भारत के इसी प्रकार के राजनीतिक प्रभाव के विस्तार के बिना ही हुआ। दूर दूर के देशो मे असोक (सस्कृत अशोक) का नाम आदर के साथ लिया जाता है, तो इसका कारण यही है कि वह एक महान् बौद्ध सम्राट् था, न कि उसकी किसी विजय अथवा किसी प्रकार के शक्ति प्रदशन के कारण। कुषाणो ने मध्य एशिया और भारत के कुछ भागो पर सम्मिलित रूप से शासन किया, परन्तु वे बौद्ध धम के साथ-साथ अ य भारतीय सम्प्रदायो और देवताओ के भी आश्रयदाता थे। इनम से एक देवता थे शिव, पर तु इनके पूजा विधान का प्रचार दूर तक नही हुआ। *हान राजवश के शासक मिन् ति से चीनी सम्राटो का एक सिलसिला ही शुरू* हुआ, जि होंने बौद्ध प्रचारको को आमन्त्रित करने के लिए कोई कसर उठा नही रखी। फिर भी, अपनी ज मभूमि म ही बौद्ध धम का लाप हो गया, केवल पूर्वोत्तर सीमा प्रदेश मे ही कुछ अवशेष बचे रह। बाह्य सफलता के विपरीत स्वदश मे इस धम का पूण लोप एक पहेली-सा जान पडता है। आज भी यदि शिक्षित भारतीयो से यह कहा जाये कि बौद्ध धम—जिसे वे क्षणिक पथभ्र श



तक्षशिला
झेलम
चनाब
रावी
सतलुज
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
यमुना
सिन्धु
मथुरा
नर्मदा
पैठण
नागार्जुन
कृष्णा
कावेरी
कांची
तांबा
लोहा
सोना
चांदी
सीसा
टीन
0 100 200 300 400 किमी


नेपाल
चम्पारन
पटना
म ग ध
राजगीर
गया
मानभूम
धालभूम
सहभूम
तामलुक
महानदी

मात्र समझते हैं—विश्व संस्कृति को उनके देश का विशिष्ट योगदान है, तो वे भौचक्के रह जायेंगे या नाराज हो जायेंगे। बौद्ध धर्म के उत्थान, प्रसार और पतन के १५०० वर्षों के पूरे कालचक्र में भारत अर्ध-पशुपालक जीवन की अवस्था से प्रथम पूर्ण राजतन्त्र की अवस्था में पहुँचा और तदनन्तर सामन्ती युग में। अतः इस धर्म ने अपनी जन्मभूमि की इन विविध अवस्थाओं में जो विभिन्न भूमिकाएँ अदा की हैं उनका भारतीय सभ्यता के गम्भीर अध्ययन में केन्द्रीय स्थान होना ही चाहिए। साथ ही, देश और देश के बाहर इस धर्म का जो द्वन्द्वयुक्त और पेचीदा विकास हुआ है, उसे भी हमें समझना होगा।

ईसा पूर्व छठी सदी ने चीन में कन्फ्यूशियस के दर्शन को और ईरान में जरतुश्त के व्यापक सुधारों को जन्म दिया। गंगा की मध्य घाटी में कई सारे नये मतवादी उपदेशक पैदा हुए। बुद्ध इनमें से एक थे, परन्तु अपने जीवन-काल में अभी उन्हें सबसे अधिक प्रतिष्ठा नहीं मिली थी। विरोधी मतों के बारे में अधिकांश जानकारी प्रतिद्वन्द्वियों के पक्षपातपूर्ण धार्मिक ग्रन्थों में ही मिलती है। परन्तु जैन धर्म भारत में आज भी जीवित है और बुद्ध के पहले के तीर्थंकर इसके संस्थापक माने जाते हैं। मैसूर के अभिलेखों से पता चलता है कि ईसा की चौदहवीं सदी तक आजीवकों का अस्तित्व रहा है। क्रमशः इन दो सम्प्रदायों के मुख्य प्रवर्तक थे—महावीर (जैन मतावलम्बी यद्यपि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा में आस्था रखते हैं, परन्तु इनमें पार्श्व ही ऐतिहासिक जान पड़ते हैं) और मक्खली गोसाल। ये दोनों ही बुद्ध के समकालीन थे और तत्कालीन अन्य अनेक उपदेशकों की भाँति इन्होंने भी उसी क्षेत्र में अपने मतों का प्रचार किया। स्वयं बुद्ध ने भी अपने समय के दो ज्येष्ठ उपदेशकों की शिक्षाओं को ग्रहण करके ही उन्हें आगे बढ़ाया है। ये दो उपदेशक थे—उद्दक रामपुत्त और कालाम नामक आर्य कबीले के आलार। इसलिए बौद्ध धर्म को उसके निस्संदिग्ध महान संस्थापक की मात्र वैयक्तिक उपलब्धि के रूप में नहीं देखा जा सकता, न ही इसका ह्रास मानवीय कमजोरियों के कारण हुआ। स्पष्टतः, एक सीमित क्षेत्र में इतने सारे काफी प्रभावशाली और लब्धप्रतिष्ठ सम्प्रदायों का एकमात्र उत्थान एक ऐसी सामाजिक आवश्यकता का सूचक है जिसे पुराने मत पूरा नहीं कर सकते थे। इस आवश्यकता का विश्लेषण हो सकता है सभी नये उपदेशकों से सम्बन्धित एक से तत्त्वों की खोजबीन करके और अनुयायियों के नये वर्गों का अनुशीलन करने से। यदि यह सामान्य निरन्तरता और क्रमिक विकास की ही बात होती तो नये धर्मों का उदय सिन्धु प्रदेश में होना चाहिए था जहाँ एक महान सभ्यता के भग्नावशेष अभी मौजूद थे या फिर पश्चिमोत्तर भारत में होना चाहिए था जहाँ वैदिक संस्कृति का प्रभाव था और आगे भी कई सदियों तक रहा, या कुरुदेश में होना चाहिए था जो महाभारत की कथा का केन्द्रस्थल था और

उस प्रकार की नैतिकता के लिए एक उपयुक्त क्षेत्र था जिससे यह महाकाव्य ओत-प्रोत है, या मथुरा मे होना चाहिए था जहाँ से अततः सर्वेश्वर के रूप मे कृष्ण के एक नये और शक्तिशाली सम्प्रदाय का प्रसार हुआ। किंतु क्या कारण है कि पूर्व के नवीनतम और कुछ सास्कृतिक बातो के मामले मे अपेक्षाकृत पिछडे हुए प्रदेश मे ही धर्म के इन सबसे उन्नत स्वरूपो का उत्थान हुआ ?

ईसा पूर्व छठी सदी मे गगा की घाटी मे नये वर्गों के अस्तित्व से इनकार नही किया जा सकता। एक वर्ग स्वतत्र खेतिहरो और कृषको का था। कबीले के अतर्गत वैश्यो का जो नव-वैदिक पशुचारी वर्ग था, उसका स्थान अब उन कृषको ने ले लिया था जिनके लिए कबीले का कोई अस्तित्व नही रह गया था। व्यापारी इतने मालदार हो गये थे कि पूर्व के नगरो मे सबसे महत्त्व का व्यक्ति सामान्यतः श्रेष्ठी ही होता था। यह शब्द, जिसका पहले कोई अस्तित्व नही था, 'श्रेष्ठ' (मुखिया) से बना है। दरअसल, श्रेष्ठी पूजीपति अथवा साहूकार होता था और कभी-कभी व्यापारियो के सगठन (श्रेणी) का मुखिया भी। इन श्रेष्ठियो का शासन-तत्र से कोई प्रत्यक्ष सरोकार नही था, परतु परम निरकुश शासक भी इनका सम्मान करते थे। गहपति (सस्कृत गृहपति) शब्द का बदला हुआ अर्थ इस नये वर्ग के अस्तित्व का प्रमुख परिचायक है। शाब्दिक अर्थ 'गृहस्वामी' का द्योतक यह शब्द इसके बाद रोमन शब्द paterfamilias का समानार्थी बन गया। वैदिक और ब्राह्मण ग्रन्थो मे इस शब्द का अर्थ है—राजसूय यज्ञ का तो नही, पर दूसरे काफी महत्त्व के यज्ञो का प्रमुख याजक और यजमान। अब, पहली बार इस शब्द का अर्थ हो गया—किसी भी जाति के एक ऐसे बडे पितृसत्तात्मक परिवार का मुखिया जो प्रमुखतः अपनी सम्पत्ति के कारण सम्मान प्राप्त करता था, फिर यह सम्पत्ति व्यापार अथवा उत्पादन से प्राप्त की गयी हो अथवा खेती से, परतु अब इस सम्पत्ति को केवल मवेशियो की सख्या से नही आका जाता था। एक नये धनी वर्ग का नियामक सदस्य होने के नाते अब गृहपति को अपने धन का चाहे जैसा इस्तेमाल करने की स्वतन्त्रता थी, यद्यपि परिवार के सदस्यो के भरण-पोषण की जिम्मेदारी उसी की थी और वह अपने सगोत्र-समूह के उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियमो से भी बँधा हुआ था, परतु अब वह कबीलाई नियमो से बँधा हुआ नही था। यह नयी वर्ग-स्थिति, जाति और गोत्र के पुराने बधनो के कारण, कुछ समय के लिए अस्पष्ट रही, परतु ये बधन उत्तरोत्तर ढीले पडते गये। गोत्र (गायो का बाडा) शब्द जो पहले बहिर्विवाही कुल का द्योतक था, अब से गहपति के बडे पितृसत्तात्मक परिवार का भी सूचक हो गया, यद्यपि गहपति के पुराने अर्थ की भाँति इस 'गोत्र' शब्द का पुराना अर्थ भी पूरी तरह लुप्त नही हुआ। उन अनवरत युद्धो से जो वैदिक यज्ञो के पहले नियमित रूप से हुआ करते थे, किसान और व्यापारी दोनो की ही हानि होती थी। व्यापारी को

अपन कबीले और राज्य के बाहर के साथ अच्छे सम्बन्ध रखने पड़ते थे, साथ ही, उसे लुटेरा स मुक्त सुरक्षित व्यापार मार्गों को भी आवश्यकता थी। अशन इस आवश्यकता की पूर्ति एक ऐसे 'सार्वभौम राजतन्त्र' यानी एकराज शासन क अभ्युदय से ही हो सकती थी जो छोट मोट युद्धा को समाप्त करके सार दहाती इलाको को अनुशासन म रख सके। परन्तु व्यापार का फलाव राजनीतिक सीमाओ के बाहर हमेशा ही रहा है।

साहित्यिक उल्लेखा स यह प्रमाणित हो जाता है कि स्वतन्त्र, पटटदार अथवा भूस्वामी किसाना (कस्सक, कषक) का अस्तित्व अनिवायत गृहपति और श्रेष्ठी के अस्तित्व का सूचक है। जसा कि पहले बताया जा चुका है, दास मजदूर बडी सख्या मे उपलब्ध नही थे। अन्न सकलनकर्ता काफी कम थे, और व खेती के लिए आवश्यक नियमित और कठोर परिश्रम के लिए क्वचित ही तैयार होते थे। अन्न-उत्पादन का उन्होने अधिकतर उसी समय अपनाया जब दूसरा न उनकी भूमि को साफ किया और जब, सामन्ती और आधुनिक युग म, अकाल पडने लगे (अकाल के कारण ही कई आदिवासिया ने महज नियमित उदर भरण के लिए अपनी आजादी बेच दी, बन्धक बन गय, और परिणामत हारी-जमी 'दास' जातियाँ अस्तित्व मे आयी अभी विगत पीढी तक देखा गया है कि इनका श्रम अकुशल और अनुत्पादक था)। वास्तविक किसान-वग मुख्यत उन्ही अधिक उन्नत 'आय' कबीलाई जनो म बनता गया जो छोट छोटे समूहा म, अधिकाश कबीले स सदैव सम्पक म न रहते हुए, स्वय भूमि की सफाई करने म जुट गये थे। जो एकमात्र बात उन्ह अतिरिक्त अनाज पैदा करन की प्रेरणा दती थी, वह थी उस अतिरिक्त अनाज का व्यापार। यह भी केवल उसी हालत म सम्भव था जब अतिरिक्त अनाज को कुल के भीतर बाँटन की कोई बाध्यता न हो यदि मवेशियो पर सामूहिक स्वत्व न हो, और यदि कबीलाई परिषदा द्वारा भूखण्डो को पुनर्वितरित करन की व्यवस्था न हो—सक्षेप म, यदि खेती के पशु, भूमि और इसकी उपज व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप म हो। पजाब इस मामले म रूढिवादी बना रहा, कबीलाई जीवन पूववत् बना रहा और राजा भी प्राय उसी प्रकार के होते थे जसे कि ब्राह्मण ग्र था मे उल्लिखित है। यजुर्वेदिक राज तन्त्र पथक परिवारा द्वारा असीम कृषि-उत्पादन म बडी भारी रुकावट था और किसाना के लिए असहनीय बोझ भी। शान्ति और हलके करो की बडी जरूरत थी। यज्ञो के लिए अधिकाधिक मवेशी तथा अन्य पशु बिना मूल्य हथियाये जाते थे। इसके सबूत पालि ग्र थो की राजसूय यज्ञ सम्ब धी कथाओ म मिलते हैं। नियमित कृषि पर पडनेवाला यह बोझ असहनीय था। केवल कुछ ही ब्राह्मण पुरोहित (उन जसे जिन्ह ईसा पूव छठी सदी के पसेनदि और बिम्बिसार जसे राजाओ ने पूरे गाव दान दिये थे) स्थायी लाभ उठा रहे थे। अत यह स्वाभाविक

ही था कि सभी नये सम्प्रदायों ने कर्मकाण्ड की, विशेषत वैदिक कर्मकाण्ड की, वैधता को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार किया। इनमें ब्राह्मण उपदेशक भी शामिल थे, जैसे, पूरण कस्सप और संजय वेलट्ठिपुत्त।

यजुर्वेद में यद्यपि बलि दिये जाने योग्य मनुष्यों की सूची दी गयी है, परन्तु शतपथ ब्राह्मण के समय तक नियमित नरमेध-यज्ञ की ब्राह्मण प्रथा प्राय लुप्त हो चुकी थी। फिर भी नर-बलि की इक्की दुक्की घटनाएँ अवश्य होती थी। जैसे, बुर्ज तथा नगर-द्वार जैसे सुरक्षा-साधनों को अभेद्य बनाने के लिए और बाधा की बाढ़ से रक्षा के लिए नर बलि आवश्यक समझी जाती थी। ऐसे नये बाधकामों के अवसरों पर बलि-पुरुष को नीव में दफनाया जाता था। परन्तु ऐसी असाधारण बलियां बहुत कम दी जाती थी, ये वैदिक पद्धति से नही होती थी और लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लग गये थे। अश्वमेध-यज्ञ भी अब काफी कम होते थे। दरअसल, ईसा पूर्व दूसरी सदी में अल्पावधि के निरर्थक पुनरुत्थान के पहले गंगा की घाटी में आयोजित किसी अश्वमेध यज्ञ के बारे में निश्चित उल्लेख नही मिलते। जैसाकि एक प्रधानत पशुचारी समाज के लिए स्वाभाविक था, मुख्य वैदिक यज्ञों में मवेशियों की ही बलि दी जाती थी। ईसा पूर्व छठी सदी के सुधार-आन्दोलनों ने इस चलन को किस हद तक पूरी तरह रोकने में सफलता प्राप्त की यह बात गोहत्या और गोमांस भक्षण पर हिन्दुओं द्वारा लगाये गये निषेध से स्पष्ट हो जाती है, यह निषेध आज भी कायम है, यद्यपि यह निरर्थक, अलाभकर और चरागाहों की कमी वाले देश में मवेशियों के प्रति निर्दयता का परिचायक है। आधुनिक रूढ़िग्रस्त हिन्दू गोमांस भक्षण को नरमांस भक्षण के तुल्य समझता है, परन्तु वैदिक ब्राह्मण यज्ञबलियों का गोमांस खाकर ही जुटाते थे। शतपथ ब्राह्मण के प्रसिद्ध परिच्छेद में कर्मकाण्डीय तर्क पेश किये गये हैं, कि गाय और बैल (अनड्वह्, सांड के बारे में कुछ नही कहा गया है) का मांस क्यों नही खाना चाहिए। परन्तु यह समूचा परिच्छेद याज्ञवल्क्य के प्रमुख ब्राह्मण-दल के एक मुंहफट किन्तु अब हैरानी में डालने वाले इस कथन में समाप्त होता है— "सम्भवत यह सब ठीक है, परन्तु जब तक (मेरे) बदन पर मांस (डाला जाता) रहेगा तब तक मैं उसे खाता रहूँगा।"[1] जब विभिन्न ब्राह्मणों के पूरक ग्रन्थों के रूप में उपनिषदों की रचना हुई, तो किसी भी रद्दोबदल को प्रत्यक्षत स्वीकार नही किया गया परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्विषय पूर्णत बदल गये। यज्ञ का उल्लेख अब आमतौर पर ऊटपटांग व्याख्याओं के साथ एक प्रकार के रहस्यवादी दर्शन को पेश करने के लिए होने लगा, यज्ञ के मूल रक्तपाती अनुष्ठान का भुना

---

१ तस्मादन्वनमड्वानोर्नाश्नीयात् तदुहोवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाहं मांसलं चेद्भवतीति।
—शतपथ ब्राह्मण ३।१।२।२१

दिया गया। औपनिषदिक ब्राह्मण सिन्धु नदी के पास के अथवा उसके पश्चिमी प्रदेश में अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद यज्ञ का 'अंतरंग महत्त्व' समझने के लिए अब अश्वपति कैकेय और प्रवाहण जैवलि-जैसे पूर्वी प्रदेश के क्षत्रियों के पास जाने लगे थे। 'ब्रह्म' नामक एक नई संकल्पना का उदय हुआ, और इस अपरिभाषित दिव्य सारतत्त्व की उपलब्धि को सभी अन्य मानवीय क्रियाकलापों से श्रेष्ठतर बताया गया। उपनिषदों में शेष जो सवाल उठाये गये हैं, वे ठीक वही हैं जिनका ईसा पूर्व छठी सदी के गांगेय प्रदेश के दार्शनिकों ने विवेचन किया है : आत्मा यदि है तो उसका स्वरूप क्या है ? मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है ? मनुष्य के लिए परम कल्याण का मार्ग कौन सा है ? बौद्ध अथवा अन्य किसी ब्राह्मण विरोधी धार्मिक सम्प्रदाय का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया। इससे बहुतों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सभी प्राचीनतम उपनिषद् बुद्ध के पहले रचे गये हैं। शतपथ ब्राह्मण से संलग्न उपनिषद[1] में आये भूतपूर्व काशिराज अजातशत्रु के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि यह बात हर उपनिषद के बारे में सही नहीं है, क्योंकि अजातशत्रु बुद्ध का समकालीन और उनसे आयु में छोटा था। दरअसल, ईसा पूर्व छठी सदी के वातावरण में ही नये सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ है।

गोमांस भक्षण के निषेध के आर्थिक मूलाधार को सिद्ध करने के लिए यहां दो उद्धरणों को प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा। बुद्ध-वचन समझी जाने वाली प्राचीन गाथाएँ हैं : 'माता पिता और दूसरे सगे-सम्बन्धियों की तरह गाय-बैल हमारे बन्धु हैं, क्योंकि खेती की उपज इन्हीं पर निर्भर है। इनसे हमें अन्न, बल, शरीर-सौष्ठव और सुख प्राप्त होता है। इसे जानकर ही प्राचीन काल के ब्राह्मण गोवध नहीं करते थे' (सुत्तनिपात, २९५-६)[2]। निषेध के पूर्ववर्ती दिनों में गोमांस-भक्षण को पाप समझने का कोई सवाल ही नहीं था। हुनान प्रान्त के किसान विद्रोह के सम्बन्ध में माओ-त्से तुंग की मार्च १९२७ की रिपोर्ट में कहा गया है : 'बैल तो किसानों की बहुमूल्य सम्पत्ति है। चूंकि यह प्रायः एक धार्मिक मत ही है कि 'इस जन्म में मवेशियों का वध करने वाले अगले जन्म में स्वयं मवेशी बनेंगे', इसलिए बैलों की कभी हत्या नहीं करनी चाहिए। किसानों द्वारा सत्ता प्राप्त करने के पहले उनके पास, धार्मिक निषेध के अलावा मवेशियों के वध को रोकने का कोई उपाय नहीं था। किसान-सभाओं की स्थापना होने के

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद्।

२ यथा माता पिता भाता अञ्ज वापि च आतका।
गावो नो परमा मित्ता यासु जायन्ति ओसधा॥
अन्नदा बलदा चेता वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थवसं ञत्वा नास्सु गावो हनिंसु ते॥

—ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, सुत्तनिपात

बाद उन्होंने गोधन के सवाल को भी अपने अधिकार-क्षेत्र में ले लिया और शहरों में इनकी हत्याएँ रोक दी। जिला-नगर हुसियाणतान में गोमांस की जो छह दुकानें थीं उनमें से पाँच अब बन्द हो चुकी हैं, और बाकी एक में केवल बीमार और अपाहिज मवेशियों का मांस बेचा जाता है। हुनशान के पूरे जिले में गोवध पर रोक लगा दी गयी है। एक किसान की गाय का गिरने से पैर टूट गया, तो उसे मारने के लिए उस किसान को किसान-सभा से अनुमति लेनी पड़ी ।" चीनी किसान गाय के दूध, मक्खन, पनीर या दही का इस्तेमाल नहीं करते, और सम्भवतः इसीलिए भारतीय और चीनी किसानों की स्थितियों में अन्तर पाया जाता है।

एक सार्वभौम राजतन्त्र के विकास के ठीक समतुल्य होता—अतिनिबन्ध एकात्मक कर्मकाण्ड वाला कोई अकेला व्यापक धर्म। परन्तु जिस समाज की हम चर्चा कर रहे हैं उसमें, अत्यधिक बल प्रयोग के बिना, एक धर्म का अस्तित्व में आना असम्भव था। जिन लोगों को सह-बन्धन के लिए एक पृथक् कर्मकाण्ड अपरिहार्य था, जैसाकि भारत में आज भी कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों के बारे में देखने को मिलता है, उन्हें विस्तृत गांगेय वन में शरण मिल सकती थी। [illegible] के नये उपदेशकों ने इन सब कर्मकाण्डों की कोई परवाह नहीं की [illegible] नीची जाति के व्यक्ति के हाथ से पकाया भोजन ग्रहण करके [illegible] उच्छिष्ट भोजन तक खाकर, कठोरतम निषेधों को तोड़ डाला। [illegible] ठीक अर्थ उस व्यक्ति को समझाना कठिन है जो यह नहीं जानता कि [illegible] भारतवासी भूखे रहना अथवा मर जाना पसन्द करेंगे [illegible] किसी नीची जाति के हाथ का बना भोजन नहीं खायेंगे। [illegible] सम्प्रदायों के प्रवर्तक और उनके श्रमण अनुयायी ([illegible]) [illegible] तर भिक्षा माँगकर ही जीवन निर्वाह करते थे। [illegible] अवस्था में लौटना था। बहुत-से तपस्वी [illegible] वे किसी प्राणी की हत्या न करके वनस्पति [illegible] करते थे। ये घोर तपस्वी गृहस्थों से केवल [illegible] ब्रह्मचर्य-पालन और सम्पत्ति के त्याग के फलस्वरूप [illegible] का जीवन [illegible] संग्रहशील समाज के लोभी याज्ञिक ब्राह्मणों की [illegible] था। यजुर्वेदिक और बाद के ब्राह्मण [illegible] करते थे, और उन्होंने पौराणिक राजाओं [illegible] भी किया है अनगिनत हाथी मवेशी [illegible] इस नयी तापस-चर्या का स्वयं ब्राह्मण [illegible] छाप अमिट रही, उसके बाद [illegible] में होने लगी। उपनिषदों में भी [illegible]

नीची जाति के एक महावत से उच्छिष्ट अन्न ग्रहण किया था। ऐसे ही एक ब्राह्मण ने अन्न के लिए श्वान टोटेम वाले आदिवासियों के गीत-नृत्य पर तान लगायी थी। पूर्ववासियों के लिए यज्ञ का महत्त्व केवल सिद्धान्त रूप में रह गया था, भविष्य के ब्राह्मण अन्ततः सभी जातियों की पुरोहिती करने लगे और अपनी आजीविका के लिए नयी पूजाओं को पुराने रूपों में ढालने लगे—और साथ-साथ वेदों की दुहाई भी देते रहे।

५.२ मध्यम मार्ग

कालान्तर के प्रमुख भारतीय दार्शनिक मतों के मूल ई०पू० छठी सदी में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। अजित केसकम्बली ने एक पक्के भौतिकवादी सिद्धान्त का प्रचार किया: अच्छे या बुरे कर्मों का आदमी को अन्त में कोई फल नहीं मिलता। आदमी चाहे जो करे, मरने पर उसका शरीर भूतों में विलीन हो जाता है। कुछ भी शेष नहीं रहता। पाप और पुण्य तथा दान और दया का मनुष्य की नियति से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोकायत मत ने, जिससे बाद में मगध के शासन तन्त्र के निष्ठुर सिद्धान्तों का विकास हुआ, अजित से बहुत-कुछ ग्रहण किया यद्यपि भारतीय भौतिकवाद में विशिष्ट ख्याति चार्वाक की ही है, परन्तु चार्वाक की मूल शिक्षाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं। पकुध कात्यायन ने महाभूतों की सूची (सामान्यतः पृथ्वी, अप, तेज और वायु) में तीन और भूत जोड़े: सुख, दुःख और जीव। इन्हें भी न पैदा किया जा सकता है, न ही नष्ट किया जा सकता है। जीवन का अन्त करता प्रतीत होने वाला तलवार का आघात मांस-मज्जा के अवकाश में धातु का प्रवेश मात्र है; वह मनुष्य का प्राण नहीं ले सकता। इसमें परवर्ती वैशेषिक दर्शन का उद्गम हो सकता है। पूरण कस्सप (कस्सप ब्राह्मण गोत्र) ने सम्भवतः उस सांख्यमत की नींव डाली जिसके अनुसार आत्मा शरीर से पृथक है, और शरीर के बनने बिगड़ने का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पता चलता है कि बाद में पूरण कस्सप का सम्प्रदाय मक्खलि गोसाल के सम्प्रदाय में शामिल हो गया। मक्खलि गोसाल का मत था कि आत्मा को अनेकानेक पुनर्जन्मों के पूर्वनिर्धारित अटल चक्र से गुजरना ही पड़ता है, फिर हर जन्म में जिस शरीर से वह सम्बन्धित होता है उसके कर्म चाहे जो हों।

जैन महावीर ने उन चार व्रतों को अपनाया जो उनके पूर्ववर्ती पार्श्व द्वारा प्रवर्तित माने जाते हैं: अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और अमृषा। इनमें पाँचवाँ व्रत अमैथुन उन्होंने और जोड़ दिया। महावीर यद्यपि श्रेष्ठ लिच्छवि कबीले के क्षत्रिय कुल में पैदा हुए थे, परन्तु कठोर तपस्या और निरन्तर ध्यान द्वारा ही वह ज्ञान की चरमावस्था पर पहुँचे थे। उन्होंने पार्श्व द्वारा विहित तीन चादरों वाले चोगे को भी त्याग दिया और अचेल दिगम्बर हो गये। उनके अनुयायी पानी भी कपड़े से छाने बिना नहीं पीते थे, इस भय से कि कहीं जीवहिंसा न हो जाये।

थोडी असावधानी से भी जीव-जन्तु की हत्या का भय था। श्वास भी कपडे से छनकर ही भीतर जाती थी, यह व्यवस्था स्वास्थ्य के लिए नही, बल्कि इसलिए थी कि हवा म विद्यमान जीवो की रक्षा हो। चिलचिलाती धूप और वर्षा मे शरीर को कष्ट पहुँचाने की प्रथा जैनो मे ही नही, उस जमाने के अन्य अनेक उपदेशकों तथा सम्प्रदायो म भी थी। गोसाल भी नगा रहता था, और मद्य पान तथा उच्छ खल यौनाचार के अनुष्ठान भी करता था जिनका उद्गम निस्स देह प्रजनन-सम्बन्धी समकालीन आदिम अनुष्ठान विधानो से हुआ था। कालान्तर के तान्त्रिक अनुष्ठानो का उद्गम भी यही था, परन्तु उन पर सदा आचरण नही होता था और प्राय रहस्यात्मक व्याख्या तथा अहानिकर प्रतीकात्मकता द्वारा उनका परिष्कार हो जाता था। यह स्मरण रखना जरूरी है कि, ऐसी उपान्तीय आबादी का सदैव अस्तित्व रहा है जिसे जादू टोना, प्रजनन-सम्बन्धी अनुष्ठान और गोपनीय कबीलाई पूजा विधान आवश्यक लगते थे। शासकीय 'सभ्य' धम से असन्तुष्ट लोग मुस्लिम युग तक के समूचे काल म और बाद मे भी, इन गोपनीय अनुष्ठानो का इस विश्वास के साथ सीखते और करते रहे कि इनसे उन्हे कोई अपूर्व शक्ति प्राप्त होगी, अथवा कम से कम मुक्ति का कोई सुगम माग मिलेगा। गोसाल के आचरण को उसके समय मे ही अश्लील आत्मासक्ति समझा जाता था, यद्यपि यह जानकारी हम उसके विरोधियो के ग्रन्थो म मिलती है। कबीलाई ओझा या वैद्य के अनुष्ठानो ने तपस्वी के जीवन पर अपना प्रभाव दण्डमूलक व्रतो के रूप मे छोडा दीर्घकाल तक भोजन व पानी का त्याग, प्राणायाम अतिवक्र आसनो म शरीर को साधना—यह तथा अन्य अनेक निरथक क्रियाएँ दिव्य शक्तियाँ प्रदान करनेवाली समझी जाती थी। समझा जाता था कि सच्चे साधक को अदृश्य होने अथवा इच्छानुसार हवा म उडने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। बाद की योग क्रियाएँ और शरीरासन इसी से विकसित हुए। जो लोग गरम जलवायु म रहते हैं और जिन्हे कठोर शारीरिक परिश्रम करने की आदत नही है उनके लिए एक सीमा के भीतर याग एक अच्छी व्यायाम पद्धति है। इसमे मनुष्य को अधिक-से अधिक शरीर की स्वाभाविक क्रियाओ पर थोडा-बहुत नियन्त्रण और सुस्वास्थ्य ही प्राप्त हो सकता है, परन्तु दैवी शक्तियाँ नही।

बौद्ध धम इन दो छोरो के बीच का माग था बेलगाम व्यक्तिवादी आत्मासक्ति और उतना ही व्यक्तिवादी किन्तु निरथक तापसी शरीरदण्ड। इसीलिए बौद्धधम का लगातार उत्थान हुआ और इसे 'मध्यम माग' नाम दिया गया।

बौद्धधम का सारतत्त्व है—आय अष्टांगिक माग। आठ मे से पहली सीढी है सम्यक् दृष्टि यह ससार मनुष्य जाति की अनियन्त्रित तृष्णा, लोभ व अथलिप्सा म जनित दु ख से व्याप्त है। इस तृष्णा का क्षय करने से ही सबको शान्ति मिल सकती है। आय अष्टांगिक माग इस लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय है। इसी को

सम्यक् दृष्टि कहते हैं। दूसरी सीढ़ी है सम्यक् संकल्प : दूसरों से छीनकर अपना सत्ता व सम्पत्ति न बढ़ाना, कामोपभोग में लिप्त न होना, दूसरों के साथ पूर्ण मैत्री करना और दूसरों के सुख-संतोष में वृद्धि करना—यही है सम्यक् संकल्प। तीसरी सीढ़ी है सम्यक् वाचा : असत्य भाषण, चुगली, गाली, बकवास आदि असत् वाणी के कारण समाज का संगठन बिखर जाता है और झगड़े खड़े होकर वे कलह व हिंसा का कारण बन जाते हैं। अतः सत्य, परस्पर सख्य साधनेवाला, प्रिय एवं मित भाषण करना उचित है। चौथी सीढ़ी है सम्यक् कर्मान्त : प्राणघात, चोरी, व्यभिचार आदि कर्म काया द्वारा हो जायें तो उनसे समाज में बड़े अनर्थ होंगे। अतः प्राणघात, चोरी, व्यभिचार आदि कर्मों में अलिप्त रहकर ऐसे ही कायकर्मों का आचरण करना चाहिए जिनसे लोगों का कल्याण होगा। पाँचवीं सीढ़ी है सम्यक् आजीव : अपनी उपजीविका इस प्रकार चलाना जिससे समाज को हानि न पहुँचे। उदाहरण के लिए, गृहस्थ को चाहिए कि वह मद्य-विक्रय, हत्या के लिए जानवरों का लेन-देन आदि व्यवसाय न करे। उसे चाहिए कि वह केवल शुद्ध व सच्चे तरीकों से ही जीविका कमाये। छठी सीढ़ी है सम्यक् व्यायाम : मन में बुरे विचार न आने देना, जो बुरे विचार मन में आये हों उनका नाश करना, मन में सुविचार उत्पन्न करने की पूरी चेष्टा करना और जो सुविचार मन में उत्पन्न हुए हों उन्हें बढ़ाकर पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयत्न करना—इन्हीं मानसिक प्रयत्नों को सम्यक् व्यायाम कहते हैं। सातवीं सीढ़ी है सम्यक् स्मृति : शरीर मलिन पदार्थों का बना है, यह विवेक सदैव जाग्रत रखना, शरीर की सुख-दुःखादि वेदनाओं का बार-बार अवलोकन करना, स्वचित्त का अवलोकन करना और इन्द्रियाँ एवं उनके विषयों से कौन-से बंधन उत्पन्न होते हैं तथा उनका नाश कैसे किया जा सकता है—आदि मनोधर्मों का अच्छा विचार करना। आठवीं सीढ़ी है सम्यक् समाधि : यह ध्यान द्वारा चित्त को एकाग्र करने की एक सुनियोजित प्रणाली है। संक्षेप में, बौद्ध धर्म में इसका वही स्थान है जो यूनानी शरीर के लिए व्यायाम (जिम्नास्टिक्स) का था।

स्पष्टतः यह धर्म सबसे अधिक सामाजिक था। बुद्ध-वचन समझे जानेवाले अनेकानेक प्रवचनों में आर्य-अष्टांगिक मार्ग की विविध सीढ़ियों को व्यवहार में लाने के तरीके बड़ी सावधानी से विकसित करके समझाये गये हैं। भिक्षुओं के लिए कुछ खास नियम अनिवार्य थे, जैसे ब्रह्मचर्य, जिनका पालन गृहस्थ के लिए जरूरी नहीं था। बौद्ध संघ का नियोजन कबीलाई ढाँचे के अनुकरण पर हुआ था और उसकी सभाओं का संचालन भी कबीलाई सभा-परिषदों के अनुरूप होता था। बुद्ध के जीवन-काल में उनके संघ में भिक्षुओं की संख्या ५०० से अधिक नहीं रही होगी, और न इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण मिलता है कि बुद्ध के जीवन-काल में वे सभी किसी एक स्थान पर एकत्र हुए थे। भिक्षु-संघ के नियम

त्रिपिटक के एक विशिष्ट खण्ड—विनय पिटक—में संकलित हैं और इनकी प्रामाणिकता इन्हें बुद्ध-वचन मानकर सिद्ध की जाती है। परन्तु इनमें से अधिकतर नियम स्पष्टतः कालान्तर के हैं, यद्यपि ये बुद्ध की मृत्यु के बहुत बाद के नहीं हैं। बुद्ध के जीवनकाल में, और बाद में भी लम्बे अर्से तक, छह या अधिक भिक्षुओं का समूह यदि चाहे तो अपने विशिष्ट नियम बना सकता था और शेष संघ के बिना किसी हस्तक्षेप के, अपना पृथक अनुशासन चला सकता था, बशर्ते कि वह मुख्य धार्मिक मतों को मानता रहे। भिक्षु को अपने पास एक भिक्षापात्र, एक लोटा, पहनने के लिए सादे, सजावट से रहित (प्रायः चीथड़ों को जोड़कर बनाये गये) अधिक-से अधिक तीन चीवर, तेलपात्र, उस्तरा, सूई व धागा तथा एक दण्ड के अलावा और कोई सम्पत्ति रखने की अनुमति नहीं थी। नाजुक परिस्थिति में कुछ भिक्षुओं को सादी चप्पलें पहनने की अनुमति थी। भिक्षु यद्यपि गाँव या नगर में भिक्षा माँग सकता था, परन्तु बचे खुचे उस अन्न को (जो स्वाद-सुख को कम करने के लिए मिला दिया जाता था) दिन में सिर्फ एक बार मध्याह्न से पहले खा लेना जरूरी था। भिक्षु को किसी गृहस्थ के घर एक रात के लिए भी रहने की अनुमति नहीं थी (बाद में इसे बदलकर तीन या कम रातें रहने की अनुमति दी गयी)। उसका निवास होता था बस्ती के बाहर किसी कुंज में गुफा (मूलतः नैसर्गिक गुफा) में पेड़ के नीचे, अथवा ऐसे श्मशानागार में जहाँ शवों को पशु पक्षियों द्वारा खाने के लिए फेंक दिया जाता था या कभी-कभी जलाया जाता था। ये ठीक वही स्थान थे जहाँ जादुई शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए अत्यन्त बीभत्स आदिम अनुष्ठान, यहाँ तक कि नर मांस भक्षण जैसे अनुष्ठान भी किये जाते थे। भिक्षु को आदेश था कि वह ऐसे भयावह दृश्यों से विचलित न हो, बल्कि दृढ़ संकल्प से ऐसे सभी संकटों पर विजय प्राप्त करे। वर्षा ऋतु के तीन चार महीनों में उसे एक स्थान पर रहना पड़ता था। अन्यथा, उसे लोगों को उपदेश देते हुए सदैव पैदल (रथ, हाथी, घोड़ा, गाड़ी अथवा किसी भारवाहक पशु पर सवार होकर नहीं) चलते रहने का आदेश था। अन्य मनुष्य से दूषित अन्न ग्रहण करने सम्बन्धी उनके लेखबद्ध वाद प्रतिवाद से प्रमाणित होता है कि स्वयं बुद्ध की तरह आरम्भिक भिक्षु भी कुशल अन्न-संकलनकर्त्ता थे। वे वीरान प्रदेशों की लम्बी यात्राओं से घबराते नहीं थे। सामान्यतः वे किसी साथ के साथ यात्रा करते थे, फिर भी रात वे उनके पड़ाव से दूर बिताते। बौद्ध भिक्षु के लिए लाभ अथवा कृषि के लिए श्रम करना वर्जित था भिक्षा मांगकर अथवा जीवहत्या किये बिना जंगलों से अन्न संकलन करने का उसके लिए विधान था। केवल इस रास्ते पर चलकर वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों को पूरा कर सकता था और जनता को सही मार्ग पर ले चलने के अपने दायित्व को निभा सकता था। उसका अपना कल्याण या जन्म-

मरण के चक्र से मुक्ति, अर्थात निर्वाण प्राप्ति में, यानी एक ऐसे रहस्यमय आदर्श में, जिसकी स्पष्ट व्याख्या कहीं देखने को नहीं मिलती।

बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व या अनस्तित्व-सम्बन्धी प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया है। लेकिन पुनर्जन्म तथा जन्म-जन्मान्तर (फिर यह पुनर्जन्म व्यक्तित्व के किसी भी अंग का हो) का सिद्धान्त उस समय के समाज को स्वाभाविक जान पड़ता था। वेदों और उपनिषदों में यह सब नहीं था। यद्यपि यह सिद्धान्त उस आदिम धारणा से, जिसके अनुसार मृत व्यक्ति का टोटेम पशु में प्रत्यावर्तन होता है, केवल एक चरण आगे था, पर यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण था। एक विशिष्ट पशु में ऐसा आदिम प्रत्यावर्तन अनिवार्य था, यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं था। बौद्ध पुनर्जन्म कर्म पर, मनुष्य के जीवन भर के कार्यों पर, निर्भर था। कर्म, पुण्यफल के रूप में, न केवल उपार्जित धन अथवा जमा की गयी फसल के समान था, बल्कि यह बीज अथवा ऋण की तरह उपयुक्त समय पर फल देनेवाला भी था। प्रत्येक प्राणी ऐसे कुछ कर्म करता ही है जो उसे मृत्यु के बाद उपयुक्त योनि में जन्म लेने में योग देते है—यदि कर्म अच्छे हों तो अच्छी योनि में, और कर्म यदि बुरे या निकृष्ट हों तो क्षुद्र योनि में, जैसे, किसी कीड़े या पशु की योनि। देवता भी इस कर्म प्रभाव से मुक्त नहीं थे। पहले के कर्मों का क्षय होने पर स्वयं इन्द्र का भी अपने विशिष्ट स्वर्ग से पतन सम्भव था। दूसरी ओर, एक सामान्य मनुष्य भी देवलोक में पहुँचकर इन्द्र बन सकता था और स्वर्ग के सुख को युगों तक भोग सकता था, पर अनन्त काल तक नहीं। बुद्ध तथा अर्हन्त भिक्षु इस जन्म, मरण और पुनर्जन्म के अनादि-अनन्त चक्र से मुक्ति पा चुके है। अष्टांगिक मार्ग तथा मध्यम मार्ग का अनुकरण करके अर्थात परिग्रह एवं सांसारिक मोह का त्याग करके, सुस्थिर चित्त और मनोभाव से, परस्पर विरोधी व्यक्तिगत तृष्णाओं की भूलभुलैया में से निकालकर मानव जाति का सही मार्गदर्शन करने में जुटा हुआ श्रेष्ठ भिक्षु ही निर्वाण पद को प्राप्त हो सकता है।

५.३ बुद्ध और समकालीन समाज

बुद्ध के जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा को जानना यहाँ उपयोगी होगा न केवल कालान्तर की ढेर सारी किंवदन्तियों के नीचे दबे हुए मूल तथ्यों तक पहुँचने के लिए बल्कि उनके युग की सामाजिक स्थिति को समझने के लिए भी। उनका जन्म-नाम गोतम था, बाद में उनके अनुयायियों ने इसके साथ 'सिद्धार्थ' जोड़ दिया। शाक्य (सक्क) नामक एक छोटे अविभक्त क्षत्रिय कबीले में उनका जन्म हुआ था। ये शाक्य लोग आर्य परिवार की भाषा जानते थे और अपने को आर्य कहते थे। पालि का ठीक यही सक्क शब्द ईसा पूर्व छठी सदी के हखामनि सम्राट दारयवहु (दारा या डेरियस) प्रथम के शिलालेखों के एलामी पाठ में भी

देखने को मिलता है, एलामी कबीले पर उसकी विजय की स्मृति मे यह लेख खुदवाया गया था। सम्भव है कि एक ही शब्द के इन दो उल्लेखो मे कोई सीधा सम्बन्ध न हो, किन्तु शाक्यो का आय मूल विश्वसनीय हो जाता है। इस कबीले मे कोई ब्राह्मण या जातीय वर्ग नहीं थे, न ही इस बात का कोई उल्लेख मिलता है कि शाक्य लोग उच्च वैदिक कर्मकाण्ड का पालन करते थे। शाक्य क्षत्रिय थे और आवश्यकता पडने पर शस्त्र धारण भी करते थे, पर वे खेती भी करते थे। सभी शाक्यो ने, बुद्ध के पिता ने भी, हल चलाया है। इसके अलावा, अपने क्षेत्र के बाहर उनके कुछ व्यापारी उपनिवेश (निगम) भी थे। शाक्यो के मुखिया का चुनाव बारी बारी से होता था। इसी कारण बाद मे कथा गढी गयी कि बुद्ध राजकुमार थे और उन्होने भव्य राजप्रासादो मे सुख भोग का जीवन बिताया। वस्तुत मुखिया चुने जाने योग्य हर क्षत्रिय व्यक्ति 'राजन्य' कहलाता था। शाक्य आमतौर पर अपने सभी मामले स्वय सँभालते थे, पर जीवन और मृत्यु का मामला उनके अधिकार मे नही था। यह अधिकार उनके अधिनायक कोसलराज (उस समय पसेनदि सस्कृत मे प्रसेनजित) को था, जिसके आधिपत्य को शाक्यो ने स्वीकार कर लिया था। इस मामले मे उनकी स्थिति मल्लो और लिच्छवियो जैसे अधिक शक्तिशाली एव पूर्ण स्वतन्त्र आर्य कबीलो से भिन्न थी। इन आयुधजीवी कुलतन्त्रो पर तत्कालीन यूनानी गणतन्त्रो की भाँति, किसी बाह्य राजा का आधिपत्य नही था, और ये भी अपने मुखिया का चुनाव बारी-बारी से करते थे। बुद्ध की जन्मतिथि की जानकारी बहुमूल्य सिद्ध होती और हमारे तिथिक्रम के लिए स्तम्भ-बिन्दु बनती। उनकी मृत्यु ८० साल की आयु मे हुई। एक भारतीय परम्परा के अनुसार उनकी मृत्यु ५४३ ई० पू० मे हुई थी, परन्तु जो उल्लेख मिलते है उनमे साठ वर्ष का अन्तर पाया जाता है जिसका कोई स्पष्टीकरण नही, सिवाय इसके कि भारत तथा एशिया की अन्य कई कौमे वर्षों की गणना ६० वर्ष के एक पूर्ण कालचक्र का आधार मानकर करती थी। ई० पू० ४८३ की तिथि बाद की घटनाओ के तिथिक्रम को देखते हुए काफी सगत जान पडती है और इसकी पुष्टि ताडपत्र पर लिखित उस भारतीय हस्त-लिपि मे भी होती है जिस पर बुद्ध निर्वाण के बाद प्रत्येक वर्ष को एक-एक बिन्दु से अकित किया गया है। चीनी उल्लेखो मे इस हस्तलिपि के भारत से कण्टन पहुँचने की तिथि दी हुई है।

आदिम और अत्यन्त अविकसित, छोटा-सा शाक्य क्षेत्र बस्ती और गोरखपुर जिलो मे आजकल की भारत-नेपाल सीमा के दोनो ओर था। शाक्यो के कोलिय पडोसियो ने बुद्ध के उपदेश सुने थे, और उन्होने बुद्ध के दाह सस्कार के बाद उनकी अस्थि धातुओ के एक भाग की माँग की थी। फिर भी, उनमे से अनेक उस समय कबीलाई जीवन की अधिक आदिम अवस्था मे थे, उनके कबीले का टोटम

कोल वृक्ष था। उनम से कुछ लोग वृषभ टोटेम से सम्बन्धित निजी अनुष्ठाना को भी करते थे। अत कोलिया की गिनती आमतौर पर आदिवासिया मे होती थी और उन्ह नाग जाति का समझा जाता था। रोहिणी नदी के पानी को लेकर शाक्या और कोलियो का झगडा था। आर्यों के युद्ध-सम्बन्धी सभी नियमो की उपेक्षा करके रोहिणी के पानी को विपाक्त करने मे शाक्यो को कोई अनुताप नही हुआ। स्वय बुद्ध का जन्म मातृदेवी लुम्बिनी को समर्पित साल वृक्षों क कुज मे हुआ था—उनकी माता मायादेवी द्वारा समीप ही के शाक्या के पवित्र पुष्कर (कृत्रिम कमलताल) म स्नान करने के तुरत बाद। साल शाक्या का टोटेम वृक्ष था, और इसीलिए मायादेवी (जिनकी गोतम के जन्म के एक सप्ताह बाद ही मृत्यु हो गयी थी।) ने उस समय प्रचलित सभी अनुष्ठाना का वैसे ही पालन किया जैसे कि सभी वर्गों की भारतीय स्त्रियाँ समूचे ऐतिहासिक युग मे करती आयी है। उस स्थान पर लुम्बिनी देवी की पूजा, बहुत-कुछ उसी नाम (रुम्मिन देई) से, उन लोगा द्वारा आज भी होती है जो बुद्ध को एकदम भूल चुके हैं।

बालक गोतम ने एक सामान्य शाक्य क्षत्रिय कुमार की तरह, शस्त्रविद्या, अश्व व रथ सचालन तथा कबीले के रीति रिवाजो की शिक्षा प्राप्त की थी। कच्चाना नामक शाक्य कुमारी से उनका विवाह हुआ था और उनके राहुल नामक एक पुत्र हुआ था। परन्तु नई विचारधाराओ के प्रभाव से उनमे जीवन की समस्याओ को सुलझाने की, मानव जाति के दुखो के कारणों को समझकर इनके निवारण का उपाय सोचने की, उत्कण्ठा जगी। उनतीस साल की आयु म, राहुल के जन्म के शीघ्र बाद, गोतम ने अपने घर और कबीले का त्याग किया, उन्होंने अपने केश काट डाले, तपस्वी का वेश धारण किया और मानव जाति की मुक्ति के माग की खोज म जुट गये। आरम्भ मे विभिन्न उपदेशको से और फिर स्वानुभव से ज्ञान प्राप्त करने मे उन्होने करीब छ साल व्यतीत किये, पर इससे उन्ह सन्तोष नही हुआ। तब उन्होंने एक सामान्य भिक्षु का जीवन त्यागकर घोर शारीरिक तपस्या का माग अपनाया, जिसके लिए वह कभी कभी पूणत निजन घने जगलो म भी एकान्तवास करते थे। अन्त मे गया के समीप नरजरा नदी के तट के पास एक पीपल के वृक्ष के नीचे वह आसन लगाये बैठे थे तो उन्ह तत्त्वबोध हुआ। इस पीपल के पास पहले सम्भवत कोई पूजा स्थल था, बाद मे यह एक प्रख्यात तीथ स्थल बन गया। इस वृक्ष की शाखाएँ सुदूर श्रीलका और सम्भवत चीन तक ले जाकर रोपी गयी। बुद्ध ने अपना पहला उपदेश वाराणसी के समीप के सारनाथ (इसिपतन) स्थान पर अपने उन पाँच भूतपूर्व शिष्यो को दिया था जो उन्ह कठोर व्रतो का त्याग करने के कारण, निराश होकर छोड गये थे। अपने जीवन के शेष पैंतालीस साल उन्होने पैदल घूम घूमकर जनता को अपने नये ज्ञान का उपदेश देने म बिताये, केवल वर्षावास के लिए ही वह एक स्थान

पर टिकते थे। कभी-कभी, किसी महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या पर विचार करने के लिए, वह एकान्तवास करते थे। बाद के जीवन में, एक युवा भिक्षु आनन्द उनके साथ रहते थे और उनकी सादी दिनचर्या के अनुरूप उनकी देखभाल करते थे। परम्परा है कि आनन्द ने बुद्ध के उपदेशों को स्मरण रखा और बाद में उन्हें दोहराया, बुद्ध के जीवन-काल में उनके वचनों को लिपिबद्ध नहीं किया गया था। बुद्ध ने अपने सर्वाधिक उपदेश कोसल देश की राजधानी सावत्थी में दिये। बुद्ध ने कासम्बी से काफी दूर के प्रदेशों की यात्राएँ नहीं की थीं, सम्भवतः वह यमुना-तट पर स्थित मथुरा तक भी नहीं पहुँचे, यद्यपि कुरु देश वह एक से अधिक बार पहुँचे थे। दूसरी दिशा में, वह अनेक बार राजगिर व गया होकर गुजरे और उन्होंने गंगा के दक्षिण में मिर्जापुर के समीप नये साफ किये गये दक्खिणागिरि क्षेत्र की भी यात्रा की थी। उनके रूप रंग के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। उस समय का उनका कोई चित्र नहीं मिलता। वास्तव में, बुद्ध-निर्वाण के बाद सदियों तक उन्हें एक वृक्ष, उनके पादचिह्नों अथवा धर्मचक्र के प्रतीकों द्वारा दरशाया गया है जैसे कि भारहुत के शिल्पों में। भ्रमणशील जीवन और सादे तथा मित आहार के फलस्वरूप अपने दीर्घ जीवन-काल में वह स्वस्थ रहे, उनके बीमार पड़ने के बहुत कम उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि उन्होंने अपने वृद्ध शरीर के बारे में हँसी में कहा था 'जैसे बाँस के टुकड़े जोड़ देने से टूटा-फूटा छकड़ा किसी तरह चलता है, वैसे मेरा शरीर जैसे-तैसे चल रहा है', पर लगता है कि उनहत्तर साल की आयु में उन्होंने पटना के समीप गंगा नदी को तैरकर ही पार किया था, जबकि उनके कम साहसी शिष्य पार पहुँचने के लिए नावों और बेड़ों की तलाश करते रहे। बुद्ध जब राजगिर से सावत्थी जा रहे थे तो मल्लों की नगरी कुसीनारा में उनकी मृत्यु हुई।

बुद्ध को संकटों और जोखिमों का भी सामना करना पड़ा। दक्खिणागिरि में और मथुरा के पास ऐसे क्रूर यक्षपूजक थे जो अजनबी लोगों को पकड़कर उनसे प्रश्न पूछते थे और सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर उनकी बलि चढ़ा देते थे। बुद्ध ने इनमें से कुछ यक्षों (सम्भवतः इनके मानवीय प्रतिनिधियों) का हृदय परिवर्तन करके इन्हें रक्तहीन बलि को अपनाने के लिए विवश किया। बुद्ध अभी तरुण थे और उन्हें प्रसिद्धि नहीं मिली थी तभी राजा बिम्बिसार ने, यह पता लगाकर कि सुगठित शरीर व तेज कान्तिवाला यह युवा भिक्षु प्रशिक्षित क्षत्रिय है, उन्हें मगध का सेनापति बनाना चाहा था। बुद्ध ने इस पद को अस्वीकार किया, फिर भी राजा के साथ उनकी मैत्री बनी रही। मागन्दिय नामक ब्राह्मण ने बुद्ध की जाति तथा ब्रह्मचर्य व्रत का कोई खयाल नहीं किया और अपनी सुवर्ण वर्णा कन्या का विवाह उनसे करना चाहा। बुद्ध ने इनकार कर दिया। बाद में उस सुन्दरी कन्या का एक राजकुमार से विवाह हुआ, वह जीवन भर के लिए

बुद्ध की शत्रु बन गयी और उनसे बदला लेने का प्रयत्न करती रही। विरोधी उपदेशकों ने उन पर झूठे आरोप लगाये और उन लोगों ने तिरस्कार भाव दिखाया जो समझते थे कि एक स्वस्थ व्यक्ति को खेती अथवा ऐसा ही अन्य कोई उत्पादक कार्य करना चाहिए। खूखार डाकू अगुलिमाल राहगीरों को पकडकर उनकी हत्या करता था, लेकिन प्रयत्न करने पर भी बुद्ध को वह वश मे नही कर पाया और स्वय बदल गया, बुद्ध के सघ मे शामिल होकर उसने एक भिक्षु का शान्तिमय जीवन बिताया। उस समय के सबसे धनी व दानी व्यापारी सुदत्त न (जो अनाथपिण्डक यानी 'गरीबो को भोजन देनेवाला' कहलाता था) बुद्ध तथा उनके अनुयायियो के वर्षावास के लिए सावत्थी के राजकुमार जेत के उद्यान की भूमि को उस पर चादी के सिक्के बिछाकर मोल लिया। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त मे आस्था रखनवाले सामान्य गहस्थो के लिए जिन नियमो का बुद्ध ने प्रवचन किया है उन्हे व्यापारी तथा गहपति वर्ग के स्त्री पुरुषो ने भी दत्तचित्त होकर सुना है। एक बडी मनोहर बौद्धकथा है कि एक दम्पती कई वर्षो से सुखी वैवाहिक जीवन बिताते आ रहे थे और उनकी बडी इच्छा थी कि अगले जन्म म व पति-पत्नी के रूप म ही जन्म लें, फिर योनि चाहे जो भी मिले। बुद्ध ने उन्हे उपदेश दिया कि एक धर्मपरायण परिवार के सामान्य कर्त्तव्यो का पालन करने स ही उनकी इच्छा पूरी हो सकती है। सारिपुत्त और मोग्गल्लान, जो जन्म स ब्राह्मण थे बुद्ध के जीवनकाल म उनके दो प्रधान शिष्य थे और सजय के पथ को छोडकर भिक्षु सघ मे शामिल होने के समय उनकी ख्याति स्वय बुद्ध स कही अधिक थी, बुद्ध सघ की वृद्धि, आरम्भिक दर्शन तथा सगठन मे उनका बडा योगदान रहा है। परन्तु बौद्ध भिक्षु-सघ म दूसरी अनेक जातियो से आये व्यक्ति भी थे। बुद्ध के सघ म शामिल होनेवाले जिन आरम्भिक भिक्षुओ की सूची मिलती है उनम उपालि एक था, जो जन्मत एक नाई था (लेकिन निश्चय ही शाक्य कबीले का था)। बुद्ध का चचेरा भाई शाक्य देवदत्त चाहता था कि समाज के साथ भिक्षुओ का कम सम्बन्ध रहे और वह अधिक कठोर अनुशासन म रह। बुद्ध न ऐसे असामाजिक अनुशासन को लागू करने से इनकार कर दिया। कहत हैं कि देवदत्त ने बुद्ध की हत्या करने का प्रयत्न किया था। झाड-बरदार व कुत्ताखार जसी निम्नतम जाति के लोगो को भी स्वय बुद्ध ने अपने सघ म दीक्षित किया था और उन्ह सम्मानित भिक्षु का दर्जा हासिल हुआ था। भिक्षुणियो का अपना अलग सघ एव सगठन था। उस समय के दो सर्वाधिक शक्तिशाली राजा जो महज कबीलो के मुखिया नही बल्कि निरकुश शासक थे, बुद्ध के आश्रयदाता थे और उनका सम्मान करते थ। चुन्द लुहार ने बुद्ध के लिए कुकुरमुत्ते का ऐसा भोजन तयार किया जिसे खाने से उनकी रक्तातिमार की पुरानी बीमारी पुन उभरी और यही उनकी अन्तिम व्याधि सिद्ध हुई। परन्तु चुन्द का

उन्होंने एक विशिष्ट सुत्त मे नैतिकता पर उतने ही करुणाभाव से उपदेश दिया जैसे कि उन्होंने धनी-से धनी सेठो तथा बडे-से-बडे राजाओ का उपदेश दिये है।

प्राचीन बौद्ध ग्रंथ सुत्तनिपात की एक कथा को यहा विस्तार से बताना उपयोगी होगा, क्योंकि इससे हमे बौद्धधम के विस्तार तथा तत्कालीन भारत, दोनो के बारे मे जानकारी मिलती है। कोसल देश का बावरी नामक ब्राह्मण राजधानी (सावत्थी) छोडकर दक्षिणापथ चला गया था। वह अपने कुछ तरुण शिष्यो के साथ मुला और गोदावरी नदियो के सगम पर अस्सको (अश्वक वह कबीला जिससे बाद मे सातवाहनो का उदय हुआ) के क्षेत्र मे जा बसा। वहा वे अन्न सकलन करके गुजारा करने लगे—पेड-पौधो से फल व जगली अनाज एकत्र करते और धरती से कन्द-मूल। धीरे धीरे उस क्षेत्र म एक अच्छा-खासा गाँव बस गया। बावरी ने इस गाव से अतिरिक्त उपज एकत्र करके वैदिक पद्धति के एक बडे यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ की सारी सामग्री का जब वितरण हो चुका तो वहा एक ब्राह्मण आया और जब उसे कुछ नही मिला तो उसने बावरी को शाप दे दिया जिससे पूरे अनुष्ठान मे विघ्न पड गया। तब बावरी ने अपने सोलह शिष्यो को शका समाधान के लिए बुद्ध के पास उत्तर की ओर भेजा। तब तक बुद्ध की ख्याति दक्षिणापथ म दूर दूर तक फैल चुकी थी और बावरी को शाप से रक्षा करने वाले वही एक व्यक्ति जान पडते थे। बावरी के शिष्य पहले पठण पहुँचे, यह स्थान बावरी के आश्रम के दक्षिण पूव मे था और यही पर दक्षिणापथ के व्यापारी माग का अन्त होता था। तदनन्तर सम्भवत किसी साथ के साथ यह मण्डली औरगाबाद, नमदा-तट के महेश्वर, उज्जैन, गोनद्ध (गोड प्रदेश का कोई स्थान), भिलसा, साकेत (फजाबाद) तथा कोसम्बी होते हुए सावत्थी पहुँची। फिर इन्होंने उत्तरापथ पकडा और पूव की ओर आगे बढे सेतव्या कपिलवस्तु (शाक्यो की राजधानी), कुसीनारा और पावा (दोनो मल्लो के नगर), भोगनगर, वैशाली (आधुनिक बसाढ, उस समय लिच्छवियो की प्रमुख नगरी), राजगिर। राजगिर पहुँचकर नगर के बाहर के पाषाण चैत्य म उन्होंने बुद्ध के दशन किये। तब बावरी के शिष्यो ने बुद्ध से इस प्रकार के कुछ प्रश्न पूछे लोक किससे ढँका है? किससे प्रकाशित नही होता? चारो ओर स्रोत बह रहे हैं, स्रोतो का क्या निवारण है? यहाँ लोक म कौन सन्तुष्ट है? किनको तृष्णाएँ नही हैं? किस कारण ऋषियो, क्षत्रियो, ब्राह्मणो तथा अन्य मनुष्यो ने यहाँ लोक मे देवताओ को पथक पथक यज्ञ कल्पित किया? लोक मे जो अनेक प्रकार के दु ख है वे कहाँ से आये? सच्चा ज्ञानी कौन है दशन का पण्डित या (वैदिक) कमकाण्ड का ज्ञाता? जिसकी तृष्णा नही, वाद विवाद से जो पार हो गया है, उसका विमोक्ष कैसा होता है? ऐसे सवाल आरम्भिक उपनिषदो मे विशेष

रूप से उठाये गये हैं।

ये सवाल उस युग की चेतना के अनुरूप थे। इस कथा से पैठण से लेकर सावत्थी तक के दक्षिणापथ की स्पष्ट जानकारी मिल जाती है। उस समय मगध की अपेक्षा कोसल का महत्त्व कहीं अधिक था और कोसम्बी से वाराणसी तथा आगे पूर्व की ओर सीधे मार्ग से, जल या थल से, बहुत अधिक आवागमन नहीं होता था। यह स्पष्ट है कि ईसा पूर्व छठी सदी के मध्यकाल तक गोदावरी की घाटी में खेती नहीं होती थी। इसके बाद ही यहां तेजी से गांव बसते गये तो इसका कारण सम्भवतः यह था कि उत्तर की ओर से इन लोगों को लोहे की तथा लोहे के औज़ार बनाने की और भारी हल के इस्तेमाल की जानकारी मिली। इस प्रकार प्रागैतिहासिक युग से दक्खन के बाहर आने का काल बुद्ध की जीवन कथा से लगभग निश्चित हो जाता है। यह बात नर्मदा-तट के महेश्वर में और गोदावरी-तट के नेवासा से प्रवरा मुला क्षेत्र तक किये गये उत्खननों के प्रमाणों से भी सिद्ध होती है। इससे दक्षिणी उत्खननों के स्तरों में पाये जानेवाले अन्तर्बंधन का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। सम्पूर्ण लिखित इतिहास के दौरान नेवासा से प्रवरासंगम तक का क्षेत्र दक्षिणी ब्राह्मणों के लिए पवित्र भूमि रहा है। तेरहवीं सदी के अन्तकाल में आलंदी के उनके ब्राह्मण बान्धवों ने जब महाराष्ट्री संतकवि ज्ञानेश्वर पर अत्याचार किये तो उन्होंने इसी क्षेत्र में शरण ली थी और यहां भगवद्गीता पर अपने छन्दोबद्ध भाष्य की रचना की। इस कृति ने मराठी भाषा को मूर्त रूप दिया और नाना जातियों के उत्तराधिकारियों की लम्बी कतार को प्रेरणा प्रदान की। परन्तु नयी भाषा के लिए और कृषि-बस्तियों के लिए जिनके अभाव में इस क्षेत्र के लिए गीता और इसके अनुवाद की कोई आवश्यकता नहीं थी प्रभावशाली प्रेरणा मिली उत्तर की ओर से, ईसा पूर्व छठी सदी में।

बौद्धग्रन्थों में गृहस्थ और कृषक के जो कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं वे जाति, सम्पत्ति तथा पेशे के दायरों से मुक्त हैं, और कर्मकाण्ड को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया गया है। उनमें ब्राह्मणों के बाह्याडम्बर तथा विशिष्ट कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो तर्क पेश किये गये हैं वे भी सरल भाषा में हैं। सामाजिक विभेद के रूप में जाति का अस्तित्व भले ही हो, परन्तु इसमें कोई स्थायित्व नहीं था, न ही इसका कोई औचित्य था। इसी प्रकार, सदाचारी जीवन के लिए कर्मकाण्ड भी अनावश्यक और असंगत था। बौद्ध धर्मग्रंथ, जो सभी बुद्ध-वचन माने जाते हैं बोलचाल की सरल भाषा में हैं और रहस्यात्मकता अथवा लम्बे ऊहापोह से मुक्त हैं। यह एक नये प्रकार का धार्मिक वाङ्मय था—ऐसे उपदेशों का संकलन जो तत्कालीन समाज के समस्त लोगों के लिए थे न कि कुछ चुने हुए शिक्षित शिष्यों अथवा पण्डितों के लिए। सबसे महत्त्व की बात यह है कि बुद्ध या उनके

किसी गुमनाम आरम्भिक शिष्य ने निरकुश राजा के लिए भी नये कर्त्तव्य निर्धारित करने का साहस किया जो राजा डाकुओ और असामाजिक तत्त्वो द्वारा उत्पीडित क्षेत्र से केवल राजस्व वसूल करता है, वह अपने कर्त्तव्य का पालन नही करता। लूटमार और कलह का दमन बल और कठोर दण्ड से कदापि नही होता। सामाजिक बुराइयो के मूल म है गरीबी और बेरोजगारी। दान दक्षिणा की घूस से इसे मिटाना सम्भव नही है, इनसे तो बुरे कर्मों को केवल प्रोत्साहन ही मिलेगा और इन्हे अधिक बल मिलेगा। सही रास्ता यही है कि कृषिकर्म और पशुपालन से जीविका चलानेवालो को बीज व भोजन सुलभ हो। व्यापार से जीविका चलानेवालो को आवश्यक पूजी सुलभ होनी चाहिए। राजकर्मचारियो को नियमित रूप से उचित वेतन मिलना चाहिए, ताकि वे जनपदो से धन ऐंठने के माग न खोज सकें। तभी जाकर नयी सम्पत्ति का निर्माण होगा और लूटेरो तथा ठगो से जनपदो को मुक्ति मिलेगी। ऐसे उत्पादक एव सन्तोषप्रद वातावरण मे नागरिको को कोई अभाव या भय नही रहेगा और वे अपने बच्चो का सुखपूर्वक भरण-पोषण कर सकेंगे। सचित अतिरिक्त धन को, चाहे राजकोष से, चाहे ऐच्छिक निजी अनुदानो से खर्च करने का सर्वोत्तम तरीका यही है कि इसे कुएँ तथा तालाब खोदने और व्यापारी मार्गों पर छायादार पेड लगाने जैसे सार्वजनिक कार्यों मे लगाया जाये।

राजनीतिक अर्थ व्यवस्था सम्बधी ये विचार आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक है। वदिक यज्ञो के युग मे, और एक एसे समाज मे, जिसने आदिम जगलो को खोलना अभी-अभी शुरू किया था, ऐसे विचारो का प्रतिपादन उच्चतम स्तर की एक बौद्धिक उपलब्धि थी। इस नये दर्शन ने मनुष्य को स्वय पर नियन्त्रण पाने का माग दिखलाया। परन्तु इस दर्शन से प्रकृति पर वैज्ञानिक एव तकनीकी नियन्त्रण पाना सम्भव नही हुआ, ताकि इसकी उपलब्धियो को सम्पूर्ण मानवजाति मे व्यक्तिगत एव सामाजिक आवश्यकताओ के अनुसार बाटा जा सके।

जब एक गुमनाम देहात मे बुद्ध की मृत्यु हुई तो परिचारिका के लिए केवल एक भिक्षु उनके साथ था, उस समय तक उनके शाक्य कबीले का कत्लेआम हो चुका था और उनके दोनो सरक्षक राजाओ की दयनीय स्थितियो म मृत्यु हो चुकी थी, और उनके प्रतिभाशाली शिष्य सारिपुत्त और मोग्गल्लान पहले ही निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। फिर भी बौद्धमत का निरन्तर प्रसार होता गया, क्योकि यह मत तेजी से विकसित होते उस समय के समाज की आवश्यकताओ के अनुकूल था।

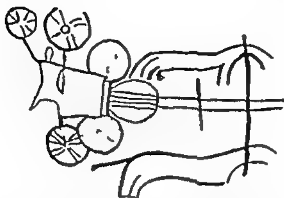
५.४ यदुओं का श्यामवर्ण नायक

परन्तु जो पथ भारत के करोडो लोगो के लिए बीसवी सदी तक एक 'सच्चे धर्म' के रूप म जीवित रहा, वह बौद्धधर्म नही है, बल्कि कृष्ण की पचमेल पूजा का धर्म है। कृष्ण एक ऐसा वैयक्तिक देवता है जिसकी शरण म, आपत्ति पडने

पर, कोई भी दौड सकता था, परन्तु मानवीय उपदेशक बुद्ध के पास इस प्रकार दौडना सम्भव नही था। दोनो मे पग पग पर वैषम्य है, हालाकि बाद म कृष्ण के नाम से चलाये गये कई सिद्धात लुक छिपकर बौद्धधम से उडाये गये थे और सिद्धान्त ही नही, कुछ उपाधिया भी (जैसे, भगवत, नरोत्तम, पुरुषात्तम)। बुद्ध एक एतिहासिक व्यक्ति थे, परन्तु कृष्ण के बारे मे कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलते, सिवाय इसके कि आख्यानो तथा अनुश्रुतियो का मिलाकर कई सार कृष्णा से एक सर्वेश्वर कृष्ण की रचना कर दी गयी है। कालान्तर मे मिथका का बढात जाने से और बुद्ध मे देवत्व का अधिकाधिक आरोपण करन स बौद्धधम की अवनति हुई। दूसरी ओर, कृष्णभक्ति को सचित देवकथाओ पर ही खडा किया गया और उन्ही से इसे बल मिला है। सरलतम शब्दो म और सुगम तक शैली मे जैसा गम्भीर एव सुस्पष्ट विवेचन आरम्भिक बौद्ध शिक्षाओ मे देखने को मिलता है, वैसा कृष्ण के नाम पर आरोपित शिक्षाओ मे नही मिलता। प्रभावशाली सस्कृत भाषा मे रची गयी अपूव असगतियो स भरपूर पुस्तक गीता पाठक को परिणामो की ओर से आख मूदकर प्राय हर प्रकार का काम करने की छूट दे देती है। बहुरूपी देवता कृष्ण भी इसी प्रकार बेमल है, यद्यपि वह सभी पुरुषो के लिए सब कुछ और अधिकाश स्त्रियो के लिए सबस्व है दिव्य और प्यारा शिशु, नटखट बालगोपाल गोपालको की वस्ती मे सभी गोपियो का प्रेमी, अनगिनत देवियो का पति, अत्यधिक स्वच्छन्द एव मैथुनक्षम सम्भोगी, फिर भी रहस्यमय सम्मिलन मे केवल राधा का अनुरागी, तिस पर भी तपस्वी जीवन का प्रतिपादक, परम शान्ति का साक्षात अवतार, परन्तु इतना अधिक उद्दण्ड कि उसने अपने मामा कस का वध किया, और दूसरे के यज्ञ म आमन्त्रित सम्मानित अतिथि शिशुपाल का सिर काट डाला, समस्त नतिकता का मूलस्रोत, परन्तु महाभारत-युद्ध (जिसम उसने एक साथ ही दैवी निर्णायक और भ्रष्टोचित सारथि की भूमिका अदा की) के निर्णायक क्षणो मे उसका परामश हमेशा ही शिष्टाचार, न्याय-व्यवहार और क्षात्रधम के हर नियम के विरुद्ध रहा। सम्पूण कृष्णाख्यान इस बात की एक शानदार मिसाल है कि एक सच्चा आस्तिक किस हद तक आंख मूदकर चाहे जिस बात म यकीन कर सकता है और गीता की सत्याभासी दलीलो के लिए कृष्णाख्यान न अवसरवाद का बेजोड चौखटा प्रस्तुत किया है। *यह (पुस्तक) अपक्षाकृत आदिम उत्पादन-स्तर वाले अत्यधिक मिश्रित* समाज और उसके धम के परस्पर-सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है।

इस पूरे कृष्णाख्यान का सिलसिला कम-से-कम ईसा की बारहवी सदी तक *और महान् रामानुजाचाय के वष्णव आदोलन तक चला।* परन्तु फिलहाल इस कहानी को हम ईसा पूव चौथी सदी तक ही लेंगे। कृष्ण के बारे म एकमात्र पुरातात्विक प्रमाण है उसका पारम्परिक हथियार चक्र जिसे फेंककर मारा जाता

था और इतना तीक्ष्णधार होता था कि किसी का भी सिर काट दे। यह हथियार वैदिक नहीं है, और बुद्ध के पहले ही इसका चलन बन्द हो गया था, परन्तु मिर्जापुर जिले (दरअसल, बौद्ध दक्षिणागिरि) के एक गुफाचित्र में एक रथा-



चित्र ८ मिर्जापुर की एक गुफा में चक्र फेंकता हुआ रथारोही (लगभग ८०० ई०पू०)।

रोही को ऐसे चक्र से आदिवासियों पर (जिन्होंने यह चित्र बनाया है) आक्रमण करते दिखाया गया है। अत इसका समय होगा लगभग ८०० ई० पू०, जब कि, मोटे तौर पर, वाराणसी में पहली बस्ती की नींव पड़ी। ये रथारोही आर्य रहे होंगे, और नदी पार के क्षेत्र में लोह-खनिज की खोज करने आये होंगे—उस हैमाटाइट खनिज की, जिससे ये गुफाचित्र बनाये गये हैं। दूसरी ओर, ऋग्वेद में कृष्ण को दानव और इन्द्र का शत्रु बताया गया है और उसका नाम श्यामवर्ण आर्यपूर्व लोगों का द्योतक है। कृष्णाख्यान का मूलाधार यह है कि वह एक वीर योद्धा था और यदु कबीले का नर-देवता (प्राचीनतम वेद ऋग्वेद में जिन पाँच प्रमुख जनों यानी कबीलों का उल्लेख मिलता है उनमें से यदु कबीला एक था), परन्तु सूक्तकारों ने, पंजाब के कबीलों में निरन्तर चल रहे कलह में जनित तत्कालीन गुटबन्दी के अनुसार, इन यदुओं को कभी धिक्कारा है तो कभी आशीर्वाद दिया है। कृष्ण सात्वत भी है अथवा वृष्णि भी, और मामा कंस से बचाने के लिए उसे गोकुल (गोपालकों के कम्यून) में पाला गया था। इस स्थानान्तरण ने उसे उन आभीरों से भी जोड़ दिया जो ईसा की आरम्भिक सदियों में ऐतिहासिक एवं पशुपालक लोग थे, जो आधुनिक अहीर जाति के पूर्वज हैं। भविष्यवाणी थी कि कंस का वध उसकी बहिन (कुछ उल्लेखों में पुत्री) देवकी के पुत्र के हाथों होगा इसलिए देवकी को उसके पति वसुदेव सहित कारागार में डाल दिया गया था। बालक कृष्ण-वासुदेव (वसुदेव का पुत्र) गोकुल में बड़ा हुआ, उसने इन्द्र से गोधन की रक्षा की और अनेक मुँहवाले

विषधर कालिय नाग का, जिसने मथुरा के पास यमुना के एक सुविधाजनक डबरे तक जाने का मार्ग रोक दिया था, मदन करके उसे खदेड़ दिया, उसका वध नहीं किया। तब कृष्ण और उसके अधिक बलशाली भाई बलराम ने, भविष्यवाणी को पूरा करने के पहले, अखाड़े में कंस के मल्लों को परास्त किया। यहां यह ध्यान में रखना जरूरी है कि कुछ आदिम समाजों में मुखिया की बहिन का पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी होता है, साथ ही, उत्तराधिकारी को प्राय मुखिया की बलि चढ़ानी पड़ती है। आदिम प्रथाओं से कंस-वध को अच्छा समर्थन मिलता है और यह भी स्पष्ट होता है कि मातृस्थानक समाज में ईडिपस आख्यान का क्या रूप हो जाता।

कृष्ण अपने कबीले के दायरे से बाहर निकला तो सबसे पहले उसने मातृदेवियों को वश में किया। बचपन में ही उसने पूतना नामक एक मातृदेवी (बाद में चेचक की देवी शायद) का वध कर डाला था, पूतना ने अपना विषाक्त दूध पिलाकर कृष्ण को मारना चाहा था। परन्तु पूतना बच गई होगी जैसे कि इन्द्र के साथ झड़प होने पर उषस् बच गयी थी, क्योंकि मथुरा क्षेत्र का एक भाग पूतना का नाम धारण किये रहा। जिस गोकुल में (कंस से उसे बचाने के लिए) कृष्ण का पालन हुआ था, उसे मथुरा से थोड़ी दूर नदी के किनारे वृन्दावन नामक कुंज में स्थायी रूप से स्थानांतरित कर दिया गया। 'वृन्दावन' का अर्थ है 'समूह देवी का वन'। पवित्र तुलसी की द्योतक इस देवी का आज भी प्रतिवर्ष एक निश्चित दिन कृष्ण के साथ ब्याह रचा जाता है। प्रतिवर्ष इस आयोजन की पुनरावृत्ति से जाहिर होता है कि इस देवी के मानव रूप पति की बलि चढ़ाने की आरम्भ में प्रथा थी, परन्तु कृष्ण ने इस प्रथा को तोड़ डाला। मातृदेवियों से विवाह करने और अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करने का कीर्तिमान कृष्ण का गौरव अबाध रूप से बढ़ता ही गया। कृष्ण की अधिकृत पत्नियों की कुल संख्या (वृन्दा व राधा को छोड़कर) १६१०८ बतायी जाती है। इनमें से कुछ प्राचीनतर और विदेशी कबीलों का प्रतिनिधित्व करती थीं, जैसे, ऋक्ष कबीले के मुखिया की पुत्री जाम्बवती। रुक्मिनी ('स्वर्णिम') का सम्बन्ध था भोजों से, जो उस समय बर्बरावस्था में थे। इनमें से हजारों अनाम 'पत्नियां' महज अप्सराएँ या जल-परियाँ थीं। परिणामस्वरूप, स्थानीय पूजाविधियों पर कृष्ण पूजा शांतिपूर्वक आरोपित हो गयी। कल्पित महाभारत-युद्ध के छत्तीस साल बाद जब आपसी कलह में सारे यदुओं का नाश हो गया तो उसके काफी बाद भी कृष्ण पूजा का प्रसार होता रहा। ईसा पूर्व छठी सदी में मथुरा पर शूरसेनों का अधिकार हो गया था, ब्राह्मणों ने मोटी दक्षिणा लेकर और झूठी वंशावलियाँ बनाकर ही मध्ययुग के नवोदित यादवों अथवा जाधवों का सम्बन्ध कृष्ण के यदुवंश से जोड़ दिया था। किन्तु शूरसेनों ने यदुओं से उनका सम्बन्ध

न होने पर भी, कृष्ण पूजा को जारी रखा और मथुरा इसका केन्द्र बना रहा। कृष्ण के विवाहों ने कुछ मातृसत्तात्मक आर्यपूर्वों को पितृसत्तात्मक आर्यों में आत्मसात् कराने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। यहाँ यह सदैव स्मरण रखना होगा कि न केवल अन्न-संकलनकर्ता उन्नति करके अन्न उत्पादक बने, अपितु, परिवेश के कारण, आर्यों का अन्न संकलन की अवस्था में भी पतन सम्भव था। दोनों स्थितियों में इन दोनों जन-समुदायों का सम्मिश्रण सम्भव हुआ और एक दूसरे की पूजा विधियों को अपनाने से यह काम और आसान हो गया। दैवी विवाह मानवीय संयोजन के ही परिचायक हैं। परिणामतः जिस मिश्रित समाज का उदय हुआ वह अधिक उत्पादनशील था, परिवेश पर उसका नियन्त्रण और बढ़ गया।

कृष्ण का एक और आरम्भिक करतब, जिसके कारण उसका तेजी से उत्थान हुआ, यह था कि उसने अपने गोकुल के गोधन की इन्द्र से रक्षा की। जान पड़ता है कि यह संघर्ष तिकोना था, क्योंकि इन्द्र ने उन अधिकांश नागों की रक्षा की जिन्हें कृष्ण ने और कुरुओं की कनिष्ठ पाण्डव शाखा ने मौका पाने पर कुचल डालने का प्रयत्न किया था। दरअसल, महाभारत में कृष्ण को बाहर से लाकर घुसेड़ा गया है, काफी बाद में। आख्यान है कि उसने खाण्डव वन जलाने में पाण्डवों का साथ दिया था। ऋग्वेद में यदुओं की संदिग्ध स्थिति ने और कृष्ण के श्याम वर्ण ने आर्यों और आदिवासियों का मिश्रण कराने में अतिरिक्त सहयोग दिया, बमेल नाग कथाओं ने भी ठीक यही भूमिका अदा की है। महाभारत में ये दोनों प्रकार की कथाएँ मौजूद नहीं होती यदि इन्हें सुननेवालों में दोनों समूहों के लोगों के तत्त्व विद्यमान न होते। इन्द्र के साथ संघर्ष का बड़ा विलक्षण प्रभाव पड़ा। ईसा पूर्व चौथी सदी में यूनानियों ने जब भारत पर आक्रमण किया तो उन्होंने देखा कि पंजाब के मैदानों में उनके हेराक्लीज से मिलते जुलते नर-देवता की पूजा का अधिक प्रचलन है और डायोनिसस' को पर्वतीय प्रदेश में पूजा जाता है। यह हेराक्लीज निश्चय ही भारतीय कृष्ण था। यह यूनानी वीर परम्परा से एक मल्लयोद्धा था, कड़ी धूप से इसका श्याम वर्ण हो गया था, इसने हाइड्रा (कालिय की तरह एक बहुमुखी सर्प) का वध किया था और अनेक अप्सराओं से विवाह या रमण किया था। इसके अलावा, कृष्ण की जिस ढंग में मृत्यु हुई है उसे यूनानी लोग अपने आख्यान से भारतीयों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से समझते थे। जरस् नामक एक व्याध ने, जो दरअसल कृष्ण का सौतेला भाई था, जो तीर मारा वह कृष्ण की एड़ी में घुसा और उससे यदु नर देवता की मृत्यु हो गयी। भारतीय लोग आज भी यह समझ नहीं पाते कि ऐसे घाव से कैसे मृत्यु हो सकती है। एकिलीज की कथा तथा यूनानियों की अन्य अनेक पुराकथाओं से स्पष्ट होता है कि ऐसी अनोखी मृत्यु का सम्बन्ध उस आनुष्ठानिक वध से है जिसमें

अक्सर बलि दिये जानेवाले वीर का भाई (या उत्तराधिकारी) किसी विपवृष हथियार का इस्तेमाल करता था। यूनानियों ने जिस दूसरे भारतीय देवता को विजेता डायोनिसस समझ लिया वह ऋग्वेद में वर्णित प्रचण्ड योद्धा और पियक्कड़ इन्द्र ही हो सकता है। इस यूनानी जानकारी की महत्ता पर ध्यान ही नहीं दिया गया है। इससे प्रकट होता है कि, यद्यपि यदुओं का नाश हो चुका था, पर पंजाब के अत्यधिक उपजाऊ क्षेत्र में इन्द्र पूजा का स्थान कृष्ण पूजा ले चुकी थी। और फिर, यह इसके बावजूद हुआ कि अपनी 'विजय' के अनन्तर ही इन्द्र-डायोनिसस (यूनानी उल्लेखों के अनुसार) भारत में सर्वप्रथम लोहे तथा धातुओं का ज्ञान खेती के लिए बैलों के इस्तेमाल की जानकारी और वास्तुकला लाया था।

कृष्ण द्वारा इन्द्र को अपदस्थ किये जाने का स्पष्ट ब्योरा, ऐतिहासिक सिलसिला तथा तिथि-क्रम आज दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं है, पर इस परिवर्तन का कारण सुस्पष्ट है। पशुचारी जीवन का स्थान कृषि-जीवन ले रहा था। वैदिक यज्ञ और निरन्तर के युद्ध पहली अवस्था के लिए भले ही अनुकूल रहे हों, पर दूसरी अवस्था के लिए वे महँगे और असह्य उपद्रव ही साबित होते। कृष्ण गो रक्षक था, जिन यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी उनमें कृष्ण का कभी आह्वान नहीं हुआ है जबकि इन्द्र, वरुण तथा अन्य वैदिक देवताओं का सदैव आह्वान हुआ है। ये लोग अपने पैतृक कुल देवता को चाहे जिस चीज की बलि भेंट करते रहे हों पर दूसरे कबीलों द्वारा उनकी इस प्रथा को अपनाने का कोई कारण नहीं था। दूसरी ओर, जो पशुचारी लोग कृषि-जीवन को अपना रहे थे उन्हें इन्द्र की बजाय कृष्ण को स्वीकार करने में निश्चय ही लाभ था। इसमें उन आर्य पूर्व लोगों को भी लाभ था जो पशुपालकों से सीखने लगे थे और उनसे विवाह सम्बन्ध स्थापित करने लगे थे, पर तब भी अनगनित स्थानीय देवियों में से किसी एक को पूजते आ रहे थे, इन्हीं देवियों को सुभीते से कृष्ण की पत्नियाँ बना लिया गया। विशुद्ध कृषकों को—जो पंजाब में कुछ धीमी रफ्तार से उन्नति कर रहे थे—कृष्ण के भुजबलि भाई बलराम ने वश में किया। बलराम को संकर्षण या हलधर भी कहते हैं क्योंकि हल उसका विशिष्ट लाक्षणिक हथियार था, जैसे कि कृष्ण का तीक्ष्णधार चक्र था। कृष्ण का यह भाई न केवल हलधरों का न्याय सम्मत देवता था बल्कि उसके माध्यम से नाग लोगों को भी आत्मसात करना सम्भव हुआ। बलराम को आमतौर पर शेषनाग का अवतार समझा जाता था और शेषनाग के बारे में यह कल्पना थी कि वह अथाह महासागर के ऊपर अपने मस्तक पर इस पृथ्वी को धारण किये हुए है। (बौद्ध कथाओं में भी मानवों दैवी अथवा सर्प नागों के बारे में जानकारी मिलती है। बुद्ध ने आदिवासी नागों को अपने धर्म में दीक्षित किया था, विषैले सर्पों को वश में किया था मुचलिन्द नामक दैवी नाग ने प्रकृति के प्रकोप से उनकी रक्षा की थी, और अपने किसी पूर्व

जन्म म यह एक उभयरूप 'सात्त्विक' नाग भी थे। नालन्दा और सकस्या-जैसे प्रमुख बौद्ध विहारों का उत्थान नाग पूजा-स्थलों स हुआ है, कभी-कभी विशेष अवसरों पर, भिक्षुओं म भोजन ग्रहण करने के लिए आदिम नाग दयालु मनुष्य के रूप म प्रकट होता था।) अब एक प्रश्न बाकी रहता है ये अनोखे कबीले क्यों कर एक ऐसे देवता का पूजन करने लगे जो उनका अपना नही था? इसका उत्तर यही जान पडता है कि यदुओं म और इन अन्य कबीलों म कोई सम्बन्ध रहा होगा, साथ ही, मगध की ओर से हुए किसी आक्रमण से भयभीत होकर मथुरा के ये कबीलाई लोग शायद पश्चिम की ओर फैलने लग गये थे।

अपने को आर्य समझनेवाले लोगों के बीच अब मौलिक भेद दिखाई देने लगे थे। गांगेय प्रदेश के ब्राह्मण व क्षत्रिय उत्तरापथ के व्यापार-मार्ग के पश्चिमोत्तरी सिरे तक (तक्षशिला और उससे भी आगे) उच्च शिक्षा—वेद, मन्त्रपाठ, आर्य रीति रिवाज चिकित्सा और शुद्ध संस्कृत की शिक्षा—प्राप्त करने के लिए जाते थे। क्योंकि पूर्व के निवासी लेन-देन व व्यवहार म एक ऐसी सरल भाषा का इस्तेमाल करने लगे थे जिसका आधार तो आर्य था, पर उसमे संस्कृत व्याकरण और वैदिक स्वराघात की विकट जटिलताएँ नही थी। उनका तोतली उच्चारण, घटिया वाक्य विन्यास, ग्राम्य लहजा और प्राय गँवारू शब्दावली पश्चिम के निवासियों को अत्यन्त हास्यास्पद खिचडी-जैसी जान पडती होगी। फिर भी इन ग्राम्य जनों को, जैसाकि उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों से प्रमाणित होता है, तक्ष-शिला तथा आसपास के क्षेत्र म, उनके वर्ण या जाति की गहरी छानबीन किये बिना ही, अच्छे शिष्यों के रूप म स्वीकार कर लिया जाता था। सीमा प्रदेश के उच्च वर्ग के लोग गौर वर्ण के थे। उनका मत था कि काला आदमी 'बाजार म लगाये गये काले बीजों के ढेर' की भाँति है और उसे शायद ही कोई ब्राह्मण समझने की भूल कर सकता है। दूसरी ओर, पूर्व के ब्राह्मण श्यामवर्ण किन्तु बुद्धि-मान पुत्र की प्राप्ति के लिए बृहदारण्यक उपनिषद म वर्णित एक अण्ड-बण्ड अनुष्ठान करते थे। जाति भेद दूर होने पर वर्ण-भेद भी नही रह गया था। शरीर-वर्ण (यूरोप मे केश-वर्ण) चाहे जो हो, सुन्दरी की सराहना होती थी। दूसरी ओर, सीमा प्रदेश म जाति के बन्धन इतने ढीले थे कि पूर्व के निवासी मद्र, गंधार तथा कम्बोज के लोगों को उच्छृंखल एवं बर्बर समझने लगे थे। सुदूर पश्चिमो-त्तर म केवल दो वास्तविक जातियाँ थीं आर्य यानी 'आजाद', और दास यानी गुलाम। एक जाति का सदस्य बिना किसी झमेले के दूसरी जाति म पहुँच जा सकता था। इसका अर्थ यह है कि इस सुदूर शीत प्रदेश म, अन्न संकलन कठिन और वस्तु-उत्पादन अनिवार्य हो जाने के कारण, प्राचीन ग्रीक रोमन दास प्रथा स मिलती जुलती दास प्रथा जन्म ले चुकी थी। दूसरी ओर, पूर्वी प्रदेश म दास-प्रथा का कोई अस्तित्व नही था, पर विभिन्न पेशों के अनुरूप जाति-भेद म

अधिकाधिक कठोरता आ रही थी। गुरुदेश के पूव की ओर के ब्राह्मणों ने किसी हद तक नागों के साथ अन्तर्विवाह स्वीकार कर लिया था या ऐसे मामलों में अनदेखी की थी, परन्तु जब वह देखते कि पेशावर या बल्ख का कोई व्यक्ति ब्राह्मण है किन्तु उसका भाई हल जोतता है और उसी परिवार का कोई दूसरा आदमी योद्धा है अथवा नाई का काम करता है, तो उन्हें बड़ा आघात पहुँचता था। एक ही परिवार के ये भाई, बिना किसी लज्जाभाव के, इच्छानुसार अपने धंधों की अदला बदला भी कर लेते थे। सीमा प्रदेश की स्त्रियों का व्यवहार काफी उन्मुक्त था वह न अपरिचितों के सामने शर्माती, न ही परिवार के वयोवृद्धों के आगे शील-सकोच का प्रदर्शन करती, जिसकी सम्भ्रान्त परिवारों के भारतीय आज भी अपने स्त्री समुदाय से अपेक्षा रखते हैं। स्त्री पुरुष दोनों ही मांस खाते थे और खूब नशीली शराब पीते थे, ऐसे भी सामुदायिक नृत्य होते थे जिनमें वस्त्र तक उतार दिये जाते थे। पूर्वी प्रदेश के ब्राह्मण की दृष्टि में ऐसा आचरण निश्चय ही अश्लील था। कन्या का मूल्य देकर (दहेज प्रथा के विपरीत) विवाह करने का पश्चिमोत्तर में जो रिवाज था वह भी पूर्ववासियों को विकृत प्रतीत होता था, कन्या-हरण की प्रथा भी, जिसका महाभारत के अनुसार कृष्ण के कबीले में प्रचलन था और ऐतिहासिक आभीरों ने भी जिसे चालू रखा, पूर्ववासियों को विकृत लगती थी। अ ततोगत्वा ब्राह्मण धर्मग्रन्थों ने इन दोनों प्रकार के विवाहों को अनार्य प्रथाएँ कहकर निषिद्ध घोषित कर दिया। फिर भी, मद्र और बाह्लिक स्त्रियों की सुन्दरता, स्नेहशीलता तथा परम स्वामि भक्ति सदा लोक प्रसिद्ध रही। उस क्षेत्र के योद्धा की विधवा अपने पति के शव के साथ सती भी हो जाती थी। यह बीभत्स सती प्रथा पूर्व के लोगों के लिए तब पूर्णत अज्ञात थी और सामन्ती युग तक लगभग ईसा की छठी सदी तक, उनमें इसका प्रचलन नहीं हुआ। पश्चिम के निवासी पूर्व के इन घमण्डी किन्तु फिर भी गँवार किस्म के अनुचरों के बारे में क्या सोचते थे इसके बारे में कोई लिखित जानकारी नहीं मिलती, परन्तु यह ज्ञात है कि पूर्वी प्रदेश के निम्न जाति के उद्यमशील तरुण ब्राह्मण धर्म की सब तिकड़म सीखने के लिए पश्चिम पहुँचते थे और फिर (जहाँ उनकी जाति की किसी को जानकारी न होती) अपने को ब्राह्मण घोषित कर देते थे। ऐसा इसलिए भी आसान था कि सीमा प्रदेश के उनके विद्वान् शिक्षक पेशे—दरअसल, आदिम वर्ग विभेद—से आगे बढ़कर जाति भेद पर बहुत कम ध्यान देते थे।

उत्तरापथ पर विपरीत दिशा में भी खूब यातायात चलता था। बुद्धत्व प्राप्ति के केवल आठ सप्ताह के बाद ही जो दो गृहस्थ बुद्ध के उपासक बने व पउक्खलावतिस् अथवा बल्ख व्यापारी थे और उड़ीसा से राजगिर जाते हुए बुद्ध गया में गुजर रहे थे। इन दो भाइयों के नाम थे तपस्सु और भल्लुक, जिनका अर्थ धातु-व्यापार से जुड़ता है क्रमश सीसा या राँगा और ताँबा। पूर्व में

जाकर आरम्भिक दौर में ही भिक्षु बननेवाला कश्मीर का एक क्षत्रिय था कप्फिन, जिसकी नाक पतली और ऊँची थी। उसके नाम से उपलब्ध पालि-गाथाओं में तपस्वी वृत्ति की अपेक्षा यूनानी मूर्ति-पूजा का पुट अधिक है। तक्षशिला का पुक्कुस नामक राजा, जिसने इतनी दूर तक बिम्बिसार को उपहार भेजे थे और उससे प्राप्त किये थे, बुद्ध के दर्शन करने वृद्धावस्था में जब पहली बार मगध पहुँचा, तो वहीं पर, बुद्ध-दर्शन के एक सप्ताह बाद उसकी मृत्यु हो गयी, कथा है कि उसकी मृत्यु किसी गाय के सींग मारने से हुई थी।

जिस बन्धन ने इस पचमेल समाज को एकजुट रखा, जिसके कारण यह कबीलों के समूह की बजाय एक समाज कहलाया, वह एक सार्वजनिक पूजाविधि अथवा एक सार्वजनिक भाषा का उतना बन्धन नहीं था, जितना कि उन समूची सार्वजनिक आवश्यकताओं का जिनकी पूर्ति पारस्परिक आदान प्रदान से होती थी। उत्तरापथ और दक्षिणापथ के व्यापारिक मार्गों पर होनेवाले पारस्परिक सम्पर्क के माध्यम से ही पूर्व की दार्शनिक विचारधाराओं का प्रचार प्रसार हुआ। परिवेश भिन्नता के कारण यद्यपि वैदिक भाषा और कर्मकाण्ड में बिखराव आ रहा था, और नये देवता तथा धार्मिक मत मानव मस्तिष्क को आन्दोलित कर रहे थे, परन्तु पण्य उत्पादन ने दूर-दूर के आर्यों को और उनकी मिश्रित शाखाओं को कसकर बाँध रखा था।

५ ५ कोसल और मगध

ईसा पूर्व छठी सदी की जिन नैतिक विचारधाराओं ने अपने सिद्धान्त रचे और कबीले से आगे बढ़कर उपदेश दिये, उनका एक राजनीतिक प्रतिपक्ष भी था। समूचे समाज के लिए एक सार्वभौम शासन की स्थापना के समान्तर प्रयास हो रहे थे। इन धार्मिक व लौकिक, दोनों ही आन्दोलनों का मूलाधार एक था गृहपति, व्यापारी तथा कृषक की नयी आवश्यकताएँ। जहाँ नये भिक्षु-सम्प्रदायों के संस्थापकों ने, विशेषतः जैन और बौद्ध संस्थापकों ने, अपने संघों के संगठन के लिए कबीलाई पद्धति को ही स्वाभाविक एवं उपयुक्त समझा, वहाँ राजनीतिशास्त्रियों को कबीलों के अलगाव को तोड़ने का केवल एक ही उपाय सूझा—निरंकुश राजतन्त्र। प्राचीन यूनानी इस होमरीय कुलीनतन्त्र ('बैसिलिनियूस') से पैसिस्त्रातिदीय निरंकुश राजतन्त्र ('टाइरैनोस') में संक्रमण के रूप में पहचानते। निरंकुश सत्ता के लिए जो लम्बा संघर्ष हुआ उसके पीछे एक भावना-हीन, कठोर, स्वार्थपरक तार्किक पद्धति से प्रतिपादित एवं सुचिन्तित राजनीतिक सिद्धान्त की भूमिका थी। उसमें नैतिकता का तनिक भी कोई दिखावा अथवा दूसरों की भलाई का झूठा बहाना कभी नहीं रहा। नये राजतन्त्र के सिद्धान्तकार अपने क्षेत्र के उतने ही महत्त्वपूर्ण एवं योग्य विचारक थे जितने कि समकालीन धर्मनेता। इनके नाम केवल एक संहिता-ग्रन्थ—कौटल्य के अर्थशास्त्र—में स्मृत

को मिलत है, यह ग्र थ, जिसका विवेचन अगले अध्याय म होगा, इस विषय परम्परा की अ तिम और सबसे महान कृति है। सिद्धा तकारो की यह नामावली वडी प्रभावशाली है भरद्वाज, वात्यायन, पराशर, उपनस और बहस्पति जाने माने ब्राह्मण नाम हैं, इनमे कुछ नाम, उस समय के पुरान धार्मिक सम्प्रदायो का भाति, पृथक् रूप से समूची पारम्परिक शाखा के द्योतक हैं। बाहुद ती-पुत्र, किंजल्क कौणपद त, पिशुन, विशालाक्ष, वातव्याधि और दीघ चारायण सम्भवत क्षत्रिय थे, क्षत्रिय परम्परा की सबसे प्रमुख शाखा आम्भी की थी। यह सूची पूण नही है। किसी भी शाखा क सार सिद्धा त उपलब्ध नही है, यद्यपि अथशास्त्र म प्रसगानुसार इन्हे उद्ध त करके इनका ठीक उसी प्रकार विवेचन किया गया है जसेकि कोई विधिवेत्ता पहले के निरूपणो को पश करके विश्लेपणात्मक पद्धति स उनकी समीक्षा करता है। कही कोई ऐतिहासिक स दभ नही है और 'दीघ' चारायण के अलावा और किसी के बारे म ऐसी कोई सूचना भी नही मिलती। ऐतिहासिक स दभ का यह अभाव स्वाभाविक है। जहाँ धर्मोपदेशक को जन समुदाय को विश्वास मे लेना होता था और जीवन के हर क्षेत्र के लोगो तक खुलेआम तथा व्यापक रूप से अपने उपदेश पहुँचाने होते थे, वहाँ राजनीति सम्ब धी परामश कुछ चुने हुए व्यक्तियो तक गुप्त रहने से ही प्रभावशाली हो सकता था। ईसा पूव छठी सदी के महान भिक्षु उपदेशक कालान्तर के भारत का परोपजीवी भिखारियो की जमात से और जडबुद्धि पायोपदेशको स बहुत ऊँचे थ, क्योकि एक निता त नये प्रकार के समाज के निर्माण म उन महान् उपदेशको न जोरदार भाग लिया था। ईसा पूव छठी सदी के युद्ध षडय त्र, हत्या तथा विखण्डित आस्था सम्ब धी गाथा म और बाद के निरकुश राजत त्रो की, जिनम राजाओं पर कोई सवैधानिक अकुश नही था गाथा मे ठीक यही अन्तर पाया जाता है। ईसा पूव छठी सदी म पहली बार राजत त्र का उदय हुआ था, यह एक निता त नई सामाजिक अवस्था के उपयुक्त एक अभिनव शासन प्रणाली थी। पर तु मध्ययुगीन 'प्राच्य निरकुशता' म केवल ऊपरी ढाँचे म ही रद्दोबदल होती थी समाज का बुनियादी ढाचा जिसमे काफी पहले से जडता आ गयी थी ज्यो का त्यो कायम रहा।

परम्परा से जानकारी मिलती है कि ईसा पूव सातवी सदी म या सम्भवत इसके भी एक सदी पहले, सोलह प्रमुख जनपदो का अस्तित्व था। ईसा पूव छठी सदी के अन्त म और पाँचवी सदी के आरम्भ मे इनम सत्ता के लिए जो अन्तिम सघप हुआ उसम इन सोलह मे से कवल चार ही अपने महत्त्व को कुछ हद तक कायम रख पाय। इनम किसी निरकुश राजसत्ता को न स्वीकार करनेवाल दो कुलीन-तन्त्र या गणत त्र थे—लिच्छवि या वज्जि (घुम तू पशुपालक, जिसस प्रकट होता है कि ये कुछ बाद मे स्थायी हुए) और मल्ल। य दोनो कबीले अपना

बारभार कबीलाई सभा द्वारा चलाते थ और निरन्तर सैनिक अभ्यास करते रहते थे। इनके न्याय व निष्पक्षता के लिए प्रसिद्ध अपने कबीलाई सविधान थे। परन्तु दोनो म अधीनस्थ कृषको (जो सभी कबीले के सदस्य नही थे) के ऊपर कुलीन-वग जन्म ले रहे थे और स्वय कुलीन व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण आपस मे और अधिक बँटते जा रहे थे। लिच्छवियो का मुख्य नगर वेसालि (आधुनिक बसाढ) था, जहा उनका मन्थागार था। मल्लो की कई शाखाएँ थी, जिनमे से दो इनके छोटे प्रमुख नगर पावा और कुसीनारा के इद गिद थी। प्रत्येक कबीला, आवश्यकता पडने पर, काफी बडी सेना मदान मे उतार सकता था। ईसा पूव पाचवी सदी की शुरुआत म इन कबीलो ने अपना एक मजबूत आक्रामक सघ बना लिया था जिसके लिए यह जरूरी था कि वह दूसरे प्रदेश पर विजय हासिल करे या अपनी ही स्वतन्त्रता खो दे। परन्तु इनकी उपेक्षा करना सम्भव नही था, क्योकि य दो समूह उत्तरापथ के व्यापार माग को वहाँ रोकते थे जहाँ यह नेपाल की सीमा से दक्षिण की ओर चम्पारन जिले से होकर गगा तक पहुँचता था और फिर नदी पार करके उस क्षेत्र म जाना होता था जहाँ सब के लिए लोह व तावे के खनिज मौजूद थ। इनके पश्चिमोत्तर म कोसल था और दक्षिण तथा दक्षिण पूव म मगध—दोनो ही निरकुश राजतन्त्र। कोसल और मगध भी (सोलह म से शेष जनपदो की तरह) पहले कबीले थे जैसाकि देश के अथ म इनका सदैव बहुवचन म इस्तेमाल (कोसलान, मगधान) होने से प्रकट होता है। परन्तु किसी बौद्ध या जैन ग्रन्थ म मगध कबीले या कोसल कबीले के बारे म कही कोई जानकारी नही मिलती, न ही इनकी परिषदो अथवा सभाओ का कोई विवरण मिलता है। मगध शब्द का आरम्भ म अथ था चारण, बाद म हुआ 'व्यापारी', जिससे प्रकट होता है कि मूल कबील से दो विशिष्ट श्रेणियो का विकास हुआ था, ब्राह्मण धमग्रन्थो म तो मगधवासियो को मिश्रित जाति (व्रात्य) ही कहा गया है। जनपद (कबीले का ठौर) शब्द बाद मे 'देश', 'राज्य' और 'जिले' के अथ मे भी प्रयुक्त हुआ है जिससे साफ जाहिर होता है कि गगा की घाटी म विकास का दौर किस प्रकार रहा है।

ये आय और आयकृत कबीले, सिवाय एक महत्वपूर्ण अन्तर के ईसा पूव छठी सदी के यूनानी कबीलाई राज्यो जसे ही थे। जान पडता है कि आर्जीव, बिओतिजन लैसिदेमोनियन आदि कबीलो न उस समय तक अपने सीमित और अपक्षाकृत कम उपजाऊ प्रदेशो मे व्यक्तिगत भूसम्पत्ति का विकास कर लिया था। भारतीय कबीलो की भूमि, जो सदैव खूब विस्तृत रही और आम तौर पर बदल बदलकर जोती जाती थी, सम्पत्ति कम और क्षेत्र ही अधिक रही। कबीले की सभा को यह अधिकार था कि वह किसी जोत क्षेत्र को, फिर वह एक ही परिवार मे लम्बे समय से क्यो न जोता गया हो, दूसरे को जोतने के लिए दे दे। इसके

विपरीत, निरकुश राजतन्त्रो का अस्तित्व ही इस बात पर निभर था कि वे निरन्तर जोते जानेवाली स्थायी व्यक्तिगत भूसम्पत्ति से नियमित रूप से राजस्व वसूल करते रह।

इन दोनो राजतन्त्रो मे कोसल अधिक प्राचीन था और ईसा पूव छठी सदी के आरम्भ मे यह निश्चय ही अधिक शक्तिशाली था। ईसा पूव छठी सदी म कोसल की राजधानी सावत्थी मे थी, यद्यपि पुराना मुख्य नगर इसके दक्षिण म साकेत था। यह साकेत वही पारम्परिक अयोध्या ('अभेद्य') नगरी है जहा स पौराणिक महाकाव्य के नायक राम ने स्वेच्छा से वनवास के लिए कूच किया था और आगे वह अखण्डित अरण्य मे पहुँचा था। यह तथाकथित वनवास माग ही बाद दक्षिणी व्यापार माग दक्षिणापथ, मे विकसित हुआ, आधुनिक 'दक्खन' नाम इसी से है। बावरी जातक से पता चलता है कि सावत्थी नगर ईसा पूव छठी सदी के दो प्रमुख व्यापार-मार्गों के सगम पर था। इसके अलावा, कोसल का गगा पर नियन्त्रण था, क्योकि लम्बे अर्से की लडाइया के बाद कासी (वाराणसी) पर भी उसका अधिकार स्थापित हो गया था। कासी पर कोसल का अधिकार ईसा पूव सातवी सदी मे हो गया होगा क्योकि इसके बाद कासी कबीले के बारे म कही कोई जानकारी नही मिलती। 'काशी के राजा ब्रह्मदत्त' से सम्बधित केवल कुछ जातक कथाओ से ही प्रकट होता है कि इस स्थान का, जिसके बारे म ईसा पूव प्रथम सहस्राब्दी के आरम्भकाल के पुरातात्त्विक प्रमाण मिले है, कुछ पारम्परिक महत्त्व था। पट्टन के रूप म वाराणसी का इतना अधिक महत्त्व था कि कोसल को इसके बाद कोसल-कासी कहा जाने लगा। वाराणसी म निर्मित सूत व कौशेय (टसर) वस्त्र और अन्य वस्तुएँ पहले से ही मशहूर थी। बौद्ध भिक्षुओ न अपने वस्त्रो के लिए यहा के नारगी भूरे काषाय रग को अपनाया, और यह रग लगभग इसी नाम से, प्रसिद्ध 'बनारसी कत्थई' के नाम स, आज भी लोकप्रिय है। अत्यधिक साहसी नाविक कासी से ही अपनी समुद्र तक की यात्रा शुरू करत थ और कभी कभी नदीमुख के पर भी पहुँच जाते थे आरम्भ से ही इनक लाभप्रद व्यापार का स्थायी पण्य पदाथ नमक रहा होगा।

व्यापार माग पर मगध की स्थिति कुछ अनुपयुक्त जान पडती है क्योकि यह नदी के परे रास्ते के छोर पर ऐसी जगह था जहाँ से आगे पथहीन जगल की शुरुआत हो जाती थी। परन्तु इस राज्य का, जहा बाद मे भारत का सवप्रथम 'सावभौम राजतन्त्र' और साम्राज्य स्थापित हुआ, व्यापार माग स भी कही अधिक महत्त्व की एक चीज, धातुओ की आपूर्ति, पर अधिकार स्थापित हो गया था। राजधानी राजगिर (राजगृह 'राजा का घर') मे नदी के दक्षिण मे, प्राचीन आर्यो की एकमात्र बस्ती स्थापित हुई थी, तो इसका एक स्वाभाविक कारण है। राजगिर के समीप की पहाडियो को जो धारवाड पवतमाला की

सबसे उत्तर की शाखा की हैं, भूगर्भीय रचना ऐसी है कि इनमे लौह-खनिज आसानी से मिल जाता है। यहां लौह-ऑक्साइड के शल्कल पपडिया के रूप म पर्याप्त मात्रा म मिलते है और इन्हें अधिक खोदे बिना ही चट्टाना से पथक किया जा सकता है, इस खनिज को लकडी के कोयले से शुद्ध बनाने के बाद और तब सफेद होने तक गम करके हथौडे से पीटने पर इससे औजार तथा बतन बनाये जा सकते हैं। राजगिर की एक और सुविधा यह है कि चारो ओर से पहाडियो स घिरा होने के कारण इसकी आसानी से रक्षा की जा सकती थी, आरम्भ म ही पच्चीस मील लम्बे एक परकोट से इसकी किलेबन्दी कर ली गयी थी और इस परकोट के भीतर दीवार से घिरा हुआ नगर सुरक्षित था। लगभग एक वग मील म आबाद यह राजगिर नगर एक तीसर मध्यवर्ती परकोटे से घिरा हुआ था। परकोटा से घिरे हुए इस क्षेत्र म गरम व ठण्डे पानी के सोते थे जिनसे बढिया पानी मिलता था, और दीवारो के बीच म उत्तम चरागाह होन के कारण आपत्तिकाल म लम्बे समय तक यहां के निवासी डटे रह सकत थे। इसके दक्षिण पूव मे गया है, जो मगध का एक आरम्भिक उपनिवश है। गया के परे आदिम जगल था। साहसी अन्वषक इस जगल को पार करके दक्षिण पूव की पहाडिया मे लौह व ताम्र खनिज की खोज करते थे, भारत म ये खनिज यही पर सर्वाधिक मात्रा म पाये जाते है। खनिज को खान से निकालकर यही पर इसे शुद्ध किया जाता था और फिर धातु को गगा की मध्य घाटी म लाकर बेचा जाता। कारण यह है कि खनिजो के इस पहाडी क्षेत्र मे खेती करना उतना लाभप्रद नही था जितना कि नदी की जलोढ मिट्टी के क्षेत्र म। अत मगध की महान् शक्ति का स्रोत यह था कि इसने धातु का समुचित इस्तेमाल करके जगलो को साफ किया और वहां हल की खेती की शुरुआत की।

उस जमाने म ये सोलह जनपद ही सब कुछ नही थे, न ही केवल इन्ही के निवासियो का महत्त्व था। अधिकाश भूमि अभी अछूते जगलो से व्याप्त थी और इनमे जहा तहां अन्न सग्राहक खूखार आदिवासियो का निवास था। ये लोग उस समय तक पत्थर के कुठारो (पाषाण मुग्गर) का इस्तेमाल करते थे, और ये आगे जाकर व्यापारी सार्थों के लिए अधिकाधिक खतरनाक साबित हुए। दो प्रमुख व्यापार मार्गो पर भी जनपदो के बीच दूर दूर तक आदिम जगल थे, जिनम से सार्थो को बडी सावधानी से, आमतौर पर भारी रक्षक दल को साथ लेकर, जाना होता था। शाक्यो के गौण कबीले के बार म हमे इसलिए जानकारी मिलती है कि इसने एक महापुरुष को पैदा किया। उस समय 'अल्लकप्प के बुलियों' जम कबीले भी इतना महत्त्व रखते थे कि बुद्ध धातु मे से अपना हिस्सा मांगे और उस प्राप्त करें, परन्तु इस एकमात्र उल्लेख के अलावा इनके बारे मे कोई जानकारी नही मिलती। मिथिला नाम का इस्तेमाल नगर

और जनपद दोनों के लिए होता था, पर यह कबीला लुप्त हो चुका था, यहां के इक्ष्वाकु वंश के अन्तिम राजा सुमित्र की मृत्यु बुद्ध जन्म के आसपास हुई। चाहे मिथिला का विदेह पर आधिपत्य हो जाने पर कोसल ने इन्हें आत्मसात् कर लिया हो या दोनों पर मगध की विजय के बाद इन्हें मिला दिया गया हो, ईसा पूर्व छठी सदी के मध्यकाल में इन दोनों जनपदों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। मगध ने अंग जनपद को, जिसका विस्तार नदी के दोनों ओर था, अपने में मिला लिया था। इसकी राजधानी चम्पा (भागलपुर) थी, जो एक नगण्य देहात बन गया था, मगधराज बिम्बिसार ने एक ब्राह्मण याज्ञिक को दान में दे दिया था।

सामान्य कबीलाई जनों में भी अधिक महत्त्वपूर्ण थे व्यापारी, जिन्हें आमतौर पर सत्थवाह (सार्थवाह) अथवा वदेहिक कहा जाता था। दूसरे नाम का अर्थ है 'विदेह कबीले के लोग'। यद्यपि सभी व्यापारी किसी एक कबीले या जनपद के नहीं होते थे और विदेह कबीला लुप्त हो चुका था फिर भी इस नामकरण से स्पष्ट होता है कि इस पेशे का उद्गम एक विशिष्ट कबीलाई श्रेणी से हुआ था। व्यापारी सार्थों की यह लम्बी शृंखला तक्षशिला से लेकर मगध के पूर्वी छोर तक फैली हुई थी। अधिक साहसी व्यापारी इन सभी जनपदों की सीमा के पार भी पहुँच जाते थे, विशेषतः दक्षिणापथ के विस्तार में। यह व्यापार अब आदिम पद्धति का नहीं था न ही यह केवल व्यापारी मित्रों तक सीमित रह गया था, यह दूसरी बात है कि जिन बर्बर अरण्यवासियों ने इस पेशे को कायम रखा था उनके साथ भी शायद व्यापार होता हो। ईसा पूर्व सातवीं सदी के अन्त समय तक सिक्कों का नियमित रूप से इस्तेमाल होने लग गया था, यह बात उपलब्ध सिक्कों से सिद्ध हो जाती है। मगध के पूर्वी भाग में चांदी के कार्षापण सिक्के ३.५ ग्राम मानक तौल के होते थे, जब कि कोसल क्षेत्र में मिली एकमात्र निधि के सिक्के ३/४ कार्षापण मानक तौल के हैं। यही तौल सिन्धु सभ्यता का भी रहा है, दरअसल, सिन्धु सभ्यता में ठीक इसी तौल के पत्थर के बाट बनाये गये थे। तक्षशिला के सिक्के विदेशी मानक तौल के थे ११ ग्राम से थोड़े ही अधिक तौल के, और ऐतिहासिक युगों में भारतीय रुपये का तौल भी लगभग इतना ही रहा है। कार्षापण का तौल ३२ इकाइयों के बराबर था परन्तु सीमा प्रदेश के सिक्कों का जो मुड़ी हुई छड़ के आकार के होते थे १०० इकाइयों के बराबर था। आरम्भ में ये चांदी के सिक्के चिह्न रहित होते थे और व्यापारी ही इन्हें चलाते थे, और प्रचलन के दौरान व्यापारियों की श्रेणियां इनके तौल की नियमित रूप से जांच करती थीं। जांच के समय इन सिक्कों की एक तरफ छोटे चिह्न आहत किये जाते थे जो श्रेणियों के चिह्नों को पहचाननेवालों के लिए इस बात के प्रमाण होते थे कि सिक्के सही तौल के और शुद्ध धातु के हैं। इन

आहत चिह्नों (पचमार्क) का उत्तरापथ के परे अफगानिस्तान और ईरान तक प्रचलन था, कभी कभी ये चिह्न हखामनियों के दारिक नामक (सम्राट् दारा के नाम पर) उन सिक्कों पर भी देखने को मिलते हैं जो सम्भवत गंधार में चलाये गये थे। इनमें से कुछ आहत चिह्न सिंधु लिपि-सकेतों से आये हैं, सम्भवत उन पणियों के वशजो के माध्यम से जिनका पहले सक्षेप में नामोल्लेख हुआ है। जारी किये जाने के समय आरम्भ में इन चादी के टुकडों की दूसरी तरफ कोई चिह्न नहीं होता था। ईसा पूर्व छठी सदी से राजाओं ने भी इन सिक्कों पर जिस तरफ पहले कोई चिह्न नहीं होते थे, अपने चिह्न दागना शुरू कर दिया। यह एक नियमित प्रणाली थी जिसमें कोसल के चार चिह्न थे और मगध तथा दूसरा के पाँच चिह्न। इन चिह्नों के आधार पर हम राजवशों को अलग अलग पहचान सकते हैं और मोटे तौर पर बता सकते हैं कि किस राजवश में कितने राजा हुए परन्तु प्रत्येक राजा का नाम बताना आसान नहीं है और हमें अक्सर अनुमान का सहारा लेना पडता है। पुनराहत सिक्के राजवश में बडी उथल-पुथल के सूचक हैं, नया राजा विस्थापित शासक के खजाने के सिक्कों पर, उन्हें पुन जारी करने के पहले, अपने चिह्न अकित करवाता था।

ये सिक्के, आधुनिक मशीनों से ढाले गये सिक्कों की तरह, सूक्ष्म तौल के हैं, इनके तौल में न्यूनाधिकता अत्यन्त स्वल्प है। इस प्रकार के सिक्कों से, इतने सूक्ष्म तौल की नियमित मुद्रा प्रणाली से यह स्पष्ट जाहिर होता है कि पण्य उत्पादन खूब होता था। जानकारी मिलती है कि टोकरियाँ बनानेवालों के, कुम्हारों के, धातु कमकारों के, बुनकरों आदि के पूरे गाव ही (विशेषत वाराणसी के आसपास) बस गये थे। इन कारीगरों के अपने-अपने सगोत्रीय समूह थे फिर भी आमतौर पर ये श्रेणियाँ बना लेते थे, जिनका सगठन उनके अपने पुराने कबीलाई सगठनों के अनुरूप होता था। अर्द्ध-कबीलाई क्षेत्रों में, जैसे असम में, इस प्रकार की व्यवस्था आज भी देखी जा सकती है। प्रत्येक श्रेणी के पास काफी धन होता था, जिस पर किसी एक सदस्य का अधिकार नहीं था, परन्तु आवश्यकता पडने पर श्रेणी का मुखिया या श्रेणी परिषद् किसी सदस्य को या किसी बाहरी व्यक्ति या सस्था को यह धन वितरित कर सकते थे। भारत की गरीब पेशेवर जातियों में जिनके पूर्वरूप पीछे जाकर इस काल में अथवा इससे भी पहले के काल में स्पष्ट रूप से खोजे जा सकते हैं यह प्रथा आज भी देखने को मिलती है। उत्तर-वैदिक काल में कारीगर की गणना सम्भवत वैश्य जाति में होती थी और वह आमतौर पर घुमन्तू ग्राम का सदस्य होता था। कारीगरों द्वारा तैयार किया गया सारा माल समीप के नगर में नहीं खपता था क्योंकि ईसा पूर्व सातवी या छठी सदी में नगर अभी काफी छोटे थे। बहुत-सा माल, जैसे कपडा और धातु की वस्तुएँ, दूर-दूर तक ले जाकर बेचा जाता था।

थोडा विषयान्तर करके यहा हम सैद्धान्तिक पहलू पर विचार करेंगे। नये राज्य के लिए एक नितान्त जरूरी साधन की आवश्यकता बढती जा रही थी—एक शक्तिशाली, सुशिक्षित और सुसगठित पशेवर स्थायी सेना, जिसकी भरती और कायवाही मे कबीलाई विशेषाधिकार, कबीलाई कानून अथवा कबीलाई निष्ठा रुकावट न डाल सके, बल्कि जो कबीले से आगे बढकर समाज की सेवा कर सके—एक ऐसे समाज की, जो एकान्तिक कबीलाई जीवन को स्वीकार नही करता। यह सेना कबीले की उस अनिवाय सैन्य-भरती की तरह नही थी जिसे मुखिया जरूरत पडने पर खडी कर लेता था। आवश्यकता ऐसी सेना की थी जिस सावधानी से अनुशासनयुक्त बनाया गया हो, जिसे लगातार शिक्षित रखा जाता हो, नियमित रूप से वेतन दिया जाता हो, राज्य के खर्च से भलीभाति सुसज्जित हो और जिसे सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूण उपयुक्त छावनियो मे रखा गया हो। यह सब नियमित कर वसूली के बिना सम्भव नही था, जिसे आमतौर पर कबीलाई कुलक स्वीकार नही करते। न लिच्छवि, न ही मल्ल ऐसी कोई स्वाधीन स्थायी सेना खडी कर पाये जिसके सैनिक पूणत वेतन पर निभर हो। केवल एक निरकुश राजा ही, जो कानून से बँधा हुआ न हो, उन विभिन्न सुसम्बद्ध समूहो के अलगाव को तोड सकता था जो अपने को पूणत सम्पत्तिमूलक अधिकारो पर आश्रित एक व्यापक समाज के स्थायी सलग्न सदस्य मानने को तैयार नही थे। मैकियावेली ने एक भिन्न सन्दभ मे यही उपाय सुझाया था, उसकी पुस्तक इल प्रिन्सिपे मे राजकुमार को यही सलाह दी गयी है कि वह आपस म झगडनेवाले इतालवी नगरो का सख्ती से दमन करके उन्ह एक राष्ट्र के रूप मे सगठित करे। परन्तु मैकियावली यही पर रुक गया। न वह न उसका समर्थित उम्मीदवार सीजर बोर्ज्या और न ही कोई अन्य इटलीवासी इस बात को समझ पाया कि आवश्यकता है सामन्ती इटली के उत्पादन के आधार को बदलने की—यद्यपि तब तक रिनासाँ-युग बीत चुका था और बरोक युग शुरू हो गया था। मगध के सिद्धान्तकारो ने ऐसे कठोर अनुशासन का सुझाव दिया कि कोई भी बोर्ज्या हक्का-बक्का रह जाता, परन्तु उनका खुलेआम घोषित मुख्य लक्ष्य था—भूमि की शक्ल बदलना। उनके राजा का मुख्य काय और राज्य के लिए लाभ का स्रोत था—घन जगलो को साफ करना, परती जमीन को कृषि के योग्य बनाना, और साथ ही खानो और धातुओ पर राज्य का एकाधिकार। ऐसे राजतन्त्र के लिए अत्यावश्यक था कि वह कबीलाई विशेषाधिकार सम्पत्ति-साझेदारी तथा अलगाव के सभी अवरोधो को तोड डाले, बाद के निरकुश राजतन्त्र न तो समाज के केवल उसी निस्तेज अध स्तर पर शासन किया है जो कृषि की पूण विकसित अवस्था पर पहले ही पहुँच चुका था। इस विवेचन को पूरा करने के लिए कुछ सादृश्यताएँ दी जा सकती है। पूर्वी यूरोप के कुछ देशो

१ देहाती झोपडी मग्वरनाथ।

२ पत्थरों और मिट्टी की दीवारों से बनी घस की झोपडी और गोशाला चावण

के चीन के, अफीरा के नव स्वाधीन देशा म और अरब दटतापूवक कहते है कि देश को एक नयी अवस्था म ले जान अवस्था समाजवादी हो अथवा पूजीवादी जनवादी, अधिनाय लटिन-अमरीकी गणतन्त्रा म, हाल की क्यूबा की क्रान्ति तक, अय प्रकार का अधिनायकत्व चला जिसने वर्गों की स्थिति व अधिक से अधिक शासकवग के लोभ को ही कुछ नियमित रि रोमन सम्राटा ने किया था।





चित्र ६ बुद्ध के समकालीन कोसलराज पसेनदि के चाँदी के सिक्को के नमूनो की तुलना करके इन चिह्नो को पहचानना होता है अकित और प्राय अधूरे हैं। यह ध्यान देने की बात है कि कोसल चिह्ना की थी और इन सिक्को का तौल ३.४ मानक कापापण था।

ईसा पूव छठी सदी के मगध और कोसल के राजा इ श्यकताओ की पूर्ति करने योग्य थे। दोनो निम्न जाति म कबील या कबीलाई सभा का उन पर कोई बधन नही था के बिम्बिसार की वशावली नही मिलती पर संस्कृत वश का बताया गया है। और करीब दस पीढियो बाद, राजवश का अन्त भी शिशुनागो के रूप म ही हुआ। नाग' पद है वह वैदिक व्यवहार म असम्भव था। यहाँ वासिया के रक्त अथवा कम-से-कम आदिवासिया के होना चाहिए। ब्राह्मणा के ग्रथो म इस राजवश का तिर (क्षत्र बधु) कहा गया है, जिसका कम-से कम इतना अथ विजय के लिए कभी कदा यज्ञ कर लेने के अलावा वदिक परवाह नही करत थे। वस्तुत राजगिर म बुद्ध पूव का स्थल (मणियार मठ) ह उसका सम्बध कुछ नाग पूजार्वि स्थान क उजड जान तक कई सदिया तक, इसका यही स्वरूप बिम्बिसार की विशिष्ट उपाधि थी सनिय, यानी 'सना रखनवा होना ह कि वह पहला राजा था जिसने एक नियमित स्थायी और इस सना का किसी कबील स सम्बध नही था। कोसलराज को वदिक काल के प्रसिद्ध राजा इक्ष्वाकु का वशज बताता था, परन्तु



६ कुम्हार का तेजी से घूमनेवाला चाक जिसे एक डंडे द्वारा गति दी जा रही है। यह चाक भलीभांति संतुलित रहता है इसके नीचे स्थापित नुकीले पत्थर के धारक पर यह घूमता है और एक धुरी या लकड़ी के धुराग्र पर टिका रहता है। इस तरह का चाक भी ले जाया जा सकता है। डंडे को घुमाने के लिए चाक में सतह पर एक खाँच बनी होती है।

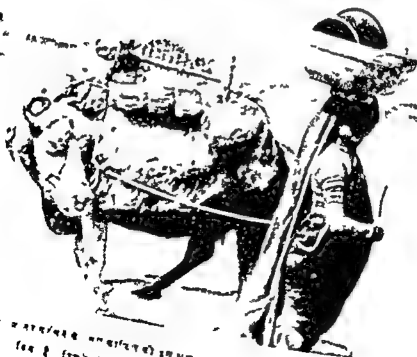
५ कुम्हार का चाक जिसका अक्सर स्त्रियाँ इस्तेमाल करती है। बायें इस्तेमाल के लिए तैयार, दायें इसके घूमते हुए दो पहलुओं में दर्शित उभार कोटर (जिसमें एक धातु का छल्ला डाला जाता है) और धावन।





७ लकड़ी की थपली से पिटाई कर एक बर्तन को बढ़ाता हुआ पूर्णे का एक आधुनिक कुम्हार पत्थर का निहाई उसके बायें हाथ में बर्तन के भीतर है। इस प्रक्रिया से बर्तन की सतह सुघड़ बनती है और मिट्टी में मजबूती आती है (पूना की मिट्टी घटिया किस्म की है)। ये पानी भरने के सुम्भरद्वाय घड़े हैं। सामने दिखाये गये घड़े और भिन्न शक्ल के हैं जिन्हें बढ़ाकर बड़े आकार का बनाया जाता है क्योंकि स्थानीय मिट्टी से सीधे चाक पर बड़े फैले हुए घड़े बनाना संभव नहीं है।

[illegible] के ऊपर सुखाये जा रहे हैं [illegible]। [illegible] और जलाऊ लकड़ी [illegible]
[illegible] सहायक से वंचित रखने के लिए विवश करते हैं।

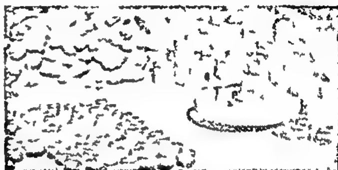


[illegible] कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।



६ कुम्हार का तेजी से घूमनेवाला चाक जिस पर डंड द्वारा गति दी जा रही है। यह चाक भलीभाँति संतुलित रहता है इसके नीचे स्थापित नुकीले पत्थर के धारक पर यह घूमता है और यह धुरी की लकड़ी के धारक पर टिका रहता है। इस टेक को कहीं भी ले जाया जा सकता है। डंड को फँसाने के लिए चाक में लकड़ी की एक खाँच बनी होती है।

५ कुम्हार का चाक जिसका केवल स्त्रियाँ इस्तेमाल करती हैं। बायें इस्तेमाल के लिए तैयार ढाँचा इसके बगल हुए थे पल्लों से ढलित उभार मोल्ड (जिसमें एक धातु का छल्ला डाला जाता है) और आँगन।





७ लकड़ी की थपनी से मिट्टी के एक बर्तन को बढ़ाता हुआ पुणे का एक पारंपरिक कुम्हार पत्थर का निहाई उसके बायें हाथ से बर्तन के भीतर है। इस प्रक्रिया से बर्तन की सतह सुघड़ बनती है और मिट्टी में मजबूती आती है (पुणे की मिट्टी घटिया किस्म की है)। ये पानी भरने के सुन्दरघाट घड़े हैं। सामने दिखाये गये घड़े और भिन्न प्रकार के हैं जिन्हें बढ़ाकर बड़े आकार का बनाया जाता है क्योंकि स्थानीय मिट्टी से सीधे चाक पर बड़े बने हुए घड़े बनाना संभव नहीं है।



[illegible] के चाक पर बड़ा तसला [illegible] बनाया [illegible] इसमें किसी [illegible] अथवा औज़ार का इस्तेमाल नहीं [illegible] फिर [illegible] [illegible] [illegible] की बगल [illegible] बर्तनों को आकार देती है और चाक पर [illegible] बर्तन को अलग करने के लिए केवल [illegible] उपयोग में लाई जाती है।



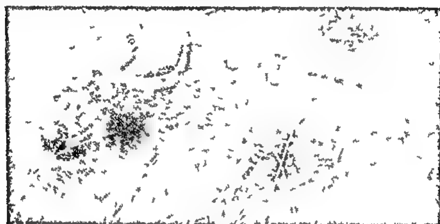
९ केवल स्त्रियों द्वारा चलाया जानेवाला कुम्हार का धीमा चाक। यहाँ तीन स्तरों में बननेवाले बड़े घड़ों की पेंदियों को बनाया जा रहा है। इनकी चौपर बनावट स्पष्ट है पुरुष थापों का इस्तेमाल करके इन्हें अंतिम रूप देते हैं।



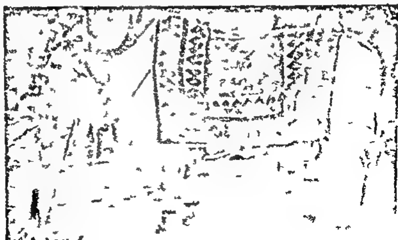
१० म्हसोबा (पशुदेवता और महिषासुर भी) के मिट्टी के देवालय। बीच का देवालय आधुनिक है बाकी सब पुराने हैं। प्रस्तरमाथर अथवा झोपड़ी के नमूने पर बने इस आवास अब दक्खनी प्रदेश में देखने को नहीं मिलते।



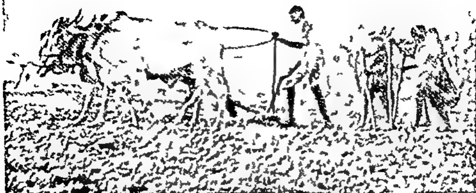
११ शिव को समर्पित दिल्ल-वाला पवित्र साँड वाराणसी १९३७। अशोक की राजाज्ञा द्वारा आरम्भित सडक भी ऐसा हो था। ये साँड अब नाक-कण्टक बन गये हैं और इनकी छटनी होनी चाहिए। यहाँ साड के बदन पर पजीकृत सख्या दागी गई है।



१२ दूध देनेवाला भारत का एक प्रमुख पशु भैंस। वैदिक न समय जानवाल इस पशु को वदिक युग क बाद ही पालत बनाया गया था। इस पशु क बिना गंगा का घाटी क दलदलों और जगलो का साफ करना सम्भव न होता। जहाँ दूसरे साधारण मवेशियों का इस्तेमाल न हो सकता ऐसे कीचडभरे (धान के खेतो की) जुताई म भैंस का उपयोग होता है।



१३ पन्ढरपुर की धार्मिक तीर्थ यात्रा के समय पवित्र पालकी खीचने वाला बैल। सिंधु सभ्यता की मुहरों पर उत्कीर्ण बैल भी ऐसा ही है। यहाँ बैल के बदन पर डाले गये कढे हुए वस्त्र (झूल) पर अंकित दश सिहों का सिंहासन का आधुनिक रूप है।



१६ खेतो की हुताई और बव॰ नालियो से पानी देने का काम किया जा रहा है।



१७ अनाज का दौरान यहाँ उनाज का तलगाव। बलो को मुसके लगाये गये हैं, जिसके लिए बाइबिल मे निषेधाज्ञा है।



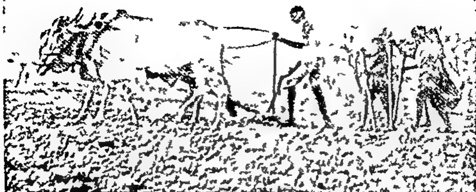
१८ चमकार भैसा की खाल का चूने के कुन्ड म डुबो रहे हैं। ये लोग मोची जाति के हैं और अन्य किसी जाति से इनके विवाह सम्बन्ध नहीं होते। आमतौर पर इन्हें अछूत समझा जाता है।



१४ जुन्नर में गणेश लेणा नामक बौद्ध गुफाओं के समीप के खेतों में व्यवहृत हल, आधुनिक हल कुषाण कालीन हल से मेल खाता है।



१५ खड़ा हत्था और झुके हुए जुए के चलनेवाला कुषाण-कालीन हल लगभग २०० ई०। बोधिसत्व के प्रथम ध्यान वाले एक गांधार उत्चित्र का अंश (लाहौर संग्रहालय)।



१६ खतो का हुताई और बव के साथियो स काम बार का बाम किया करती है।

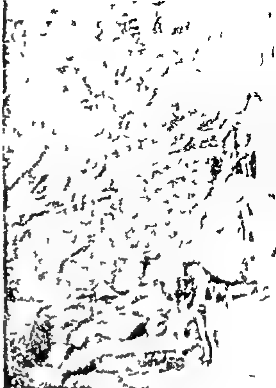


१७ अनाज का रौंदन यहाँ उभार का तलगाव। बैलो को मुसक लगाये गये हैं जिसके लिए बाइबिल मे निषधाज्ञा है।



१८ चमकार भैसा की खालों का चूने के कुंड में डुबो रहे हैं। ये लोग नाची जाति के हैं और अन्य किसी जाति से इनके विवाह सम्बन्ध नहीं होते। धापनार पर इन्हें अछूत समझा जाता है।

१९ नाणघाट दर्रा या उतार में गुजरता है। घाटियों सातवाहन काल में भी प्रयुक्त होता था। ज्ञान का महत्त्वपूर्ण मार्ग उतार की ओर रहता है ताकि व्यापारियों में नहीं। दर्रे का यह छोटा मार्ग रास्ता प्राचीन जनमार्ग के नजदीक से गुजरता है और इसमें सीढ़ियाँ बनायी हैं ब्याज और भाड़ा वसूल करने का स्थान है। इसमें बहुत पानी पड़ने के कारण प्रदेश से मोटा अनाज प्राप्त किया जाता है और दर्रे के ऊपर लाकर रखा जाता है।



२० हिंद महासागर में व्यापार करनेवाला मस्तूलोंवाला जहाज बारोबुदुर जावा लगभग ८०० ई०।

२३ उरांवों का नृत्य।

२४ लकड़ी को खोखला करके बनाये गये विशेष ढोल
को बजाते हुए मड़िया लड़के।



. . . के फिर सातवाहन काल में भी प्राय . . . ज्ञान का मन हुआ आया . . . की ओर . . . है ताकि . . . यह . . . रास्ता प्राचीन . . . के नजदीक से गुजरता है और इसके . . . सीढ़ियाँ बनायी हैं . . . प्याज और . . . से आये हैं . . . इनके बदले . . . के . . . प्रदेश से मोटा अनाज प्राप्त किया जाता है और . . . के . . . लाकर . . . जाता है।



२० हिंद महासागर में व्यापार करनेवाला मस्तूलोंवाला जहाज बारोबुदुर जावा लगभग ८०० ई०।

४

२३ उरांवों का नृत्य

२४ लकड़ी को खोखला करके बनाये गये पिटोण ढोल को बजाते हुए मडिया लडके।







४ उडीसा का अकाल १९४४।

२१ लगभग १६०० ई० का एक अज्ञात हस्तलिपि का चित्र जिसमें कलाकार (?) के सामने भारियों को दिखाया गया है



२५ चायबागान के एक मेले में आदिवासी मजदूर। चाय के ये बाग तो असम के हैं परन्तु भर्ती किये गये मजदूर उड़ीसा बिहार और मध्य प्रदेश के हैं। मूल आदिवासी मेलों की सहजता और उन्मुक्तता की तुलना में इन लोगों की मुद्रा एवं भाव का तनाव ध्यान देने योग्य है।

२६ असम की एक नदी में मछली पकड़ती नगरी स्त्रियाँ।





असम की एक नदी में डोंगा से
नियाँ पकड़ता हुआ एक नारी पुरुष।



२८ गले मिलती भील बहनें राजस्थान। बाहर से आई हुई विवाहित बहन जब मायके आती है, तो प्रथानुसार कमर तक निवस्त्र रहनेवाली अविवाहित बहन उससे गले मिलती है।



२५५४
1983

९ बड बड बांसो के जोडो मे पानी भरकर
र जाती हुई मिजू मिश्मी स्त्रियां असम ।

१० पत्तो के द्रोण बनाती हुई जुआंग स्त्रियां ।



२१ महाड के समीप के पाल स्थान की बौद्ध गुफाओं के सामने बैठा हुआ कातकरी जनजाति का एक प्रवीण बाला धनुर्धर। धनुष बाँस का है, डोरी बेंत की और तीर छोटे किन्तु लम्बे फलकवाले हैं जो नजदीक से निशाने में घातक मार करते हैं। दूसरे महायुद्ध के दौरान यह शिकारी भारतीय सेना में भर्ती हो गया था और रोम तथा दूसरे कई देश देख चुका है। लौटने पर उसने फिर अपना पहले का जीवन अपना लिया। सैनिक सेवा का यदि उसके ऊपर कोई विशेष प्रभाव पड़ा है तो वह लक्षित होता है केवल उसकी पहले से कुछ अधिक उजली घुटनों तक की धोती में।



२२ हल ले जाता हुआ चमार युवक। इसमें धातु का एकमात्र भाग है— इस्पात की छोटी नुकीली फाल।



३ झाडी संग्रह करते सबरा युवक उपाला।

३४ गेहूं की कटाई और ओसाई करने राजस्थान के भील, किसानों का यह आम तरीका है।

३५ भालो की झोपडी के भित्तिचित्र राजस्थान।

ार प्राग्न मध्यपाषाण पूर्व युग के
२७ पच्छाव परा पत्थर के बड़े औजार लघुपाषाण जिनका सम्बन्ध नहीं है ये अथवा महापाषाण साफ करनेवाले लोगों धौजार पतला कुछ लघुपाषाण शल्यकाय के हैं। इनमें से कुछ छिद्र करने के लिए। लिए हैं सम्भवत

३८ प्रारंभिक टीलों पर पाये गये लघुपाषाण जिनका सम्बन्ध दक्खन के धौलोवाले महापाषाणों से है। देखिए दबाव की पद्धति से बनाए गए इन शस्त्रों के नक्काशीदार किनारे। यह पद्धति तो अधिक उन्नत है परन्तु ये लघुपाषाण अपेक्षाकृत अधिक मोटे और कम सूक्ष्म हैं।

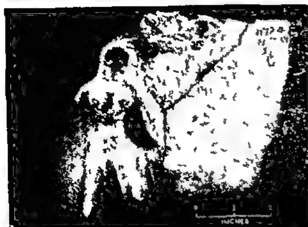




[illegible]

[illegible]





३९ एक नग्न स्त्री की आकृतिवाले कलश का सामने का भाग महेश्वर (नावदा टोली उत्खनन) ईसा पूर्व दूसरी सहस्रा ी। यह आकृति निस्सन्देह किसी मातृदेवी की है और कलश जो मातृदेवी का प्रतीक है गर्भाशय का द्योतक है।



४० चित्रित ठीकरा जिसमें मनुष्य हाथ मिलाकर नृत्य करते हुए दिखाया गया है महेश्वर (नावदा टोली उत्खनन) ईसा पूर्व दूसरी सहस्रा ी। मानसून के आगमनकाल में ऐसा वृत्ताकार नृत्य जो पुरातन प्रजननमूलक संस्कार का द्योतक है लड़कियाँ आज भी करती हैं।

४१ सिल और बट्टा मोहेंजोदड़ो। सिल का निचला हिस्सा घुटनों के बीच दबाया जाता था, और यह सिल बट्टा अन्न पीसने के काम आता था। सिंधु सभ्यता के लोगों को घूमने चक्की की जानकारी नहीं थी।

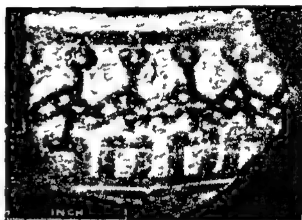




१६ काटकर और जलाकर स्थानान्तरित अथवा झूम पद्धति की खेती के लिए पहाड़ी की ढलान पर सूखे पत्तों में आग लगाता हुआ ७८ वर्षीय किसान, महाराष्ट्र। धान के खेत तैयार करने में आम किसान बहुत-कुछ यही पद्धति अमल में लाते हैं।



३६ एक नग्न स्त्री की आकृतिवाले कलश का सामन का भाग महेश्वर (नावदा टोली उत्खनन) ईसा पूव दूसरी सहस्रा ी। यह आकृति निस्स न्देह किसी मातदेवी की है और कलश जा मातृदेवी का प्रतीक है गर्भाशय का द्योतक है।



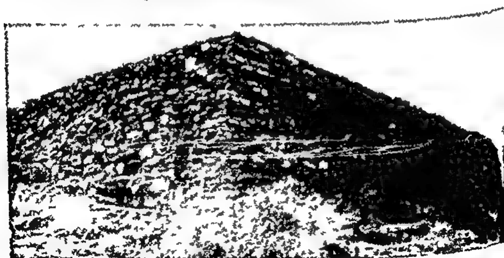
४० चित्रित ठीकरा जिसमे नतक का हाथ मिलाकर नत्य करते हुए दिखाया गया है महश्वर (नावदा टोला उत्खनन) ईसा पूव दूसरी सहस्रा ी। मानसून क अवमानकाल म एसा वत्ताकार नत्य जो पुरान प्रजननमलक सस्कार का द्योतक है लडकिया आज भी करती हैं।

४१ सिल और बट्टा मोहेंजोदडो। मल का निचला हिस्सा घटनो के बच दबाया जाता था और यह सिल बट्टा अन्न ज पीसने के काम आता था। सि ध सभ्यता क लोगा को घूणन चक्की की आवश्यकता नहा था।





४० इस प्रागैतिहासिक महापाषाण की बा[illegible] नामक मातृदेवी के स्थान के रूप में आज भी पूजा होती है। महराब के नीचे का लाल रंग पोता हुआ चिकना अण्डाकार पत्थर देवी का द्योतक है। ऊपर का पत्थर करीब सात फुट लम्बा है और किसी अन्य पत्थर से इसे घिसने अथवा इस पर चोट करने से यह घंटी की तरह बजता है यहां के पूजा विधान की आज भी यह एक रस्म है। इस मजबूत स्मारक की रचना में धातु के किसी औजार का इस्तेमाल नहीं हुआ है।



४३ तथाकथित पिप्पली गुहा पत्थरों का एक आयताकार स्तूप राजगिर। यह प्रसानक चैत्य है जहाँ बुद्ध ने कई बार विश्राम किया था और जिसका पाली कथा में उल्लेख है। पर यह बुद्ध से कहीं प्राचीन है और संभवतः एक आम पुरावशेष है। इसे मचान या पहरा देने तथा नगाड़े बजाने के लिए इस्तेमाल होता था इसके ठीक पीछे प्रागैतिहासिक काल की एक प्राकृतिक गुफा भी है। संभवतः यह एक पूजा-स्थल भी था।

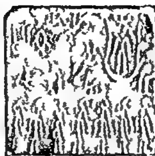


४४ मोहेंजो दड़ो के उत्खनन का विस्तृत नजारा १९२५-६।



४५ मोहेंजो-दड़ो के दुर्ग के टीले पर विशाल स्नानागार जो बाद के पुष्कर (कमलताल) का आदिरूप है।







४६ सिन्धु मुहर पर उत्कीर्ण नाव—पाल, चप्पू तथा पतवार सहित। ४७ (बीच में) सिन्धु मुहर जिसमें बलि विधान का दृश्य अंकित है। नीचे की पंक्ति में चोगा पहने जो सात व्यक्ति हैं वे संभवत मूल ब्राह्मण गोत्र संस्थापक हैं। शिरोवस्त्रों को देखते हुए इनके वृक्ष देवता होने का भी आभास मिलता है। इस दृश्य में घुटनों पुरोहित पीपल वृक्ष के बीच में स्थित तीन सींग वाले देवता की पूजा कर रहा है। इस पुरोहित के पीछे जो काल्पनिक पशु है उसके सींग बकरे के सिर मछली का शरीर मृग का और पर संभवत पंजो वाले हैं। नीचे चौकी पर जो चीज है वह छोटा करके दिखाया गया मानव मस्तक हो सकता है। ४८ सिन्धु मुहर पर अंकित वृषभ मानव जो सुमेरी एनकिदु की तरह सींगों वाला एक बाघ का वध कर रहा है।







४६ दो बाघों के गले घोंटता हुआ एक दुबला सा सिन्धु योद्धा। मेसोपोटामिया के गिलगमेश को भी इसी प्रकार व्याघ्रहन्ता के रूप में दर्शाया गया है। ५० सिन्धु मुहर पर अंकित नर व्याघ्र जो विष्णु के नरसिंह अवतार का आदिरूप है। इस मुहर पहले दो भावचित्र हैं जो अथवा खतों के सूचक हैं। ५१ (नीचे) मेसोपोटामिया से प्राप्त इस बटन नमा मुहर पर मत्स्यपुरुष और मत्स्य के पाम अंकित हैं। सिन्धु प्रदेश से इस प्रकार की कोई मुहर तो नहीं मिली है परन्तु भारत में इस अवधारणा का विकास विष्णु के मत्स्य अवतार के रूप में हुआ।





५२ (बायें) बेलनाकार मुहर सिंह और वृषभ के साथ लड़ते हुए दो दाढ़ीवाले योद्धा सुमेर अक्कद युग ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी का अंतिम चरण। ५३ बेलनाकार मुहर पंख ... चंदोवा के नीचे ... नेवाले बैल के ऊपर खड़ी नग्न देवी संभवत इश्तर। नजदीक की एक आकृति मिस्री परिधान में ... ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी का मध्यकाल। यहाँ प्रस्तुत नग्न देवी वेदों में वर्णित उषस् से मेल ...



५४ बलनाकार मु०र लड़त हुए योद्ध और विह्। सुमेरी प्रारंभिक राजवंशीय, काल ईसा पूर्व तीसर सहस्रा ब्दी का मध्य काल।

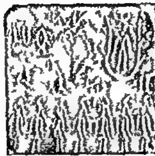


५५ ई० पू० ३२६ मे सिक दर के पंजाब अभियान और पुरु की पराजय का स्मृति स्मारक पदक। बबीलोन से (?)



५६ (दायें) महान सिकंदर का समकालीन भारतीय राजा सोफिती (सौभूति)। इस राजा के सिक्के यूनानी कला के हैं और इन पर यूनानी मे हैं।

५७ (बायें) प्यूकलाओती (पुष्करावती) का चांदी का सिक्का निम्न काबुल घाटी से। इस पर अंकित लेख है पखलावदी देवद अ ओ—पुष्करावती की देवता। यहां की मान्य देवी टाइकी का कमलधारिणी देवी के रूप में दर्शाया गया है।


सिंधु मुहर पर उत्कीर्ण नाव—पाल मस्तूल तथा पतवार सहित। ४७ (बीच में) सिंधु मुहर जिसमें बलि विधान का दृश्य अंकित है। नीचे की पंक्ति में चोग पहने जो सात व्यक्ति हैं वे संभवत मूल ब्राह्मण गोत्र संस्थापक हैं। शिरोवस्त्र को देखते हुए इनके वृक्ष देवता होने का भी आभास मिलता है। इस दृश्य में आठवां पुरोहित पीपल वृक्ष के बीच में स्थित तीन सींग वाले देवता की पूजा कर रहा है। इस पुरोहित के पीछे जो काल्पनिक पशु है उसके सींग बकरे के सिर मछली का शरीर मनुष्य का और पैर संभवत पंजों वाले हैं। नीचे वेदी पर जो चीज है वह छोटा करके दिखाया गया मानव मस्तक हो सकता है। ४८ सिंधु मुहर पर अंकित वृषभ मानव जो सुमेरी एनकिदु की तरह सींगोंवाले एक बाघ का वध कर रहा है।





४६ दो बाघों के गले घोंटता हुआ एक दुबला सा सिंधु योद्धा मेसोपोटामिया के गिलगमेश को भी इसी प्रकार व्याघ्रहंता के रूप में दर्शाया गया है। ५० सिंधु मुहर पर अंकित नर व्याघ्र जो विष्णु के नरसिंह अवतार का आदिरूप है। इस मुहर पर पहले दो भावचित्र हैं जो अथवा खता के सूचक हैं। ५१ (बायें) मेसोपोटामिया से प्राप्त इस बटन नुमा मुहर पर मत्स्यपुरुष और मत्स्य कन्या अंकित हैं। सिंधु प्रदेश में इस प्रकार की कोई मुहर तो नहीं मिली है परंतु भारत में इस अवधारणा का विकास विष्णु के मत्स्य अवतार के रूप में हुआ।




५२ (बायें) बेलनाकार मुहर सिंह और वृषभ के साथ लड़ते हुए दाढ़ीवाले योद्धा समय अक्कद ग ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी का अंतिम चरण। ५३ बेलनाकार मुहर पर देवों के नीचे ... रेखाले बैल के ऊपर खड़ी नग्न देवी संभवत इश्तर। नक्काश की एक आकृति सिरा पारथान में नीरिया ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी का मध्यकाल। यहां प्रस्तुत नग्न देवी वेदों में वर्णित उषस् से मेल है।



५४ बलनाकार मुहर लड़ते हुए योद्धा और सिंह। सुमेरी प्रारम्भिक राजवंशीय काल ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी का मध्य काल।



५५ ई० पू० ३२६ में सिकंदर के पंजाब अभियान और पुरु की पराजय का स्मृति स्मारक पदक। बबोलीन से (?)



५६ (दायें) महान सिकन्दर का समकालीन भारतीय राजा सोफिती (सौभूति)। इस राजा के सिक्के यूनानी ढंग के हैं और इन पर लेख भी यूनानी में हैं।



५७ (बायें) प्यूकेलाओती (पुष्करावती) का चांदी का सिक्का निम्न काबुल घाटी से। इस पर अंकित लेख है "पखलावदा देवत अम्बी—पुष्करावती की देवता। यहां नगर की भाग्य देवी टाइकी को कमलधारिणी मातृदेवी के रूप में दर्शाया गया है।



५८ पुष्कलावती के एक सिक्के का पृष्ठभाग जिस पर नगरचिह्न के रूप में डिल्लवाला वृषभ (संभवत पवित्र) अंकित है। लेख है खरोष्ठी—उसभ (वृषभ) और यूनानी—ताउरस (वृषभ)।



५९ अंतियोक प्रथम। यूनानी बाख्त्री लगभग २६१-२४७ या २४६ ई० पू०।



६० दिमित्र। यूनानी बाख्त्री।



६१ युक्रतिद। यूनानी बाख्त्री एक नये वंश का संस्थापक। दिमित्र का प्रतिद्वन्द्वी जिसे युक्रतिद ने पदच्युत किया लगभग १७५ ई० पू०।

६२ सियालकोट क राजा मिनान्दर का सिक्का लगभग १८० १६० ई० पू०। यह सिक्का पुणे के खुले बाजार मे १९४० म अठन्नी क रूप म इस्तेमाल होता हुआ खोजा गया।





६३ उत्तरी भारत भार का चाँदी का पचमार्क सिक्का सभवत उत्तर मौर्यकालीन अथवा पूर्व शुगकालीन।



६४ मथुरा के सिहशीर्षवाले लख मे उल्लिखित शक महाक्षत्रप रजुवुल का सिक्का। रजुवुल क सिक्के जो मथुरा जिले म चलत थे यूनानी राजकुमार स्त्रातो प्रथम सोतर के सिक्को क अनुकरण पर बन है।



६५ चादी क सिक्क पर महाराष्ट्र क शक-क्षत्रप नहपान का चहरा। नहपान की राजधानी नासिक या उसक आस पास थी। तिथियाँ अनिश्चित परन्तु ११६ १२४ ई क लेखो म उसक उल्लेख मिलते हैं।



६६ सातवाहन कुमार चाँदी का सिक्का। सातवाहनो ने १२६ ई० क आसपास पश्चिमी दक्खन पर पुन विजय प्राप्त की और उनक राजकुमार नहपान क सिक्को को पुन आहत करके इस्तेमाल मे लाते रहे। इस सिक्क का राजकुमार अज्ञात है।

६७ शक क्षत्रप और मालवा का महाक्षत्रप चष्टन जिसकी राजधानी उज्जैन में थी लगभग १२४ ई० से लगभग १५० ई० । खास बात यह है कि उसके अधिकांश सिक्कों के पृष्ठभागों पर भी चैत्य का चिह्न देखने को मिलता है। इसमें सम्भवत आन्ध्र वंश के सिक्कों का अनुकरण हुआ है क्योंकि उनके सिक्कों पर चैत्य वृक्ष और वेदिका के साथ सुस्पष्ट है। पश्चिमोत्तर और तक्षशिला के कुछ सिक्कों पर भी चैत्य देखने को मिलता है। चष्टन के उत्तराधिकारियों के सिक्कों के पृष्ठभाग का यह [illegible] मानक चिह्न बन गया।





६८ मालवा के [illegible] क्षत्रप दमजदश्रि प्रथम का चान्दी का सिक्का लगभग १५० ई से लगभग १७८ ई० ।



६९ दमजदश्रि का पुत्र शक महाक्षत्रप जीवदामन लगभग १७८ १९८ ई० ।



७० दमजदश्रि का भाई शक क्षत्रप रुद्रसिंह प्रथम १८ १९६ या १९७ ई० । उसके पूर्णत तिथियुक्त सिक्के जीवदामन के साथ सत्ता के लिए उसके संघर्ष के प्रमाण हैं

७१ कनिष्क प्रथम, कुषाण राजा, लगभग १२० ई० से लगभग १४४ ई० ।





७२ कुषाण राजा हुविष्क लगभग १५०-१६२ ई० ।

७३ यदुवंशी कृष्ण को वास्तविक या काल्पनिक रूप में अपना पूर्वपुरुष मानने वाले वृष्णि कबीले का एकमात्र ज्ञात सिक्का (चांदी), पूर्वी पंजाब से । इस सिक्के में स्तम्भ शीर्ष में हाथी और सिंह को संयुक्त रूप में दर्शाया गया है । होशियारपुर, पंजाब से ईसा की तीसरी सदी ।





७४ सोने के सिक्के पर चन्द्रगुप्त प्रथम और उसकी पत्नी लिच्छविकुमारी कुमारदेवी । गुप्त, लगभग ३२० से लगभग ३३० ई० ।



७५ बाणाधारी समुद्रगुप्त। गुप्त लगभग ३३० से लगभग ३८० ई०।



७६ चन्द्रगुप्त द्वितीय। धनुर्धारी अंकित सोने का सिक्का। गुप्त लगभग ३८० से लगभग ४१५ ई०।



७७ सोने का सिक्का जिस पर अश्वारोही कुमारगुप्त प्रथम को गैंडे का शिकार करते हुए दिखाया गया है। यह सिक्का उस विख्यात घटना की स्मृति में जारी किया गया था जिसमें कुमारगुप्त ने गैंडे के सींग का अग्रभाग तो काट डाला था परन्तु उस पशु की जान बख्शी थी। गुप्त लगभग ४१५ से लगभग ४५५ ई०।



७८ माम नंदन का चाँदी का सिक्का जिस पर एक ध्वजधारी साम ना घुड़सवार का दिखाया गया है।



८० स्तूप की वेदिका का भाग लाल बलुआ पत्थर । भारहुत मध्य प्रदेश, शुंगकाल ईसा पूर्व दूसरी स । ।

८१ सावत्थी का सबसे धनी श्रेष्ठी अनाथपिंडिक बुद्ध के विश्राम के लिए नगर के बाहर का जेतवनाराम खरीद रहा है । अनाथपिंडिक के सेवक भूमि को पचमार्क सिक्कों से ढक रहे हैं राजकुमार जेत अपनी जमीन देना नहीं चाहता था इसलिए इसी से उसने यह शर्त रखी थी । केंद्र भाग में राजकुमार जेत बुद्ध को दान-तर्पण करते हुए यहाँ बुद्ध को वेदिका से घिरे हुए कवल एवं वृक्ष द्वारा सूचित किया गया है । बलुआ पत्थर पर उत्कीर्ण भारहुत से ईसा पूर्व दूसरी स । ।





८४ (बायें) दो हाथियों द्वारा प्रक्षालित कमलासन पर बैठी बुद्ध की माता मायादेवी। बाद में इसी विषय को गजलक्ष्मी (विष्णु नारायण की पत्नी लक्ष्मी) मान लिया गया। सांची के विशाल स्तूप के तोरण द्वार से।

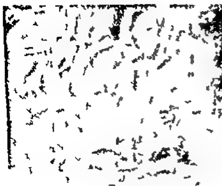
८५ नालगिरि नामक मदोन्मत्त हाथी को वश में करते हुए बुद्ध। कथानक यह है कि राजगिर की सड़कों पर लोगों को कुचलता हुआ नालगिरि हाथी बुद्ध की सौम्य फटकार और करुणापूर्ण म[illegible] शान्त हुआ नालगिरि। अभिचित्रित फलक, अमरावती से ईसा की दूसरी सदी।



८६ कार्ले के चैत्य गुफा का भीतरी भाग। महराब की लकड़ी की कड़ियाँ जिन्हें पहले रंग दिया हुआ था महज अलंकरण के लिए थीं। रेडियो कार्बन विधि से इस लकड़ी के लिए तिथि निर्धारित हुई है— २८० ई०पू० जिसमें मात्रा पीछा १६० वर्षों का है यह तिथि अनुमान से काफी पुरानी निकली।



८८ (बायें) कार्ले की चैत्य गुफा के मध्यभाग से दूर ओर लगभग पूर्ण अंधकार में छिपा हुआ दायीं ओर के १३वें स्तम्भ का शीर्षभाग। स्त्री तो घोड़े पर सवार है परन्तु पुरुष स्फिंक्स पर बैठा है। यह स्तम्भ धनकाकट के एक बौद्ध भारतीय नामधारी यवन ध्वजिन धम्मय ने गढ़वाया था। ये सभी स्तम्भ एक ही प्रकार के नहीं हैं वरन् समय समय पर उपलब्ध विशिष्ट दान से कई सदियों में निर्मित हुए हैं यह स्तम्भ ईसा की पहली शताब्दी के मध्य अथवा सम्भवतः कुछ बाद के काल तक का हो सकता है। गुफा के बाहर का चैत्य मंडप अथवा विहार के भाग

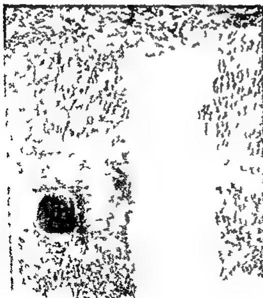




१ [illegible] राजा [illegible] की [illegible] गुफा में एक ग्रामीण [illegible] के पास पर किन्नर। सम्भवतः [illegible] पूर्व पत्नी [illegible]।



८७ कार्ले की चैत्य गुफा [illegible] पीप। इस पर देखिए प्रणयरत युगल—गृहस्थ जीवन त्यागकर अरण्यवासी बने हुए ब्रह्म-चारी भिक्षु समुदाय के लिए सचमुच ही एक विचित्र अलंकरण।



६३ एक बौद्ध गुफा विहार की कोठरी [illegible] ईसा की पहली शती (?)। द्वार में लकड़ी के ठाम किवाड़ों को धारण करने के लिए [illegible] और ताले [illegible] भी है जिसमें से जंजीर [illegible] ली जाती थी। जालीदार खिड़की की भी व्यवस्था था।



६६. मिथुन युगल, कार्ले ।

८० मार की सेना के दानव। स स नीचे की पंक्ति के सैनिकों के कवच यूनानी-रोमन पद्धति के हैं बायीं ओर के व्यक्ति के उरस्त्राण के पल्ले उलट गये हैं जिससे पता चलता है कि भारतीय सैनिकों में इन कवचों का अधिक प्रचलन नहीं था और आमतौर पर शिल्पियों को इनकी जानकारी नहीं थी। गंधार ईसा की तीसरी चौथी सदियाँ।



८१ (नाग) कालिय का ... गया १ क म र पर विष्वतराश। दाहिए ... के साथ प्रणयरत क्षत्रिय का ... । ईसा पूर्व दूसरी स ।



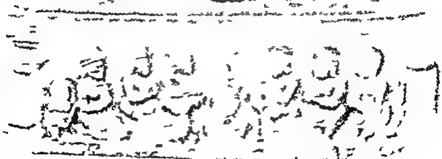




६६ महिषासुर का संहार करती हुई दुर्गा, मामल्लपुरम् ईसा की सातवीं सदी का पूर्वार्द्ध ।

उसने एक
उलझन मे
था और
राजा को
दर क या
नाम भी
रन्तु इस
पसेनदि
ी जाति
ाकी के

उत्तरा
पुत्र का
नापति'
राजा
न को
थी।
सेनदि
थी,
उच्च
स्कृत
रण
वि
या
ही
ना
द्र
।



८८ धर्मचक्रप्रवर्तन में बुद्ध चुनार पत्थर सारनाथ ईसा की पाँचवीं सदी।

दावा उसके समय में और उसके देश म ही नही माना गया। जब उसने एक शाक्य-कन्या से विवाह करना चाहा, तो उसकी इस माँग से शाक्य उलझन में पड गये, यद्यपि उनके जीवन-मरण का मामला पसेनदि के अधिकार म था और शाक्य भी अपने को राजा इक्ष्वाकु के वशज मानते थे। आखिर उन्होंने राजा को धोखा ही दिया—महानाम शाक्य की नागमुण्डा दासी से पैदा हुई सुदर कन्या वासभ-खत्तिया को उन्होंने पसेनदि के पास भेज दिया। नागमुण्डा नाम भी आदिवासी-जन्म का सूचक है। बाद में इस धोखे का भण्डाफोड हुआ, परन्तु इस विवाह से पैदा हुआ पुत्र, विडूडभ, राज्य का उत्तराधिकारी बना रहा। पसेनदि की पटरानी मल्लिका एक माली की पुत्री थी, अर्थात् शास्त्रत एक नीची जाति की कन्या। परन्तु उस समय पूर्वी प्रदेश म कुछ ब्राह्मणो को छोडकर, बाकी के लिए जाति-व्यवस्था बहुत कठोर नही थी।

पसेनदि ने बिम्बिसार से एक और कदम आगे बढकर अपने पुत्र एव उत्तराधिकारी को एक नये पद 'सेनापति' से विभूषित किया, उसके इस पुत्र का उल्लेख हमेशा विडूडभ-सेनापति के रूप म ही हुआ है। उसके पहले 'सेनापति' का कही कोई उल्लेख नही मिलता। पूववर्ती कबीलो के मुखिया की भाँति राजा ही सेना का नतृत्व और सचालन करता था। परन्तु पसेनदि ने मल्ल-बन्धुल को सेनापति बनाया था और कोसल की सेना लगभग उसी के पूर्ण अधिकार मे थी। किन्तु राजा को जब शक हुआ कि वह राजसत्ता हथियाना चाहता है तो पसेनदि के आदेश से धोखा देकर उसे मार डाला गया। यहा राजा ने बडी गलती की थी, विशेषत इसलिए कि बन्धुल का भाजा दीघ-कारायण अभी भी उसका एक उच्च पदस्थ मन्त्री था। यह मन्त्री निस्सन्देह राजतन्त्र का वही पण्डित है जिसे सस्कृत म दीघ-चारायण कहा गया है। (उच्चारण परिवतन के ऐसे और भी उदाहरण मिलत हैं, जसे, असोक की रानी चारुवाची के लिए कालुवाकी, कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने अपने बौद्ध प्रबन्ध-काव्य अवदानकल्पलता म चारायण नाम ही दिया है।) परन्तु कुछ समय तक कोसल या मगध ने एक दूसरे को युद्ध के लिए नहीं उकसाया। दोनो ही राजा अनाक्रामक प्रवृत्ति के थे, दोनो नये धर्मोपदेशको का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत कर रहे थे। जानकारी मिलती है कि दोनो ही राजा बुद्ध के घनिष्ठ मित्र और प्रशसक थे, परन्तु इन्होने उस समय के प्रमुख सम्प्रदायो की भी, कुछ वैदिक ब्राह्मणो की भी उदारतापूर्वक सहायता की। दोनो म वैवाहिक सम्बन्ध भी थे पसेनदि की बहन बिम्बिसार की अग्रमहिषी थी और कुछ उल्लेखो से पता चलता है कि पसेनदि की पुत्री बिम्बिसार के पुत्र को ब्याही थी। किन्तु दोनो की सेनाएँ जगली आदिवासियो और सम्भवत छोटे आय कबीलो के विरुद्ध अभियान म लगातार जुटी रहती थी। युद्ध मे विजय के लिए दोनो राजाओ ने खर्चीले यज्ञ किये थे। यह पहले ही बताया जा चुका है कि दोनो ने

पुरोहितो को अग्रहार के रूप मे पूरे-के-पूरे गाँव दे डाले थे। इस बात का भी सजीव वर्णन मिलता है कि राजकीय यज्ञो के लिए, बिना मूल्य चुकाये, जब अनगिनत पशुओ की माग की जाती तो किसान कितने व्याकुल और दुखी हो जाते थे। इस प्रकार, उस समय के ये अग्रणी राजा वैदिक कुप्रथाओ से अभी पूरी तरह मुक्त नही थे, यद्यपि नये वर्ग-समाज के लिए इन प्रथाओ की कोई उपयोगिता नही थी।

अवश्यम्भावी संघर्ष की ओर पहला कदम बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने उठाया। इस राजकुमार ने निश्चय ही राजतन्त्र के किसी अज्ञातनाम पण्डित की सलाह से, अपने ही पिता को बन्दी बनाया और अन्त मे भले और वयोवृद्ध बिम्बिसार को कारावास मे ही भूखा मार डाला। बौद्ध यद्यपि इस पितृहत्या से काँप उठते थे, फिर भी उन्होने स्वीकार किया है कि अजातशत्रु एक न्यायप्रिय और योग्य शासक था, हमने बताया है कि एक प्रमुख उपनिषद मे उसे एक दार्शनिक राजा के रूप मे पेश किया गया है। पसेनदि चाहता था कि जिस कासी जनपद को उसने बहिन के दहेज मे दान दिया था, उसका एक गाँव उसे वापस मिल जाये। परन्तु वह गाँव इतना महत्त्वपूर्ण था कि अजातशत्रु के लिए उसे लौटा देना सम्भव नही था, क्योकि नदी के परे मगध के लिए वह मोरचे के एक ऐसे स्थल पर था जहा से गगा की ओर व्यापार-मार्ग की एक शाखा की नाके बन्दी की जा सकती थी। कई युद्ध हुए, सभी मे अजातशत्रु की विजय हुई और कासी जनपद पर मगध का अधिकार बरकरार रहा। कोसल पक्ष भी प्रत्युत्तर मे पीछे नही रहा। महामन्त्री दीघ-कारायण के पास जो राजमुद्रा थी वह उसने विडूडभ को सौंप दी। सेना पहले से ही विडूडभ के अधिकार मे थी, अब उसे बाकायदा राजा बना दिया गया। बूढा पसेनदि, जिसका एक दासी के अलावा अब और कोई साथी नही था, शरण लेने अपने भाजे के पास भागा। राजा जब

चित्र १० मगध की मुद्रा प्रणाली के चाँदी के आहत सिक्के, सम्भवत अजातशत्रु के, लगभग ४८० ई० पूर्व। यह पाच चिह्नो की प्रणाली थी और चाँदी के नये सिक्के का तौल करीब ५४ ग्रेन होता था। पूरा कार्षापण एक ऐसी तौल प्रणाली पर आधारित था जिसका मूल सिन्धु सभ्यता मे तो मिलता है परन्तु भारत से बाहर अन्यत्र कही नही।

राजगिर पहुँचा तो रात हो चुकी थी और सभी नगर द्वार बन्द थे। सुबह द्वार खुलने के पहले ही, थकान के कारण, नगर की दीवार के बाहर पसेनदि की मृत्यु हो चुकी थी। अजातशत्रु ने अपने मामा के शव का राजसी ढग से अन्तिम

सस्कार किया और उसके वाद उसने अपने को कोसल के सिंहासन का दावेदार घोषित किया।

परन्तु इस दावे को तुरत पूरा कर दिखाना सम्भव नही था। न केवल विडूडभ को, बल्कि मल्ल और लिच्छवि-जैसे स्वतन्त्र एव शक्तिशाली कबीलो को भी कुचलना जरूरी था। किसी भी राजा की प्रगति के लिए ऐसे कबीले अपेक्षतया अधिक खतरनाक थे, क्योकि अब भी ये जनतत्र को चला रहे थे और बहुत बडी सनिक बाधा थे। विडूडभ ने भी इसी रास्ते पर चलते हुए शाक्यो का कत्लेआम कर डाला। प्रकट रूप से तो उसने यह सब अपने जन्म-सम्बधी अपमान का बदला लेने के लिए किया था, परतु वास्तव मे उसकी यह चाल उत्तरापथ को स्वतत्र कबीलो से मुक्त कराने की उसकी एक व्यापक योजना का अग थी। लिच्छवियो ने इस समय तक उत्तर की ओर से गगा तक अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार कर लिया था और वह समूचे नदी व्यापार से चुगी वसूल करते थे। इस दोहरी वसूली के कारण व्यापारी बडे क्षुब्ध थे, क्योकि मगध का राजा भी नदी पर अपना पूरा अधिकार जताकर चुगी वसूलता था। इसलिए गगा, गण्डक और सोन के त्रिवेणी-सगम पर, जहा पाटलिग्राम (पटना) था, एक मजबूत लकडकोट उभारा गया (ईसा की पन्द्रहवी सदी तक सोन नदी गगा से इसी स्थान पर मिलती थी)। बुद्ध जब अपनी अतिम यात्रा म इस स्थान से गुजरे तो उस समय यह लकडकोट उभारा जा रहा था। कहा जाता है कि इस स्थान के उज्ज्वल भविष्य के बारे मे बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी, जो सौ साल बाद, जब पटना को मगध की राजधानी बनाया गया, सत्य साबित हुई, शासन की नयी आवश्यकताओ के लिए अब राजगिर उपयुक्त स्थान नही रह गया था। लिच्छवियो ने अजातशत्रु की इस चाल के जवाब म मल्लो के साथ एक व्यावहारिक समझौता कर लिया। परन्तु लिच्छवि कबीले और वज्जी सघ की एकता को एक ऐसी सुनियोजित चाल द्वारा भीतर से तोड दिया गया, जिसका सूक्ष्म वणन मगधीय राजतत्र के महान् ग्रथ (कौटल्य के अथशास्त्र) म मिलता है। अजातशत्रु का एक ब्राह्मण-मत्री अपमानित तथा अपदस्थ किये जान का ढोग रचकर लिच्छवियो के पास पहुँचा (दारयवहु प्रथम का मत्री जोपीरस भी इसी प्रकार बेबीलोनिया के पास पहुँचा था)। यद्यपि लिच्छवियो और मल्लो के कबीलो म कोई ब्राह्मण नही था और उनम किसी नात वैदिक प्रथा का भी प्रचलन नही था, फिर भी अतिथि के पद, उसकी प्रतिष्ठा और मगधराज के इरादो के बारे मे उसकी कथित जानकारी के कारण लिच्छवियो ने उसका स्वागत किया। इस विश्वास का लाभ उठाकर उसने लिच्छवि कुलीनो मे फूट डाल दी, प्रत्येक लिच्छवि को अपने निर्धारित हिस्से स अधिक माँग के लिए उकसाया और ऐसा जाल रचा कि लिच्छवि अपने कबील की सभाओ, सामूहिक सनिक अभ्यास और कबीले की न्याय-परिषदो की उपेक्षा

करने लगे। इस प्रकार 'भीतर से सेंध लगाना' सम्भव न होता यदि लिच्छवि कबीला भीतर ही भीतर काफी खोखला न हुआ होता, जिसका कारण यह था कि भेंट व कर के रूप में जो धन एकत्र होता था, उसे कुलीन अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में रखने लगे थे। अजातशत्रु के दूत के आगमन के पहले ही लिच्छवियों का आंतरिक विघटन शुरू हो गया था, यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि लिच्छवियों में से ही महावीर जैसे एक असाधारण धर्मोपदेशक का उदय हुआ, और, बंधुल तथा चारायण जैसे मल्लों के अपने कबीले को छोडकर दूसरे की सेवा में चले जाने से भी यही बात प्रमाणित होती है। श्रेष्ठतम स्वतंत्र कबीले का जीवन भी अब कबीले के योग्यतम व्यक्तियों को पूरा संतोष नहीं दे पाता था। अंत में हालत इतनी बिगड गयी कि लिच्छवि अपनी कबीलाई परिषद और कबीलाई गतिविधियों में भी नियमित रूप से भाग नहीं लेते थे। तब गुप्तचर ने अजातशत्रु को सूचना भेजी। अजातशत्रु ने अचानक चढाई करके विसगठित शत्रुओं पर आसानी से विजय प्राप्त की। मल्लों को अंत में किस प्रकार पराजित किया गया, इसका कोई विवरण नहीं मिलता, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि लिच्छवियों के तुरंत बाद ही मल्लों का भी नाश हुआ। यह विनाश इतना सर्वांगीण था कि 'मल्ल' शब्द का केवल एक ही अर्थ शेष रहा— 'पहलवान' अथवा कसरत-करतब दिखानेवाला, क्योंकि मल्ल कबीले के लोगों को आरम्भ में शारीरिक कसरत का बडा शौक था। पश्चिम के एक मल्ल कबीले का, जिसका गंगा की घाटी के मल्लों से कोई सम्बन्ध रहा हो या न रहा हो, करीब १५० साल बाद सिकन्दर की सेना ने मध्य सिन्धु के तट पर संहार कर डाला। किन्तु कुछ लिच्छवि अजातशत्रु के अभियान के बाद भी बचे रहे। इससे जाहिर होता है कि युद्ध कबीले के लोगों का नाम निशान मिटाने के लिए नहीं, बल्कि उनकी कबीलाई जीवन पद्धति को नष्ट करने के लिए हुआ था। मगध के उस 'धूर्त' ब्राह्मण मन्त्री का उल्लेख उसके वस्सकार (वश में करनेवाला) उपनाम से ही मिलता है जो उसके एक अद्भुत षड्यन्त्रकारी होने का सूचक है। वह निस्सन्देह राजतंत्र का एक महान् भूतपूर्व पण्डित था, जिसकी मान्यताएं और नीतियां, उसके अज्ञात वास्तविक नाम से, अर्थशास्त्र में अवश्य ही उद्धृत होंगी।

एक अप्रत्याशित सयोग से कोसल की समस्या भी मगध के हित में सुलझ गयी। विडूडभ इतना लापरवाह था कि उसने राप्ती (अचिरवती) नदी के सूखे वालुका पात्र में ही अपनी सेना की छावनी डाली। लेकिन उसी समय ऊपर कहीं मूसलधार वर्षा हुई नदी में यकायक भयकर बाढ आयी, जिसमें सारी कोसल-सेना बह गयी। इसे शाक्यों के संहार का बदला माना गया। इसके बाद कोसल के सिंहासन पर अजातशत्रु के दावे का प्रतिरोध करने के लिए न कोई राजा बचा,

न थाई सेना।

इन सब घटनाओं से यह कल्पना करना ठीक न होगा कि उपलब्ध सामग्री में कोई सुसम्बद्ध ऐतिहासिक विवरण मिलता है। इसके लिए सर्वप्रथम कई सारी कथाओं और आख्यानों से अंश चुनने पड़ते हैं और तब उन्हें एक सम्भाव्य क्रम में जोड़ना पड़ता है। ग्राम्य जीवन का कहीं कोई वर्णन नहीं मिलता, न ही किसी युद्ध या अभियान का। हम यह भी नहीं जानते कि अजातशत्रु का शासन कितनी दूर तक फैला, इतना निश्चित है कि उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए अभी बहुत-कुछ करने को छोड़ा था। एक प्रासंगिक उल्लेख मिलता है कि अवन्ती का राजा प्रद्योत मगध पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था, इसलिए अजातशत्रु के महामात्य वस्सकार और सुनीध ने राजधानी राजगिर की फिर से किलेबन्दी की। अवन्ती राज्य समृद्ध और शक्तिशाली था—सोलह महाजनपदों में से एक, उसकी राजधानी दक्षिणापथ पर उज्जैन में थी। अन्त में मगध का इस पर अधिकार हो गया, परन्तु यह किस राजा के काल में हुआ, इस बात की जानकारी नहीं मिलती। सोलह जनपदों में एक वत्स (वंस) भी था, जिसकी राजधानी यमुना-तट पर कौसम्बी में थी। वत्सराज उदयन की उज्जैन के साथ दीर्घकालीन शत्रुता सुविदित है, यह उस मनोरम प्रेमकथा-चक्र के नायक के रूप में भी प्रसिद्ध है जिसमें उसकी रूपवती रानी वासवदत्ता की विशेष भूमिका थी। परन्तु ये सारी कथाएँ इस बात की कोई जानकारी नहीं देतीं कि वत्स राज्य का अन्त कब हुआ या मगध का इस पर कब अधिकार हुआ। कुरु, शूरसेन और मत्स्य (सम्भवतः ऋग्वैदिक दाशराज्ञ युद्ध में भाग लेनेवाले मत्स्यों के वंशज), सभी कबीलाई राज्य थे और सोलह जनपदों में इनका समावेश था। ईसा पूर्व चौथी सदी के अनन्तर इनका कोई अस्तित्व नहीं रहा, यद्यपि मथुरा के शूरसेनों की ख्याति यूनानियों तक पहुँची थी।

अधिक-से अधिक ४७० ई० पू० तक और कम से-कम इससे साठ साल पहले तक (प्राचीन भारतीय कालगणना में इतनी निश्चित तिथि आश्चर्यकारी है!) गंगा की घाटी में मगध का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, परन्तु अभी एक सर्वोच्च सत्ता के रूप में नहीं। निरंकुश राजतन्त्र, विपुल खनिज भण्डारों पर पूर्ण नियन्त्रण और दोनों प्रमुख व्यापारिक मार्गों के उत्तर पूर्वी सिरों पर आधिपत्य होने के बावजूद मगध के सामने एक और भारी कार्य था घने जंगलों को साफ करके अधिकाधिक भूमि को नियमित कृषि योग्य बनाना। कोई बड़ा सैनिक प्रतिद्वन्द्वी तो नहीं रह गया था, परन्तु कई छोटे कबीलों को वश में करना अब भी बाकी था। आक्रमणों के सिलसिले को तब तक रोका नहीं जा सकता था जब तक 'सम्पूर्ण पृथ्वी'—जिससे भारतीयों का आशय था सम्पूर्ण देश'—उत्तर के हिम पर्वतों से लेकर 'चार महासागरों' तक, एक शासन के अन्तर्गत न आ जाये।

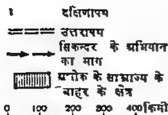
इस 'प्रकट नियति' की पूर्ति मे दो और सदियो का समय लगा। तब एक नितान्त नयी समस्या सामने आयी जिस राज्य के नागरिको ने एक विशिष्ट शालीन नैतिक सहिता के अनुसार जीवन-यापन शुरू कर दिया हो, वह राज्य तमाम नियम और नैतिकता का कब तक बेरहमी से उल्लघन करता रह सकता है? इस बाह्य असगति की बुनियाद मे आर्थिक वास्तविकता थी—राज्य और व्यापारी के बीच हितो का सघर्ष, व्यक्तिगत उद्योग और राज्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में होनेवाले उत्पादन के बीच हितो का सघर्ष। कृषि-समाज मे सक्रमण की पुरानी समस्या इतनी पूर्ण रूप से सुलझ चुकी थी कि लोग भूल भी चुके थे कि इतिहास म इसका कभी कोई अस्तित्व रहा है।

छठा अध्याय

वृहत्तर मगध मे राज्य और धर्म

६ १ मगधीय विजय की पूर्णता

भारतीय पुरातत्ववेत्ता ईसा पूव की पाचवी और चौथी सदियो को उत्तरी ओपदार काले भाण्ड (N B P) की प्रचुरता के युग के रूप मे पहचानते है। ये बढिया किस्म के मत्भाण्ड थे और पहले-पहल ईसा पूव छठी सदी के दरम्यान इह व्यापार के लिए (सम्भवत मदिरा और तेलो को रखने के लिए) बनाया गया था। ईसा की एक या दो सदी पहले इनका प्रचलन बन्द हो गया। ईसा पूव पाचवी और चौथी सदिया के काल का कोई साहित्य, लेखा-जोखा अथवा तिथियुक्त शिलालेख नही मिलता, परन्तु ३२७ ई० पू० मे पजाव पर सिकन्दर का हमला पहली बार एक निश्चित ऐतिहासिक तिथि की जानकारी देता है। यह हमला, जिसका भारतीय जीवन, संस्कृति या इतिहास पर कोई स्थायी प्रभाव नही पडा, हवालो का एक अत्यन्त महत्त्वपूण चौखटा प्रस्तुत करता है—यूनानियो द्वारा अपनी समझ के अनुसार लिखे गये भारतीय परिस्थिति के विवरणो के रूप म। यह सदैव ध्यान म रखना जरूरी है कि यूनानी पयवेक्षको की दृष्टि मे, अन्य अधिकाश विदेशियो के लिए भी, भारत एक अद्भुत देश था, एक प्रकार का कल्पनालोक था। यहाँ पालतू हाथी जैसे अद्भुत और भीमकाय पशु थे। यहाँ पेडा पर ऊन उगता था (कपास)। यहा विशालकाय सरकण्डे थे (बाँस), और इस देश मे ऐसा सफेद रवा बनता था जो शहद से भी अधिक मीठा होता था—शक्कर। यहाँ की नदिया के विशाल पात्र (नील नदी की तुलना म भी), तेज धारा, अनात लम्बाई और अगम गहराई ने यूनानिया को बडा प्रभावित किया, क्योकि वे ऐसी नदियो के तट पर रहते थे जिन्हें भारतीय लोग नाले ही समझते। अल्प परिश्रम से ही यहाँ की भूमि चमत्कारिक ढग से


दक्षिणापथ
उत्तरापथ
सिकन्दर के अभियान का मार्ग
अशोक के साम्राज्य के बाहर के क्षेत्र
0 100 200 300 400 किमी
पुष्कलावती
तक्षशिला
काबुल
खैबर दर्रा
अलेक्जेंड्रिया अरखोतन
(कंदहार)
क्वेटा
कुरुक्षेत्र
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
मथुरा
यमुना
पत्तल
भिलसा
उज्जैन
माहेश्वर
भरुकच्छ
(भड़ौच)
ताप्ती
पैठण
गोदावरी
नेवासा
कृष्णा
ब्रह्मगिरि

मौर्य साम्राज्य



का हमला

माल मे दो या तीन भारी फसलें उगाती थी, जब कि जी-तोड मेहनत करने पर भी यूनान की पहाडी ढलानवाली पथरीली भूमि एक ही फसल देती थी। उन्हे यह बात भी बडी आश्चयजनक लगती थी कि भारतीय लोग क्रीतदासो के बिना ही अपना काम भलीभाँति कर लेते हैं, जब कि अफलातून (प्लेटो) जसा उदात्त दार्शनिक कल्पना भी नही कर पाया कि इस व्यवस्था के बिना किसी नगर राज्य का व्यवहार चल सकता है। सबसे बडा वैषम्य यह था कि, जहा यूनान के नाग रिक जीवन मे धोखेबाजी और लम्बी मुकदमेबाजी का बोलबाला था, वहा भारतीय लोग जबानी समझौते का, बिना किसी लिखित, हस्ताक्षरित और साक्षीकृत अनुबन्ध के, पूरी तरह पालन करते थे। अरियन लिखता है—"पर सचमुच, किसी भी भारतीय को झूठ बोलते नही देखा गया!" इसलिए इस यूनानी सामग्री का इस्तेमाल बडी सावधानी से करना चाहिए। दिओदोरस सिकुलस्-जैसा दार्शनिक भी धोखा खा गया जब वह ऐसे उदाहरणो की खोज कर रहा था, जिनके आधार पर एक आदश समाज की रचना की जा सके, तो उसने एक यूनानी यात्री के शब्दो का गलत अथ लगाया। यूनानी, जो आमतौर पर सन्देहवादी थे, भारत से सम्बन्धित प्राय हर बात पर यकीन कर लेत थे।

लगभग ५१८ ई० पू० मे दारयवहु (डेरियस)-प्रथम की विजय के बाद सिन्धु नदी के पश्चिम का प्रदेश ईरानी साम्राज्य का बीसवा प्रान्त बन गया था। हखामनि साम्राज्य का यह सबसे लाभप्रद प्रान्त था। हिरोदोतस के अनुसार, स्वण धूलि के रूप मे यहाँ का वार्षिक खिराज ३६० टैलण्ट था, यानी लगभग नौ टन। यह विस्मयकारक स्वण निधि ऊपरी सिन्धु की बालू से धावन द्वारा और तिब्बत या कश्मीर की उच्चभूमि से क्षोभ-प्रक्षालन द्वारा प्राप्त की जाती थी। इस प्रान्त और आसपास के क्षेत्र का ऊन और बढिया ऊनी कपडा भारत म भी प्रसिद्ध था। क्षयाष की सेना मे इस क्षेत्र के सैनिको की कुछ टुकडियाँ थी और इन्होने लडाइया मे हिस्सा लिया था, इसलिए सिकन्दर के बहुत पहले से यूनानी लोग भारत के बारे मे जानते थ। इस प्रान्त का मुख्य व्यापारी नगर था पुष्कलावती, आधुनिक चारसद्दा जिसे यूनानियो ने 'पुकलाओती' कहा है। इस नाम का अथ है 'कृत्रिम कमल-ताल वाला' यानी पुष्कर, जिसका मूल हमने सिन्धु सभ्यता म खोजा है। इस नगर का सिफ एक सिक्का मिला है (देखिए प्लेट ५७ ५८), जा इन्दो यूनानी काल व बनावट का है और इसके एक ओर शानदार ककुदमान वृषभ अंकित है और दूसरी ओर पुष्कलावती की मातृदवी अम्बी को एक हाथ म कमल धारण किये हुए दिखाया गया है। गन्धार के कबीलाई जनपद का एक हिस्सा सिन्धु नदी के पूव म भी था, तक्षशिला का प्रख्यात सास्कृतिक एव व्यापारी केन्द्र इसी हिस्से म था। तक्षशिला स प्राप्त आहत सिक्का की निधिया से प्रकट हाता है कि सिकन्दर के समय मे इस उत्तर

पश्चिमी सीमान्त प्रदेश मे भी मगध की मुद्रा का ही सर्वाधिक प्रचलन था। इस प्रकार के सबसे अधिक और सबसे बढिया बनावट के जो सिक्के मिले हैं, वे अजातशत्रु के उत्तराधिकारियो के समय के हैं। अत (सिक्को की इन निधियो के अध्ययन से) निष्कर्ष निकलता है कि ईसा पूर्व पाचवी सदी के अवसान-काल से समूचे उत्तरापथ के व्यापार पर मगध का प्रभुत्व स्थापित होने लगा था।

सिकन्दर के लिए यह जरूरी था कि वह सम्पूर्ण हखामनि साम्राज्य पर, सिंधु नदी के इसके अन्तिम छोर तक, विजय प्राप्त करे। ईरान की लडाइयो म उसे आसानी से, एक के बाद एक, सफलता मिली और नदी के परे अपनी धन-सम्पदा के लिए मशहूर देश था, तो उसकी अदम्य महत्त्वाकाक्षा को उत्तेजन मिलना स्वाभाविक था। और फिर, ईरानी राजकोश से सचित समस्त सम्पत्ति से बलप्राप्त एव बेजोड सैनिक साधन भी उसके हाथ मे था। तीस दिन की घेराबन्दी के बाद चारसद्दा पर उसका अधिकार हो गया, पुरातत्त्वविदो ने चारो ओर के खन्दको की खुदाई मे इस घेराबन्दी के मुकाबले म जुटाये गये रक्षा-साधनो के अवशेषो को पहचाना है। सिंधु नदी को बिना किसी विरोध के पार करने के बाद सिकन्दर को जो सफलताएँ मिली, वे बडी उत्साहवर्धक थी। तक्षशिला के राजा आम्भी ने बिना किसी विरोध के आत्म-समर्पण कर दिया और सिकन्दर को भेंट-उपहार देते समय यह भी कह दिया कि—यहाँ दोनो के लिए पर्याप्त धन है, फिर लडाई से क्या लाभ ? तक्षशिला का वैभव—सस्कृति और धन-सम्पदा—अभी उसके घरो और नागरिक साधनो से जाहिर नही होता था। यह नगर झुग्गियो और छप्परो का लगभग वैसा ही एक दयनीय समूह था, जैसा कि उस समय सिकन्दर के मकदूनिया की राजधानी पेल्ला नगर रहा होगा। परन्तु तक्षशिला की विजय के तुरन्त बाद ही वास्तविक कठिनाइयाँ शुरू हुईं, बावजूद इसके कि सेना विश्राम कर चुकी थी रसद के लिए एक उत्तम अड्डा मिल गया था और तक्षशिलावासी अपने शक्तिशाली भारतीय पडोसियो के विरुद्ध लडने के लिए यूनानियो के पक्ष मे मिल गये थे। स्वतन्त्र कबीलाई नगरो को एक एक करके हराना पडा, सैनिक सामग्री की दृष्टि से यूनानियो की श्रेष्ठता के बावजूद प्रत्येक लडाई म जबरदस्त मुकाबला हुआ। भारतीय अब भी युद्ध मे रथो का उपयोग करते थे, परन्तु मकदूनी अश्वारोहियो के २१ फुट लम्बे बल्लमो (सरिस्स) के सामने ये रथ निकम्मे साबित हुए। सीमा प्रदेश पर सिकन्दर के हमले के बाद लडाई के मैदान म रथ का इस्तेमाल बन्द हो गया बाद म कभी-कदा किसी उच्चाधिकारी की पद-प्रतिष्ठा व्यक्त करने के लिए ही रथ का इस्तेमाल हुआ है। यूनानी सैनिक काँसे का कवच पहनते थ, धातु की सापेक्ष कमी के कारण भारतीयो को एक ढाल चमडे के उरस्त्राण और सम्भवत , धातु के शिरस्त्राण के भरोसे ही लडना पडता था। भारतीय हाथी

किसी भी पैदल सेना को भेद सकता था, बशर्ते कि उसका ठीक से संचालन हो। यह शर्त अनिवार्य थी, क्योंकि घायल हाथी भगदड़ में उतनी ही आसानी से अपने पक्ष के आदमियों को कुचल सकता है, जितनी आसानी से शत्रु-पक्ष के। साथ ही, धावा बोलनेवाला हाथी जब तक शत्रुसेना में न घुस, तब तक उसके लिए अश्वारोहियों, धनुर्धरों और पदातियों का रक्षावरण जरूरी होता था। जिस एक चीज में भारतीय निश्चय ही श्रेष्ठ थे, वह थी उनका आत्मरक्षक हथियार धनुष, जिससे छोड़ा गया अचूक बाण ढाल व कवच को भेदकर यूनानी सैनिक के प्राण ले सकता था। सिकन्दर के शरीर में सबसे खतरनाक घाव ऐसे ही एक ही एक बाण से हुआ था, जो समीप से छोड़ा गया था, कवच को भेदकर उसकी एक पसली में घुस गया था और बड़ा कष्टदायी और लगभग प्राणघातक सिद्ध हुआ। भारतीय कबीले हमलावर के विरुद्ध ता एकजूट नहीं हुए, परन्तु लड़ाई का उन्हें स्वाभाविक शौक था। वे क्षत्रिय भी इनके सहायक थे जो अब वेतन पर दूसरे नगरों में चाकरी करने लगे थे। अन्त में सिकन्दर ने प्रतिरक्षा का अपना वचन तोड़ दिया ये पेशेवर टुकड़ियाँ एक पराजय के बाद जब सैनिक सम्मान के साथ लौट रही थी, तो सिकन्दर ने उन पर अचानक हमला बोल दिया और सब आदमियों का सफाया कर डाला। इस वचन भंग के लिए उसके जीवनीकारों ने उसे कभी माफ नहीं किया।

सिन्धु-समूह की दूसरी नदी, आधुनिक झेलम (यूनानियों की हिदास्प), उन पुरुओं के प्राचीन प्रदेश को घेरती थी जो वैदिक काल से उस क्षेत्र में बसे हुए थे। यहां के राजा ने, जिसे हमलावर उसके कबीलाई नाम पोरस से जानते थे, यूनानियों के विरुद्ध इतनी बड़ी सेना मैदान में उतारी कि उन्हें अपने भारतीय अभियान में पहले कभी देखने को नहीं मिली थी। सिकन्दर ने एक चाल चलकर नदी पार की और पुरु-कुलीन रथों पर चढ़कर उसका रास्ता रोकने दौड़े तो उसके अश्वारोहियों के एक ही तेज धावे ने उनका सफाया कर डाला। इसके बाद राजा पुरु के साथ मुख्य भिड़न्त हुई और पूरे दिन भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें पुरु जनों की कत्तल उड़ायी गयी और इस संघर्ष में काफी कमजोर साबित हुए उस बलशाली भारतीय राजा ने बुरी तरह घायल होने पर, बड़ी शान के साथ आत्मसमर्पण किया। प्लुटार्क ने इस मुठभेड़ के प्रभावों का बखूबी वर्णन किया है

'पर इस मुठभेड़ ने मक्दूनिया के साहस को निस्तेज कर डाला और भारत में आगे की उनकी प्रगति को रोक दिया। क्योंकि उन्होंने देख लिया था कि बीस हजार पदातियों और दो हजार अश्वारोहियों की शत्रु सेना को ही हराने में उन्हें कितनी कठिनाई हुई है। सिकन्दर गंगा पार करने की योजना बना रहा था, पर उसकी सेना इस योजना का विरोध कर रही थी

तो उसके कुछ कारण थे उसके सैनिकों को बताया गया था कि गंगा नदी दो कोस चौडी और सौ पुरसा गहरी है, कि नदी के परे बहुत-सारे शत्रु है। उन्हे बताया गया था कि गंगारिदना और प्रेसियनो (प्राच्य पूर्वीय) का राजा ८०,००० घोडा, २,००,००० पदातियों, ८००० युद्ध रथो और ६००० लडाकू हाथियो की सेना के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। यह उन्हें सिर्फ डराने के लिए फैलायी गयी झूठी अफवाह नही थी। क्योंकि सन्द्रकोत्तस् (चन्द्रगुप्त मौर्य) ने, जिसने कुछ समय बाद ही इस प्रदेश पर अपना शासन स्थापित किया था, सिल्यूकस् (सिकन्दर का सेनापति, जिसने उसकी मृत्यु के बाद यूनानी साम्राज्य के पूर्वी भाग का शासन सँभाला था) को एक ही बार म ५०० हाथी भेंट किये थे और ६,००,००० आदमियो की सेना से सारे भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था।"

इस विवरण मे गगा की गहराई तो अतिशयोक्तिपूर्ण है, परन्तु मानसून म जब बाढ आती है तो गगा मीलो तक फैल जाती है। चूकि उस समय गगा और यमुना पूर्वी उपत्यका मे भारी यातायात की प्रमुख वाहिकाएँ थी और इन पर एक प्रसरणशील एव शक्तिशाली साम्राज्य का नियन्त्रण था, इसलिए इन नदियो की रक्षा का प्रबन्ध, कबीलाई प्रतिद्वन्द्विता मे उलझे हुए पजाब की नदियो की अपेक्षा, कही बेहतर था। चाहे कितना भी महत्त्वाकाक्षी क्यो न हो, पर एक बुद्धिमान सेनापति के लिए, जिसके बागी सैनिको का लडाई से जी भर गया हो, पुरु के साथ हुआ युद्ध एक अन्तिम कडवा सबक था। सिकन्दर ने सिन्धु के पूर्व म भारतीय सीमा म एक नया प्रान्त बनवाया और उसका शासन भार पुरु को सौंपा। इसके बाद हिमालय के देवदार का एक बेडा बनाकर सिन्धु म छोडा गया और यूनानी सेना विस्मृत सिन्धु सभ्यता के प्राचीन व्यापारी-मार्ग से वापस लौटने लगी। इस समूचे जल थल मार्ग मे कबीलाई सेनाओ से लडाइयाँ हुईं और कबीलाई दुर्गो को नष्ट करना पडा, जिसमे काफी रक्तपात हुआ। तदनन्तर उस हताश विजेता ने अपनी थकी हुई सेना को ईरान से बेबीलोन तक के प्राणघातक समुद्र तटीय मार्ग से आगे बढाया परन्तु इस रेगिस्तानी रास्ते म उसकी लगभग आधी सेना नष्ट हो गयी। अन्त म, बेबीलोन म, अत्यधिक मदिरापान और मलेरिया ने इतिहास के इस एक सर्वाधिक विलक्षण सैनिक जीवन का अन्त कर दिया, परन्तु सिकन्दर धूमकेतु-जैसे अपने अल्प जीवन म ही लोककथाओ और आख्यानो का अमर नायक बन गया था।

इस आक्रमण को, जो इतना अल्पकालिक था कि इसे छापे के अलावा और कुछ नही कहा जा सकता, भारतीय परम्परा मे तनिक भी कोई महत्त्व नही दिया गया, यद्यपि एक खास विचारधारा के कुछ विदेशी इतिहासकार आज भी इसे भारतीय इतिहास की सबसे बडी घटना के रूप म प्रस्तुत करते हैं। इस घटना का

एक अप्रत्याशित और अविलम्ब परिणाम हुआ मौर्यों की सारे देश पर तेजी से विजय हो सकी। मगध की सेना को पश्चिमी पंजाब पर अधिकार करने के लिए प्रत्येक छोटे-मोटे जनपद के अदम्य कबीले से जबरदस्त युद्ध करने के कठिन कार्य से छुटकारा मिल गया। इस जटिल बाधा को मकदूनी हमले ने और यूनानियों की एक प्रथा—अधिक से-अधिक युद्धबंदियों को दास बनाकर, चाहे बेचने के लिए अथवा चाहे बड़ी सैनिक-सेवा के लिए, ले जाने की प्रथा—ने बहुत हद तक नष्ट कर दिया था। हमलावरों ने पश्चिमी पंजाब के मवेशियों को न केवल लूटा था, बल्कि उन्हें अपना आहार भी बनाया था, इसलिए हमले के बाद इस क्षति के कारण कबीलाई और पशुचारी जीवन कठिन हो गया। सिकंदर की वापसी के कोई पांच साल बाद ही पुरु को पदच्युत करके भुला दिया गया, साथ ही, वैदिक पुरु कबीला भी इतिहास से विलुप्त हो गया। चंद्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला-सहित पूरे पंजाब पर अधिकार कर लिया, अफगानिस्तान के भीतर तक का गंधार का शेष भाग उसने ३०५ ई० पू० के आसपास थोड़ी और लड़ाई लड़कर सिल्यूकस् निकेतर से छीन लिया। जानकारी मिलती है कि सिल्यूकस् और विजयी चंद्रगुप्त मौर्य के बीच वैवाहिक सम्बंध स्थापित हुआ था, इसलिए, प्लुटार्क की सूचना के अनुसार, ५०० हाथी भेंट किये गये थे। सिल्यूकस को अपने उन भूतपूर्व सहयोगी-सेनापतियों से युद्ध करने की छूट थी जिन्होंने सिकंदर के विजित साम्राज्य को आपस में बांट लिया था, परन्तु इसके बाद उसे भारत को अलग थलग करके छोड़ देना पड़ा। भारत के बारे में जिन यूनानी विवरणों का यहां बीच-बीच में उल्लेख हुआ है, वे अधिकतर पाटलिपुत्र (पटना) की राजसभा में सिल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज की सूचनाओं पर आधारित हैं। मेगास्थनीज की मूल कृति नष्ट हो गयी है, परन्तु उसके विवरण के कुछ अंश दूसरे लेखकों की पुस्तकों में आज भी देखने को मिलते हैं। बताया जाता है कि सिल्यूकस् की एक पुत्री का ब्याह चंद्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार के साथ हुआ था। यह कोई असम्भव बात नहीं है यद्यपि दो आपत्तियां उठायी गयी हैं—यूनानी विवाह के नियम और भारतीय जातिप्रथा। यूनान के सीमा प्रदेश में रहनेवाले ये मकदूनियावासी निश्चय ही उजड्ड लोग थे और अथेंस-जैसे नगर राज्यों में प्रचलित आम यूनानी कानून की कोई परवाह नहीं करते थे, दो ईरानी राजकुमारियों से विवाह करके सिकंदर ने नया आदर्श प्रस्तुत किया था। मगध के राजा जाति नियमों को वैसे ही विशेष महत्त्व नहीं देते थे मौर्य तो आदिवासी मूल अथवा मिश्रित वंश के थे, यद्यपि उनका आर्यीकरण हो चुका था। मौर्य (पालि मोरिय) नाम मोर टोटम का सूचक है, यह वैदिक-आर्य नाम नहीं हो सकता। असोक की प्रथम रानी सांची (भिलसा) के समीप के एक व्यापारी की पुत्री थी। (वैश्य पुष्यगुप्त जिसने कुछ समय के लिए गिरनार का शासन संभाला था, असोक का 'राष्ट्रिय'

था, [देखए टिप्पणी पृष्ठ १८५] यहाँ इस 'राष्ट्रिय' शब्द का अथ है 'साला', न वि 'राष्ट्र-कर वसूल करनेवाला अधिकारी', जैसाकि अयत्र माना गया है।) यह भी सम्भव है कि असोक की कोई विमाता यूनानी या ईरानी-यूनानी रही हो, परतु इस बात की कोई सम्भावना नही कि उसकी माँ एक यवनी थी।

चद्रगुप्त और बाद मे उसके पुत्र बिदुसार की सेनाओ ने, जहाँ तक भूभाग पहुँचने लायक था, सारे भारत को पादाक्रात कर डाला। जान पडता है कि कर्णाटक के पठार के छोर पर दुग व वायनाड के जगलो ने ही अत म उह आगे बढने से रोका। दक्षिणापथ के व्यापार के बावजूद दक्षिणी प्रायद्वीप का अभी बहुत थोडा विकास हुआ था। मौय आधिपत्य के बाद भी ब्रह्मगिरि (कर्णाटक) मे प्रागैतिहासिक महापापाण न केवल खडे किये जाते रहे, अपितु उनका आकार-प्रकार भी बढ गया, जिसका यही अथ हो सकता है कि, लोहा उपलब्ध होने पर भी, स्थानीय कबीलो न किसानी जीवन को तुरत स्वीकार नही किया। केरल की टोपी-नुमा (टोपी-कल) पापाण समाधियाँ (डोलमेन) कणाटक के महापापाणो से कुछ बाद की है, इसलिए ठेठ दक्षिण म मौर्यों के लिए जीतने योग्य महत्त्व का कुछ भी नही था। प्रायद्वीप का समुद्री चक्कर पहले ही लग चुका था, सोपारा (सम्भवत बाइबिल का ओफिर) और भडौच (भरुकच्छ, यूनानी बेरीगाजा) के बन्दरगाह और उनका समुद्रपार का मूल्यवान व्यापार मगध के अधिकार म था। इसी कारण पटना एक अतर्राष्ट्रीय बदरगाह (पत्तन) बन गया था। ताम्र-खनिज के उत्खनन का बिहार के दक्षिण पूव म खूब विकास हुआ, ताम्र-सूचक तामलुक (ताम्रलिप्ति) बदरगाह से इस धातु का व्यापार होता था। निस्स देह, बर्मा और इडोनेशियाई द्वीपो से भी समुद्री व्यापार होता था, परतु किस सीमा तक होता था, यह बताना कठिन है। मगध के व्यापार मे चीन का रेशमी कपडा (और बल्ख का लोमचम) शामिल था, जो स्थलमाग से आता था, इसी प्रकार, भूमध्य सागर के मूग की, जिसका सिकदरिया से निर्यात होता था, यहा बडी माँग थी। असम से चादी निकालना पहले ही शुरू हो गया था, क्योंकि सिक्को के लिए चादी की माँग बहुत बढ जाने के कारण पश्चिम से आयात की जानेवाली यह धातु अपूरी पडती थी। दूसरी ओर, बगाल के केवल उन्ही थोडे पट्टो को साफ करके खेती-योग्य बनाया गया था जहाँ नदी माग से पहुँचना सम्भव था। लगभग २७० ई० पू० मे चद्रगुप्त के पौत्र असोक न एक सवनाशी युद्ध करके उडीसा (कलिंग) को जीता, तो यह प्रदेश अभी-अभी विजय के योग्य हुआ था, यह तब तक एक राज्य मे भी विकसित नही हुआ था।

यह निश्चय ही एक पचमेल साम्राज्य था इसम पापाण-युग के बबर लोग बसते थे, तो दूसरी ओर ऐस भी लोग थे जिन्होंने अरस्तू के मूल प्रवचना को सुना या समझा था। शासन की सुविधा के लिए कम-से-कम दो उप राजधानियाँ

बनायी गयी थी—तक्षशिला और उज्जैन, जहाँ आमतौर पर राजकुमार शासन चलाते थे। पता चलता है कि असोक अपने पिता बिन्दुसार के समय मे जब तक्षशिला का राज प्रतिनिधि था तो उसने वहाँ एक जन विद्रोह का दमन किया था। सस्कृत का महान् वयाकरण और भाषा विज्ञान के क्षेत्र का एक अद्वितीय पण्डित पाणिनि उसी प्रदेश मे पैदा हुआ था, परन्तु एक पारम्परिक सास्कृतिक केन्द्र क रूप मे उस प्रदेश की जो प्रतिष्ठा थी वह शीघ्र ही समाप्त हो गयी। तक्षशिला के अधिक महत्त्वाकाक्षी पण्डित, जसा कि स्वाभाविक था, राजधानी पटना पहुँच जाते थे। कुछ समय के लिए व्यापार को भी क्षति पहुँची, यद्यपि इस मामले में तक्षशिला का गौरवपूण काल आगे आनेवाला था—कुषाणो के शासन मे। सबसे अधिक लाभ दक्षिणापथ से हो रहा था, वहाँ सोना और लोहा प्रचुर मात्रा में मौजूद था, यद्यपि चाँदी और ताँबे की कमी थी। यहाँ सेनाओ से भी बहुत पहले पहुँचे हुए व्यापारियो और भिक्षुओ ने वस्तु विनिमय तथा अछूती भूमि की खती के पहले बडे विकास को बढावा देना शुरू कर दिया था। कार्ले की विशाल चैत्य-गुफा मे लकडी के जो अवशेष मिले हैं उनका समय, रेडियो-कार्बन विधि स, २८० ई० पू० निर्धारित हुआ है, जब कि यहाँ के विहार के आरम्भिक कक्ष, जो अब ढह गये है, निश्चय ही इसके सौ साल पहले पहाड को खोदकर बनाये गय होंगे। इस भिक्षु विहार के समीप ही धेनुकाकट नामक देहात मे बौद्ध-यूनानी व्यापारियो की बस्ती थी। असोक के धर्मदूतो मे अफगानिस्तान के परे का धम्मरखित नाम का एक यूनानी भी था। ये इक्के-दुक्के उदाहरण नहीं हैं, यह बात अनेक बौद्ध विहारो मे खोदे गये बहुत-सारे स्फिक्सो (नरसिंहो) से सिद्ध हो जाती है सबसे बढिया उदाहरण है,कार्ले के एक स्तम्भ पर स्थापित स्फिक्स, जो धेनुकाकट के एक यूनानी की भेंट है और स्पष्टत सिकन्दरिया से लायी गयी किसी लघुप्रतिमा अथवा चित्र की अनुकृति है। आगे ईसा पूव दूसरी सदी के आरम्भ काल के एक यूनानी आक्रमणकारी मिनान्दर ने इस निरन्तरता को कायम रखा। वह यद्यपि सिकन्दरिया मे पैदा हुआ था, उसने बौद्ध धम प्रचारकों को प्रोत्साहन दिया और अपने सिक्को मे अपने-आपको 'धम्मक' और 'दिकओस' घोषित किया, पालि और यूनानी के इन दोनो ही शब्दो का अथ है "यायप्रिय'। एक परवर्ती पालि ग्र थ मिलिन्द पञ्ह (राजा मिनान्दर के प्रश्न) ने तो उसे अमर ही बना दिया है, इसमे बौद्ध सिद्धान्त को प्रश्नोत्तर के रूप मे काफी बुद्धिमानी से प्रस्तुत किया गया है। मिनान्दर का भारतीय नाम मिलिन्द था। इसा की दूसरी सदी के धेनुकाकट के एक चिकित्सक का नाम भी मिलिन्द ही था, इस व्यक्ति ने भी कार्ले मे एक स्तम्भ स्थापित कराया था। आज भी भारतीय शिशुओ को कही कही यह नाम दिया जाता है। इससे यूनानी और भारतीय सस्कृतियो के सम्मिश्रण की समस्या का समाधान हो जाना चाहिए।

ईसा पूव तीसरी सदी के आरम्भ-काल तक समूचे भारत की समीचीन सीमाओ तक विजयप्राप्ति और दूर-दूर तक संस्कृति के व्यापन का काय पूरा हो चुका था। अब हमे अधिक गहराई से राजतन्त्र के उन कठोर सिद्धान्तो का अध्ययन करना है जिनका इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योजनाबद्ध रूप से इस्तेमाल किया गया था।

६२ मगधीय राजतन्त्र

गगा की घाटी के राजाओ ने ईसा पूव छठी सदी के धर्मोपदेशको की बातें भले ही श्रद्धा और सहानुभूति से सुनी हो, किन्तु इससे अजातशत्रु-जैसे राजपुत्र को अपने ही पिता की हत्या करने मे कोई अडचन नही हुई। इसी प्रकार, चक्रवर्तिन् को शासन के बारे म यह हितकारी परामश, कि उसे सबको रोजगार देना चाहिए, किसान के लिए मवेशी तथा बीज और व्यापारी के लिए धन उपलब्ध कराना चाहिए, ईसा पूव पाँचवी-चौथी सदी के विकासशील मगधीय राज्य के वास्तविक व्यवहार से कोसो दूर था। यहाँ उस पाठ्य-पुस्तक का विश्लेषण करना आवश्यक है जिस पर यह राजकीय नीति आधारित थी। आथर बैरीडेल कीथ ने इस पुस्तक के बारे मे लिखा है "यदि अफलातून के गणतन्त्र और अरस्तू के राजनीति ग्रन्थ के मुकाबले म, अथवा अथेन्स के सविधान से सम्बन्धित पुस्तक के, जिसे पहले जैनोफेन की कृति समझा गया था, लेखक की सहजबुद्धि और व्यावहारिक समझदारी के भी मुकाबले मे, भारत की यही पुस्तक उसकी सबसे बडी उपलब्धि है, तो यह सचमुच बडी शोचनीय स्थिति होगी।" यह कुछ मिथ्याभिमानी एव अप्रासगिक कथन है। अरस्तू के शाही शिष्य ने स्तगिरा-निवासी अपने विद्वान् आचाय के राजनैतिक विचार अमल मे नही लाये थे। अथेन्स का जनतन्त्र, इसके सविधान की समस्त तथाकथित व्यावहारिक बुद्धिमानी के बावजूद, अल्पावधि मे ही टूट गया, तो इसके लिए सवथा जिम्मेदार थे अफलातून के ही घनिष्ठतम मित्र। ये थे निकियस, अल्किबियदेस और क्रितियस्-जैसे कई सारे कुलीन जो सुकरात के शिष्यो एव प्रशसको के रूप मे सवाद (Dialogues) म बार-बार दिखायी पडते है, परन्तु जिन्होने सुकरात के आदश गणतन्त्र की स्थापना के लिए तनिक भी प्रयास नही किया। इसके विपरीत, जिस भारतीय राज्य की हमने जानकारी दी है, वह अल्प और आदिम शुरुआत से, बिना किसी रुकावट के अपनी अभिप्रेत पूर्णावस्था मे पहुँचा। ये यूनानी कृतियाँ अध्ययन के लिए तो उत्तम रही, पर भारतीय कृति, अपने समय और प्रदेश म, तुलना मे बहुत अधिक व्यावहारिक सिद्ध हुई।

राजतन्त्र और इसके सचालन के बारे मे मुख्य स्रोत-सामग्री है अथशास्त्र—कई सदियो तक पूणत लुप्त रहने के बाद १९०५ मे पुन खोजा गया एक संस्कृत ग्रन्थ। इसका लेखक है चाणक्य या कौटल्य नामक एक ब्राह्मण, जो ईसा पूव

चौथी सदी के अंतिम समय में चन्द्रगुप्त मौर्य का मंत्री था। परम्परानुसार, कौटल्य की शिक्षा भी तक्षशिला में ही हुई थी। उसे प्रसिद्धि मिली कालान्तर की उस दंतकथा और रम्याख्यान के कारण जिसमें उसे चन्द्रगुप्त को दृढतापूर्वक मगध के सिंहासन पर बिठानेवाले एक कुचक्रकारी उग्र-स्वभाव आचार्य के रूप में चित्रित किया गया है। ईसा की चौथी सदी के अवसान-काल में रचित विशाख दत्त के संस्कृत नाटक मुद्राराक्षस का कथानक स्पष्टतः काल्पनिक है और इसमें दी गयी जानकारी भी असम्भाव्य है, इसमें बताया गया है कि नन्दराजा की हत्या के बाद उसके श्रेष्ठ मंत्रियों को वश में करके उन्हें चन्द्रगुप्त मौर्य के नाटक के एक असामान्य भीरु पात्र के, नये शासन का समर्थक बनाया गया। चाणक्य के ग्रंथ में राज्य का जो चित्र खींचा गया है वह किसी भी दूसरे काल की ज्ञात परिस्थितियों से इतना भिन्न है कि अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता पर ही सन्देह किया जाने लगा था। यद्यपि काफी वाद विवाद के बाद अब ये सन्देह दूर हो गये हैं, फिर भी दो विशेष बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। इस ग्रंथ में लेखक ने मौर्य साम्राज्य की संचालन प्रणाली की जानकारी नहीं दी है, इसमें राजतन्त्र के सिद्धान्तों का विवरण है। "यह ग्रन्थ, पूर्वाचार्यों की राजतन्त्र विषयक विविध कृतियों को देखने के बाद, समस्त पृथ्वी पर प्रभुत्व स्थापित करने और इस पर शासन करने के उद्देश्य से रचा गया है।"[1] दूसरे, मूल ग्रन्थ का काफी अंश—पंचमांश से चतुर्थांश तक—नष्ट हो गया है। पूरा कोई प्रकरण गायब नहीं है, परन्तु प्रतिलिपियां तैयार करते समय प्रत्येक अधिकरण (खण्ड) में छोटे छोटे अंश छूट गये हैं। कालान्तर में राज्य और सेना की स्थिति में इतना अधिक परिवर्तन हुआ कि इस ग्रन्थ में शासन प्रणाली तथा सैनिक व्यवस्था के बारे में दी गयी अनेक हिदायतों की कोई उपयोगिता नहीं रह गयी थी। यहां तक कि, अनेक पारिभाषिक शब्दों का अर्थ ही समझ में न आता था। सैनिक संगठन और रणनीति से सम्बन्धित प्रकरणों को सबसे अधिक क्षति पहुंची है। मगध की विशाल स्थायी सेना जिसमें परिचरों, सैनिकों और अधिकारियों को नियमित रूप से नकद वेतन दिया जाता था ईसा पूर्व दूसरी सदी के बाद छिन्न भिन्न हो गयी। कालान्तर की सामरिक टुकड़ियां नितान्त भिन्न प्रकार की थीं।

अर्थशास्त्र का अर्थ है 'आर्थिक लाभ का शास्त्र'—व्यक्ति के नहीं, एक विशेष प्रकार के राज्य के आर्थिक लाभ का शास्त्र। लक्ष्य सदा स्फटिक की तरह साफ था। इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रयुक्त साधनों का औचित्य सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। नैतिकता अथवा परोपकारिता का तनिक भी प्रदर्शन

---

१ पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।—अर्थशास्त्र १ १ १

नही है। उपाय चाहे कितने भी घिनौने अथवा विश्वासघाती हो, केवल उन्ही कठिनाइयो का विवेचन किया गया है जो व्यावहारिक हैं, साथ ही, व्यय और उत्तर प्रभावो पर भी समुचित ध्यान दिया गया है। दूसरी ओर, नागरिक के लिए कठोरतम नियमो की व्यवस्था थी, जिनका इतना अच्छा शासन प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्य किसी युग म नही हुआ। इसी दोहरे मानदण्ड के कारण बाद म अथशास्त्र एक अप्रचलित ग्रन्थ हो गया, यद्यपि इसकी सुस्पष्ट तक प्रणाली और इसके शुष्क गद्य के लिए चोटी के आचाय इसे ईसा की बारहवी सदी तक पढते रहे। समस्त भारतीय वाङ्मय म यह ग्रन्थ इस माने मे अद्वितीय है कि इसमे शब्दाडम्बर और बनावटी तक का सवथा अभाव है। अन्ततोगत्वा इस ग्रन्थ की उपेक्षा का असली कारण है एक नितान्त नये समाज का निर्माण (यह नया समाज भी मगधीय राजतन्त्र की सफलता के कारण ही अस्तित्व मे आया था), जिसके लिए उन सिद्धान्तो की अब कोई उपयोगिता नही रह गयी थी।

प्रत्येक राज्य का कोई-न-कोई वग-आधार होता है। ब्राह्मणो म वर्णित कबीलाई राज्य और उसके अति-विकसित यज्ञ कमकाण्ड के मुख्य आधार थे क्षत्रियो के सगोत्रीय समूह जिन्होने वैश्यो तथा शूद्रो को वश मे रखने मे और दूसरे कबीलो से लडने म अपने राजा को सहयोग दिया। मध्ययुगीन भारत के परवर्ती सामन्ती राज्य एक ऐसे शक्तिशाली भूस्वामी वग पर आधारित थे जो राजस्व वसूल करता था, सेना के लिए अश्वारोही तथा अधिकारी जुटाता था, और यह वग प्रत्यक्ष व्यक्तिगत स्वामिभक्ति की ऐसी सुदृढ शृखला से आबद्ध था जो सेवक को सामन्त से, भूस्वामी को महासामन्त से और कुलीन को राजा से जोडती थी। जिस समय अथशास्त्र के सिद्धान्तो की रचना हुई, पशुचारी आय कबीलो का नष्ट करना अभी बाकी था, यद्यपि व्यक्तिगत भूसम्पत्ति के प्रभाव के कारण वे भीतर-ही-भीतर धीरे धीरे विच्छिन्न हो रहे थे। अतिविस्तृत आदिम जगलो को साफ करना अब भी बाकी था, जाहिर है कि जगलो की इस भूमि पर किसी का स्वामित्व नही था। कौटल्यीय राज्य आज हमे इतना विचित्र लगता है, तो इसका कारण यह है कि, भूमि को साफ करने का काम मुख्यत उसी के जिम्मे था, वही सबसे बडा भूस्वामी था, वही भारी उद्योगो का मुख्य मालिक था और सबसे बडा वस्तु-उत्पादक भी वही था। शासक-वग का निर्माण यदि यथाथ म राज्य द्वारा राज्य के लिए ही नही हुआ था, तो कम से-कम शासन के अग के रूप मे उसका महत् विस्तार अवश्य किया गया था उच्च और निम्न अधिकारी-वग, सभी जातियो तथा विविध मूल के अधिकारियो द्वारा सचालित पाँच लाख आदमियो की विशाल स्थायी सेना (३०० ई०पू० तक), और इन दोनो समुदायो के समान ही महत्त्वपूण भेदियो तथा गुप्तचरो की एक पथक् निजु

प्रच्छन्न सेना—यही थे नये राज्य के मुख्य आधार-स्तम्भ। यह तो अर्थशास्त्र से ही स्पष्ट है कि अधिकारी-वर्ग के दोनो भाग सख्या की दृष्टि से काफी बडे थे। यूनानी विवरणो से पता चलता है कि इनके जाति-वर्ग बन गये थे, जैसाकि एक जातिगत समाज मे स्वाभाविक था। मगधीय साम्राज्य के अन्त के बाद ये दोनो अधिकारी-वर्ग-जातियाँ जीवित नही रही। किन्तु कुछ सदियो बाद पचमेल घटको से इसी प्रकार कायस्थ जाति बनी, जिसका काम था लिखायी और राज्य का लेखा-जोखा रखना।

अर्थशास्त्र मे विशाल और व्यापक पैमाने पर जासूसी तथा उकसानेवालो का निरन्तर इस्तेमाल करने का सुझाव दिया गया है। प्रत्येक कारवाई का एकमेव उद्देश्य था राज्य की सुरक्षा और लाभ। समूचे ग्रन्थ मे नैतिकता-सम्बन्धी गूढ सवालो को न कही उठाया गया है, न ही उन पर विचार किया गया है। राजा के गुप्तचर, आवश्यकता पडने पर, हत्या, विष प्रयोग, मिथ्यारोपण और अन्दरूनी तोड-फोड का बाकायदा और बेझिझक इस्तेमाल कर सकते थे। साथ ही, जनसाधारण के लिए कानून व व्यवस्था का जो आम तन्त्र था उसका अत्यन्त सतर्कता एव कठोरता से पालन होता रहा। ऐसे राज्य का सुदृढ आधार केवल इसका प्रशासनिक ढाचा ही हो सकता था—और उस पर भी गुप्तचरो की कडी निगरानी जरूरी थी। घूसखोर राज्य कर्मचारियो की जाच के तमाम उपाय बताने के बाद चाणक्य निराशापूर्वक स्वीकार करता है कि, अधिकारी ने कितना राजस्व हजम किया, यह पता लगाना उतना ही कठिन है जितना कि यह बताना कि तरती मछली कितना पानी पी गयी।[1] अर्थशास्त्र का राज्य ऐसे समाज का परिचायक नही है जिसमे किसी नये वर्ग ने, राज्य-व्यवस्था को सँभालने के पहले ही, वास्तविक सत्ता पर अधिकार जमा लिया हो।

यहाँ भारतीय और चीनी विकास क्रम मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर को समझना उपयोगी होगा। चीन के प्रथम सम्राट् छिन हृ.सी ह्वाङ्-ती (२२१ ई० पू०) का महामन्त्री एक व्यापारी था। बाद मे व्यापारी वर्ग की प्रतिष्ठा कुछ घटा दी गयी थी, फिर भी इस वर्ग ने अपने उन सदस्यो के माध्यम से कुछ वास्तविक सत्ता पर कब्जा कायम रखा था जो चीन की नियमित परीक्षा प्रणाली के रास्ते से राज्य-सेवा म पहुँच गये थे। भारतीय गहपति-वर्ग—कृपक-व्यापारी वर्ग—को, जिसने नये गागेय राज्य के निर्माण मे योग दिया था, मन्त्रि परिषदा म शामिल नही किया गया था, यद्यपि आरम्भिक काल के श्रेष्ठियो को उनकी धन-सम्पत्ति

---

१ मत्स्या यथान्त सलिले चरन्तो
ज्ञातु न शक्या सलिल पिबन्त।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता
ज्ञातु न शक्या धनमाददाना॥—अर्थशास्त्र २ ९ ३३

के कारण, बाद के उनके सामन्ती वशजो की अपेक्षा, कही अधिक सम्मान मिलता था।

राज्य का सर्वोच्च अधिनायक, प्रतीक और प्रवक्ता राजा था। उस समय के राजा म असाधारण गुण होना आवश्यक था। अहोरात्र के प्रत्येक क्षण को, शासक के विविध प्रशासकीय कर्तव्यो के अनुरूप, उपयुक्त कालखण्डो मे बाट दिया जाता था जनता के प्रतिवेदन को और गुप्त सूचनाओ को सुनना, मन्त्रि-परिषद्, राजकोष और सेना के प्रधानो से परामर्श करना। मध्यान्तरो मे विश्राम, शयन, भोजन, मनोरजन तथा अन्त पुर के आमोद प्रमोद के लिए, कार्य-बहुलता के कारण, बहुत कम निर्धारित समय मिल पाता था। 'प्राच्य भोग-विलास' तो दूर रहा, अर्थशास्त्र का राजा अपने राज्य का सर्वाधिक कार्य व्यस्त व्यक्ति था। हरेक राजा इस रफ्तार को झेल नही पाता था, खासकर इसलिए भी कि विष-प्रयोग और हत्यारे से बचने के लिए बडा सख्त बन्दोबस्त था। फिर भी राज-महलो मे क्रान्तियाँ हुई, राजवशो मे रद्दोबदल हुआ, जिनकी पुष्टि आहत सिक्को मे एकाएक हुए परिवर्तनो से होती है। अजातशत्रु के वश को कुछेक पीढियो के बाद ही किसी जन विद्रोह ने समाप्त कर दिया। नये राजा सुसुनाग (सस्कृत शिशुनाग) ने पहले से मौजूद सिक्को पर अपने चिह्न आहत किये और अपने नये सिक्के भी चलाये। उसके उत्तराधिकारियो ने आहत सिक्को के भव्य युग को जन्म दिया। उसके बाद, जैसा कि तक्षशिला की निधियो से प्रमाणित होता है, समस्त उत्तरापथ पर मगधीय व्यापार तथा मुद्रा का प्रभुत्व स्थापित हो गया। बाद मे एक शान्तिपूर्ण परिवर्तन के बाद, क्योकि सिक्को पर चक्र का चिह्न पूर्ववत् बना रहा, नन्दो अथवा नन्दिनो के सम्बन्धित किन्तु गौण वश ने राजसत्ता हथिया ली, उनके वैभव की दीर्घकाल तक लोक प्रसिद्धि रही। उस समय तक, बुद्ध निर्वाण के करीब सौ साल बाद, राजधानी अन्तत पाटलिपुत्र मे स्थानान्तरित हो चुकी थी, तब पटना ससार का सबसे बडा नगर हो गया (और एक या दो सदियो तक बना रहा)। तब एक नवोदित किन्तु योग्य व्यक्ति ने, जिसका बहुत-कुछ सही नाम महापद्म नन्द दिया गया है, बिना रक्तपात के सिंहासन पर अधिकार जमा लिया। अन्त मे, महापद्म के अन्तिम पुत्र की हत्या करके चन्द्रगुप्त मौर्य मगध के सिंहासन पर बैठा।

चाणक्य की दृष्टि मे सिंहासन के लिए कलह राजा के लिए एक गौण सकट था। उसने नैतिकता अथवा पुत्रप्रेम को कोई महत्त्व नही दिया। उसने एक पूर्ववर्ती (भारद्वाज) का कथन उद्धृत किया है 'राजपुत्र केकडो की भाँति जनक-भक्षी होते हैं।'[1] अर्थशास्त्र मे पूर्ववर्ती आचार्यों के विविध मतो पर निष्पक्षता से

---

1 कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्रा ।—अर्थशास्त्र १ १७ ४

विचार किया गया है राजपुत्र की शिक्षा के उपाय, समयपूर्व महत्त्वाकांक्षा के लिए उसकी परीक्षा, उसके छिपे दुर्गुणों तथा उसकी उम्मीदों का गुप्त रूप से पता लगाना, और आवश्यकता पड़ने पर उसे काबू में रखना। अगले ही प्रकरण में उपेक्षित (अपरुद्ध) युवराज के लिए सलाह है कि वह सिंहासन को जल्दी हथियाने के अपने इरादे के विरुद्ध आयोजित अपने पिता की सतर्कताओं को किस प्रकार विफल बना सकता है। इस सन्दर्भ में न कोई नाम दिया गया है, न ही किसी खास ऐतिहासिक उदाहरण का उल्लेख है। परन्तु सन्दर्भ से ही स्पष्ट हो जाता है कि अपरुद्ध युवराज को सिर्फ बहिष्कृत ही नहीं किया जाता था, जैसा कि प्राचीन काल के छोटे कबीलाई राज्यों में होता था। निरंकुश राजसत्ता के उदय और नये राज्य विस्तार के कारण यही स्वाभाविक था कि अपरुद्ध व्यक्ति को, रोमन कानून-व्यवस्था की भांति, पदच्युत करके नियन्त्रण में रखा जाय, या समस्त नागरिक अधिकार छीनकर उसे सम्भवतः निष्कासित ही कर दिया जाय।

किसी भी राजवंशीय परिवर्तन का मगध के निरन्तर विस्तार पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। किसी गृहयुद्ध से राज्य की नीति में, आन्तरिक अथवा बाह्य, कोई रुकावट पैदा नहीं हुई, और न ही अर्थशास्त्र में कहीं ऐसी बाधा पर विचार किया गया है जो राजमहल की किसी घटना से उपस्थित होती हो। राज्य इतना सुनियोजित था कि ऐसी किसी बाधा की गुंजाइश ही नहीं थी। अर्थशास्त्र के ग्यारहवें अधिकरण में (जो प्रतिलिपियाँ करने में सम्भवतः छोटा हो गया है) इस बात का विवेचन है कि अन्न सकलनकर्त्ताओं के जिन स्वतन्त्र, शक्तिशाली तथा शस्त्रधारी कबीलों का अभी निरंकुश राज्यों में ह्रास नहीं हुआ है उन्हें विधिवत किस प्रकार तोड़ा जाये। मुख्य विधि यह थी कि विघटन के लिए इन्हें भीतर से ही खोखला बनाया जाये, इन कबीलाई लोगों को एक ऐसे वर्ग-समाज के सदस्यों में बदला जाये जो व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति पर आधारित है। इसके लिए तरीके बताये गये कि कबीलों के नेताओं को और सबसे सक्रिय लोगों को नकद घूस देकर बड़ी से बड़ी शराब पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करावें, अथवा उनकी व्यक्तिगत धनलिप्सा को बढ़ावा देकर भ्रष्ट किया जाये। उनमें फूट डालने का काम करेंगे भेदिये, गुप्तचर, ब्राह्मण ज्योतिषी, उच्च जाति की स्त्रियां, नर्तक, अभिनेता गायक और वेश्याएँ। कबीले के वरिष्ठ सदस्यों को प्रोत्साहित किया जाये कि वे कबीले के भोज (एकपात्रम) में निम्न हैसियत के सदस्यों के साथ बैठकर भोजन न करें अथवा उनके साथ विवाह-सम्बन्ध न स्थापित करें, दूसरी ओर, निम्न हैसियत के सदस्यों को सहभोज में भाग लेने और विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उकसाया जाये। कबीले के भीतर की स्वीकृत पद-मर्यादा को हर प्रकार के आन्तरिक उकसावे से तोड़ने की कोशिश होनी चाहिए। राजा के प्रतिनिधि उन तरुणों को, जिन्हें कबीले की प्रथा के अनु

सार भूमि और आमदनी म कम हिस्सा मिलता था, सही बँटवारे की माँग करने के लिए उकसा सकत हैं। घात लगाकर अथवा विष देकर कबीले के सदस्यो की हत्या (जिसके लिए मृत व्यक्ति के कबीले के भीतर के ज्ञात प्रतिद्वन्द्वियो को आरोपी ठहराया जायगा) से और शत्रु द्वारा मुखियाओं को घूस दिये जाने की अफवाहें फैलाने से भी कलह को बढावा मिल सकता है। तब अर्थशास्त्र-सम्मत राज्य का शासक सशस्त्र सेना लेकर प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करेगा। फिर कबीले के टुकडे करके, कबीले के पाँच से लेकर दस परिवारो तक के जत्थो को दूर दूर के क्षेत्रो मे बसाया जाय—एक-दूसरे से इतनी दूर कि वे फिर लडाई के मैदान म एकत्र होकर अपनी रणकुशलता न दिखा सकें। अर्थशास्त्र मे जिन कबीलो का उल्लेख है उन्हें दो प्रकारो मे बाँटा गया है (१) कम्बोज और सुराष्ट्र क्षत्रिया-जसे कृषक-व्यापारी तथा शस्त्रोपजीवी कबीले, और (२) लिच्छवि, वृजि, मल्ल, मद्र, कुकुर, कुरु तथा पाचाल-जैसे 'राजा' की उपाधि धारण करनेवाले (आयुध जीवी) क्षत्रिय कुलीनो (जिन्हे इससे नीचे के पेशे का काम करना मजूर नही था) के कबीले। लिच्छवियो अथवा वज्जियो के कबीले को अजातशत्रु पहले ही तोड चुका था, परन्तु उनका अभी सवनाश नहीं हुआ था। नेपाल मे मिले शिलालेखो से पता चलता है कि लिच्छवियो का नाम लगभग एक हजार साल तक जीवित रहा। ईसा की चौथी सदी का गुप्त राजा चन्द्रगुप्त प्रथम अपनी श्रेष्ठता घोषित करने के लिए सबसे बेहतर सबूत यही दे पाया कि उसने लिच्छवि 'राजकुमारी' कुमारदेवी से विवाह किया। ब्राह्मणो के पुराणो की एक पटुताभरी पक्ति म शोर जाहिर किया गया है कि मगध सम्राट् महापद्म नन्द ने सभी क्षत्रियो का मूलोच्छेदन किया, उसके बाद कोई भी क्षत्रिय कहने लायक नही बचा। य क्षत्रिय कुरु, पाचाल और पूर्वी पजाब के नव वैदिक कबीलो के ही हो सकत हैं, इसके बाद इनके नाम केवल आख्यानो और काव्यो म ही सुनने को मिलत हैं। बाकी अधिकतर काम सिकन्दर ने पूरा किया। चाणक्य के समय तक मद्र [illegible] कम्बोज कबीलो का मगधीय राज्य के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था, परन्तु सीमा प्रदेश तक्षशिला का ब्राह्मण होने के कारण उस [illegible] का समीप से देखा होगा। अत अर्थशास्त्र म उन्ही सिद्धान्तो का [illegible] किया गया है जो पहले से स्थापित थे और प्रयुक्त विधियाँ [illegible] कि, अजातशत्रु के ब्राह्मण-मन्त्री वस्सकार द्वारा [illegible] के विरुद्ध प्रयुक्त उपाय। यद्यपि मगध की सेना इतनी बडी और [illegible] शत्रु को आसानी से कुचल दे सकती थी, फिर भी [illegible] नहीं समझते थे कि चौकसी बरतने से जन धन की [illegible] पशु पालक कबीले बचे रहे जो न कहीं [illegible] और न ही इतने शस्त्र-सज्जित थे कि [illegible]



चित्र ११ मौर्यों के पहले के मगध के अन्तिम महान् राजा महापद्म नन्द के चाँदी के सिक्कों पर आहत चिह्न। उसे ही स्वतंत्र आर्य कबीलों के जिसमें शायद कुरु कबीला भी शामिल था, अन्तिम विनाश का श्रेय दिया जाता है लगभग ३५० ई० पू०।

नीज ने लिखा है कि ईसा पूर्व तीसरी सदी म भारतीय जनता के जो सात प्रमुख वर्ग थे उनमे एक इन पशुचारियों का था। अर्थशास्त्र मे कुछ उपाय, जिनमे कड़ी शराब तथा विष प्रयोग भी शामिल हैं, अमरीका म स्थानीय आदिवासियों ('रेडस्किन') के विरुद्ध लगभग उसी प्रकार के कारणो से अपनाये गये जिनके लिए प्राचीन मगध म उनका प्रयोग होता था।

६ ३ भूमि का प्रबन्ध

अर्थशास्त्र की जानकारी उन पाठकों को निश्चय ही विचित्र और अयथार्थ प्रतीत होती है जो भारतीय ग्राम्य परिवेश की कल्पना इसके बाद के रूप मे करते है। उस समय प्रशासन की इकाई थी जनपद, जिसे आजकल के जिले के बराबर समझा जा सकता है। जनपद यानी 'जन (कबीले) का स्थान' अपना मूल अर्थ बदल चुका था। कबीलाई लोग व्यापक रूप से कृषक समुदाय म घुल मिल चुके थे। ये जनपद एक-दूसरे से जुड़े हुए नही थे, बल्कि इनके बीच मे विस्तृत जंगल थे, जिनम मुख्यत अन्न संग्राहक बर्बर आदिवासी (आटविक) बसे हुए थे। एक ही जनपद के देहातो के बीच म जो जंगल थे उनसे ईंधन, इमारती लकड़ी, सूखी घास, शिकार तथा खाने की चीजें मिलती थीं और वे चरागाहों का भी काम देते थे, परन्तु आमतौर पर इन जंगलो मे अब खतरनाक लोग नहीं बसते थे। सम्भावना चाहे आदिवासियों के छापे की हो अथवा विदेशी आक्रमण की, प्रत्येक जनपद की सीमा-सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध था। बर्बर आदिवासियों की गति विधियों और इरादों का पता लगाने के लिए खास गुप्तचर, आमतौर पर आश्रम वासियों के वेश मे, भेजे जाते थे यदि कोई आदिवासी कबीला अधिक शक्ति शाली हो, पर अन्न उत्पादन की अवस्था मे संक्रमण के लिए राजी हो, तो उसे पिछले परिच्छेद मे बताये गये उपायो द्वारा विघटित किया जा सकता है। ईसा पूर्व तीसरी सदी तक विभिन्न जनपदो की एक-दूसरे से पृथक् इन सीमाओं का उतना ही महत्त्व था जितना कि राज्यों की बाह्य सीमाओं का। व्यापारी सार्थों को हर जनपद मे प्रवेश करते समय और उसकी सीमा से बाहर निकलते समय चुंगी देनी पड़ती थी। प्रत्येक व्यक्ति को जनपद की सीमा पार करते समय मुहर लगा हुआ राजकीय आज्ञापत्र पेश करना होता था, जो अच्छे कार्यों के लिए और

भारी शुल्क देने पर ही मिलता था। जनपद का प्रशासन सँभालनेवाले महामन्त्री और स्थानीय परिषदों के अधिकारी उसी जनपद के होते थे। कभी-कभी किसी विदेशी अजनबी को भी 'राष्ट्रिय' बना दिया जाता था, जैसे कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में ईरानी तुषास्फ को[1], परन्तु बाद में तेजी से भारतीय बनते गये कई सारे विदेशियों ने यही पद सँभाला है, जिसका कारण सम्भवतः यह था कि इस प्रदेश में ईरानियों की एक प्रभावशाली बस्ती थी।

प्रत्येक जनपद में एक-सी शासन-व्यवस्था थी। सर्वोच्च अधिकारी राजा के मन्त्री होते थे, उनके ठीक नीचे के अधिकारियों की एक परिषद् (बहुमुख्या जिसका यूनानियों ने उल्लेख किया है) होती थी। उच्च पदों के लिए अधिकारियों का चुनाव बड़ी सावधानी से किया जाता था और उनकी बुद्धिमत्ता, ईमानदारी, साहस तथा स्वामिभक्ति की परीक्षा होती थी, साथ ही, गुप्त रूप से प्रलोभन देकर धन, स्त्री, व्यसन तथा महत्त्वाकांक्षा-सम्बन्धी दुर्बलताओं की भी जाँच की जाती थी। प्रत्येक अधिकारी के विशिष्ट गुणों और अवगुणों का ब्योरा रखा जाता था। प्रत्येक अधिकारी के पूरे कार्यकाल में उसकी गतिविधियों पर गुप्त रूप से नज़र रखी जाती थी। धनी, पश्चात्तापी अथवा सामान्य नागरिक के वेश में छोड़े गये गुप्तचर जन मत का पता लगाते थे, और आवश्यकता पड़ने पर अनुकूल जनमत भी तैयार करते थे। यह वैसा ही कार्य था जैसाकि आजकल कुछ देशों में जनमत-संग्रह और समाचारपत्रों में सम्पादकीय अभियान द्वारा किया जाता है। अधिकारी-तन्त्र का निम्न छोर प्रत्येक गाँव के अथवा शहर के प्रत्येक मुहल्ले के नियामक तक पहुँचता था। *ऐसा प्रत्येक 'संरक्षक' (गोप) अपने क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति के जन्म, मृत्यु तथा* आने जाने का पूरा लेखा जोखा रखता था। अजनबियों तथा अतिथियों की, इक्के-दुक्के यात्रियों तथा व्यापारियों की, किसी के एकाएक धनी हो जाने की अथवा किसी व्यक्ति की सन्देहास्पद गतिविधियों की तुरंत सूचना देना और इन पर कड़ी नज़र रखना आवश्यक था। प्रत्येक व्यापारी-साथ में गुप्तचर होते थे। राजा सवा था, ऐसा प्रबन्ध था कि राजा के प्रतिनिधियों से कोई भी बात छिपी न रह सके। उपयोगी या महत्त्व का कोई भी समाचार हरकारों अथवा सन्देशवाहक कबूतरों द्वारा मुख्यालयों को तुरन्त भेज दिया जाता था और सम्बन्धित अधिकारियों को आदेश भी उसी प्रकार भेजे जाते थे।

जनपद की भूमि के दो स्पष्ट वर्ग थे राष्ट्र राजस्ववाली भूमि, और राज्य

---

1 रुद्रदामन् के गिरनार लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का 'राष्ट्रिय' वैश्य पुष्यगुप्त था और अशोक मौर्य का 'अधिष्ठातृ' यवनराज तुषास्फ था (मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितमशोकस्य मौर्यस्य कृते यवनराजेन तुषास्फेनाधिष्ठाय)।
—अनुवादक

के सीधे निरीक्षण में बसायी और जोती जानेवाली सीता भूमि। राष्ट्र भूमि का विकास आरम्भिक आय कबीलो की बस्तियो से हुआ। आमतौर पर उनका अपना एक छोटा मुख्यालय नगर होता था, जिसके लिए आवश्यक उपज आस पास की कृषिभूमि से प्राप्त होती थी। ऐसे नगरो में प्रशासन पारम्परिक प्रथा के अनुसार चलने दिया जाता था, बशर्ते कि सम्राट की सत्ता पर इससे किसी प्रकार की आच न आये। इन राष्ट्र भूमियो के अन्तगत वे 'स्वतन्त्र नगर' भी थे जिनका यूनानियो ने उल्लेख किया है उनकी दृष्टि मे ये नगर अरस्तू के 'स्वतन्त्र राज्य' की तरह थे, जहा जनता की मर्जी से कुलीन लोग शासन चलाते थे। इनमे स कुछ ने, मौय आधिपत्य म, अपने सिक्के भी चलाये थे, जिन पर केन्द्रीय राजकोप का चिह्न आहत रहता था, इन पर राजसत्ता-सूचक चक्र-चिह्न के स्थान पर लघु मानवाकृतियो अथवा ढाल तथा बाण के चिह्न आहत किये जाते थे। राष्ट्र कर भी पुरानी परम्परा पर आधारित थे, पर अब राजा का विशेप मन्त्री इन्हे वसूल करता था। कुछ देहात एकमुश्त (सराशि) कर देते थे, और इसमे हरेक का अश गाववासी आपस मे त कर लेते थे। मुख्यत कर निधारण फसल का छठा हिस्सा होता था। सेना की रसद के लिए' जो कर वसूल किया जाता था, वह कबीलो की पूवकालिक स्थानीय सनिक सेवा का ही दूसरा रूप था। कबीलाई यज्ञ के अवसर पर राजा को भेंट उपहार देने की जो पारम्परिक प्रथा थी उससे बलि कर का विकास हुआ। अन्य कुछ करा का विकास मुखिया की पुत्रजन्म और सावजनिक सभा समारोह आदि के अवसरो पर दिये जानेवाले उपहारो से हुआ। कबीलो के मुखियाओ और (स्वयसेवी किन्तु प्रशिक्षित) कबीलाई सेनाओ का प्राय लोप हो चुका था, फिर भी नया राज्य पुराने सभी करो को नियमित रूप से वसूल करता था। राज्य उद्यानो पर भी कर लेता था और पशुओ द्वारा फसल की तथा





चित्र १२ चाँदी के कबीलाई सिक्के। ये सिक्के उन लोगो ने चलाये जिन पर प्रत्यक्षत किसी राजा का शासन नही था यद्यपि (इस उदाहरण मे) वे द्वितीय मौय सम्राट बिन्दुसार (जिसने सिल्यूकस निकेतर को हराया था) के आधारभूत आधिपत्य में थे। ये सिक्के मेगा स्थनीज द्वारा उल्लिखित भारतीय स्वतन्त्र नगरो के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं।

कथित क्षति के हरजाने के रूप मे भी नाममात्र का कर वसूल किया जाता था, राज्य के खच से निर्मित जल-सुविधा सम्बन्धी साधनो (बाधो नहरा जलाशयो) पर उपकर लगाया गया था। इनमे से कुछ करो के बारे मे शिलालेखो मे जानकारी मिलती है अशोक ने लुम्मिनी गाँव को बलि कर से मुक्त किया और फसल

के भाग को छठे से घटाकर आठवाँ कर दिया ('क्योंकि बुद्ध यहाँ पैदा हुए थे')। व्यक्तिगत उपहारो आदि की प्रथा सामन्ती युग मे, सामन्तो के विशेषाधिकारो के रूप मे, पुन प्रकट हुई अथवा पहले से ही चली आती रही।

सीता भूमियो की स्थिति एकदम भिन्न थी। कृषिजन्य भूमि मे सीता भूमि का हिस्सा इतना अधिक बढ गया था कि यूनानी पर्यटको (जो निश्चय ही गगा नदी के रास्ते से पटना पहुँचे होगे, न कि शनै-शनै उजडते जानेवाले उत्तरापथ के स्थलमार्ग से) ने यही समझ लिया कि समस्त भूमि पर भारतीय राजा का अधिकार है। अर्थशास्त्र के राजा की ओर से खूब कोशिश की जाती थी कि परती भूमि पर लोगो को बसाया जाये, फिर वह भूमि पहले साफ की हुई पर बाद मे जगल बनी हुई हो अथवा पहली बार साफ की गयी अछूती भूमि हो। ऐसी भूमियो मे बसाये जानेवाले लोगो को विशेष प्रलोभन देकर जनपद के बाहर से लाया जाता था अथवा राजा के अपने अधिकार क्षेत्र से ही, चाहे नगर की आबादीवाली गन्दी बस्तियो से या चाहे घनी आबादीवाले देहातो से, शूद्र परिवारो को बलपूर्वक हटाकर इन भूमियो मे बसाया जाता था। हम यह भी जानते है कि नये विजित प्रदेशो से जबरदस्ती पकड लाये लोगो को पुनर्वासित किया जाता था, क्योकि अशोक ने अपने कलिंग-अभियान के परिणामो के सन्दर्भ मे ठीक इसी अर्थ मे (जबरदस्ती हाक ले जाना) अपवह् क्रिया का इस्तेमाल किया है। परन्तु ये ग्रामवासी दास नही थे, कृषिदास भी नही थे, बल्कि स्वतन्त्र अधिवासी थे—इन्हे सिर्फ ऐसे ही काम करने की आजादी नही थी जिनसे राजकोष को क्षति पहुँचे। नये गाँव एक दूसरे से करीब तीन मील के अन्तर पर होते थे और इनके बीच की सीमाएँ स्पष्ट रूप से निर्धारित रहती थी, भले ही सारी भूमि साफ हुई हो अथवा न हुई हो। प्रत्येक गाँव मे १०० लेकर ५०० तक शूद्र कृषक (कर्षक) परिवारो की आबादी रहती थी और इनका समूहन इस प्रकार होता था कि पडोसी गाँव एक दूसरे की रक्षा कर सकें। प्रत्येक १०, २००, ४०० तथा ८०० ग्राम-समूहो के लिए प्रशासकीय मुख्यालय थे, जहाँ सम्भवत रक्षासेना भी रहती थी। सम्भव है कि शिशुपालगढ नगर की स्थापना ८०० गाँवो के केन्द्र (स्थानीय) के रूप मे हुई हो, पुरातात्त्विक जानकारी के अनुसार इस नगर की नीव ईसा पूर्व तीसरी सदी मे पडी थी, परन्तु इस जानकारी की अर्थशास्त्र के साथ तुलना करके देखना अभी बाकी है।

राज्य के गाँव की भूमि (सीता भूमि) जोतनवाले को केवल उसकी जिन्दगी भर के लिए दी जाती थी। यदि उसी ने उस भूमि को पहली बार साफ किया है तो फिर वह दूसरे को न दी जाकर उसी के उत्तराधिकारियो को दी जाती थी, बशर्ते कि जमीन भलीभाँति जोती जाती हो। कोई भी व्यक्ति, विशेष अनुमति के बिना, अपने जोत क्षेत्र को हस्तान्तरित नही कर सकता था, यदि किसी खेत का

जोता न गया, तो उसे दूसरे को सौंप दिया जा सकता था। यदि साफ की गयी भूमि और आबादी नयी हो अथवा कोई विपत्ति आ पड़े तो सं ता करों से छूट भी मिल सकती थी। अन्यथा, सीता कर राष्ट्र करो से कहीं अधि क भारी थे—कम-से-कम फसल का पाचवा हिस्सा, और यदि सिंचाई का प्रब ध राज्य की ओर से किया गया हो तो तीसरे हिस्से तक सीता कर वसूल किया जाता था। इमा रती लकडी, जगल की पैदावार, मछली, शिकार और हाथी रा ज्य के लिए आर क्षित थे। हाथियो के जगलो को साफ नही किया जाता था, जो कोई हाथी की हत्या का दोषी पाया जाता था उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। ह ाथी सेना के लिए अनिवाय था, केवल लडाई के लिए ही नही, बल्कि भारी परिवह न, पुलो के निर्माण और इसी प्रकार के दूसरे भारी कामो के लिए भी। इसके अलावा, हाथी का प्रतिष्ठात्मक मूल्य भी था। अधिकारियो को, वद्यो तथा पशुचिकि त्सको को, राज्य के सन्देशवाहको को तथा इसी प्रकार के अन्य राज्य कमचारिय ो को उनके सेवा काल तक के लिए सीता भूमि की जोत दी जा सकती थी, पर इन भूखण्डो पर उनका कोई स्वामित्व नहीं था, न ही वे इन्हे रेहन रख सकते थे। जिस भूमि म लम्बे अर्से से खेती की जाती रही हो, वह यदि खाली हो जाये, तो (उस जनपद-विशेष का) राज्य भूमि मन्त्री (सीताध्यक्ष) किराये के मजदूर त था दण्डित दासो से उसे सीधे अपनी देखरेख मे जोतने की व्यवस्था करता था, दण् डित दास इस प्रकार अपनी सजा अथवा जुर्माने की भरपाई कर देते थे। बडे पैमाने पर दास-मजदूरो का कोई अस्तित्व नही था, परन्तु दण्डित दासो को निर्धारित (दण्ड) कालावधि के लिए बेचा जा सकता था। अर्कर्षित भूमि अधबटाई पर भी दी ज ाती थी—आम-तौर पर ऐसे लोगो का जिनके पास शारीरिक श्रम के अलावा देने को और कुछ न होता था। फसल के बाद बीज का अनाज काट लिया जाता था और राज्य के हिस्से का अनाज जोतनेवाले के परिवार की स्त्रियो को पीसना पडता था। जाहिर है कि ऐसी स्थितियो म राज्य के प्रतिनिधि बैलो और औजारो तक का प्रबन्ध करते थे। सयोगत, अधबटाई की यह व्यवस्था बिहार मे पूरे सामन्ती युग म टिकी रही और बाद मे, जहाँ इसका रिवाज था, अग्रेजो ने इसे जमीदार के विशेष ाधिकार के रूप म स्वीकार कर लिया। इस प्रथा के जीवित रहने से भी कुछ लोगो ने निष्कर्ष निकाला कि भारत म कोई परिवतन नही हुआ है। इस बात पर ध्यान ही नही दिया जाता कि मौर्यकाल और उससे पहले राज्य और कृपक के ब ीच मे सामन्ती बिचौलिये नही होते थे। सीता भूमि म केवल सैनिको तथा भूत पूव सनिको को ही रियायत दी जाती थी, ये लोग यदि राज्य को पाँचवाँ हिस्सा भी न दे पाते तो फिर इन्हे आसान शर्तों पर भूमि मिल जाती थी। इन लोगो को सामन्ती युग म भी ऐसी सहूलतें मिलती रही और अन्तत इन्होंने अपना एक विशिष्ट वग बना लिया जिसका काम था सैनिको के लिए रंगरूट जुटाना।

विजय किसी भी पक्ष की हो, उसके जीवन पर इसका कोई प्रभाव नही पडता था। इसे भी 'परिवतनहीन पूव' की एक विशेषता माना गया है। वस्तुत, ग्रामीण जीवन की इस जडता को आरम्भिक राज्यतन्त्र ने ही प्रयत्नपूवक प्रोत्साहन दिया था। जिस राजतन्त्र ने इन उदासीन गाँवो को जन्म दिया था वह न केवल इनके पहले ही मिट गया, बल्कि इन्होने ही उस राज्य को नष्ट किया और देश के ऊपर अपनी एक अमिट छाप छोडी।

भूमि साफ करने का काम केवल राज्य की ओर से ही नही होता था। भूमि साफ करने के लिए स्वेच्छा से कोई भी समूह, आमतौर पर अपना एक सगठन (श्रेणी) बनाकर, जगल मे पहुँच सकता था और वहाँ अपना स्थायी अथवा अस्थायी आधिपत्य स्थापित कर सकता था। यदि वे अधिकृत राष्ट्र अथवा सीता क्षेत्रो के भीतर हो, तो उन्हे तदनुरूप राजस्व देना पडता था। अन्यथा, एक कालावधि के लिए वे जनपद की निरन्तर फैलती सीमाओ के परे होते थे, और इसीलिए राजा के अधिकार-क्षेत्र से भी परे होते थे। इसका अर्थ यह था कि इन लोगो को जगल के आदिवासियो (आटविको) को शस्त्रबल से रोकना पडता था या उनके साथ प्रत्यक्ष सुलह करनी पडती थी। दोनो ही बातें सम्भव थीं, क्योकि श्रेणी आमतौर पर व्यापार तो करती ही थी, वस्तुओ का उत्पादन भी करती थी। साथ ही, वे सैनिक अभियान के समय भाडे पर सैनिक टुकडियाँ भी भेजती थी। इन्होने आटविको के विकास मे कितना योग दिया, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है, परन्तु अथशास्त्र की सूचना के अनुसार, जासूसी तथा सहायक सैनिक सेवा के लिए आटविको का भी इस्तेमाल किया जाता था, जिससे सभ्यता की ओर आगे बढने का उनका माग निश्चय ही प्रशस्त हुआ होगा।

अथशास्त्र मे वे सभी उपाय बताये गये है जो पडोसी राज्य पर आक्रमण करने के लिए इस्तेमाल मे लाये जाते थे अन्तर्राज्यीय गठबन्धन, युद्ध, विष प्रयोग, विद्रोह को प्रोत्साहन देना, आन्तरिक तोड फोड। सन्धियाँ, जो कभी जबानी होने पर भी पावन समझी जाती थी, सुविधानुसार तोडी जा सकती थी, जिसके लिए किसी अन्य कारण की जरुरत भी नही होती थी। परन्तु यहाँ आक्रमण का प्रत्यक्ष उद्देश्य खिराज प्राप्त करना नही था, जैसाकि इतिहास की जानकारी के अनुसार प्राचीन काल मे अन्यत्र आक्रमण का आमतौर पर यही प्रयोजन रहा है। यदि पराजित राजा समझदारी दिखाता (अन्यथा, उसका जीवित बचना सम्भव नही था) तो वह अपने सिंहासन के साथ-साथ अपने राजस्व तथा अधिकारियो को भी यथावत् सुरक्षित रख पाता था। विजेता एकाधिकार की माँग करता था तो केवल परती भूमि पर, जहाँ उसकी ओर से जमीन की सफाई की जाती, बस्तियाँ बसायी जाती और खानें खोदी जाती। सम्भव हो तो यह अधिकार बिना किसी युद्ध के ही प्राप्त किया जाता—पडौसी राजा से साधारण समझौता करके।

ईसा पूर्व पाँचवीं चौथी सदी का मगध एकमात्र ऐसा राज्य था जहाँ राजतन्त्र को स्पष्टत एक शास्त्र समझा जाता था। दूसरे राज्य कर वसूल करके अपनी प्रजा का शोषण करते रहते थे, परन्तु अर्थशास्त्र का राजा ऐसा न करके अन्य सीधे साधनो से राजकीय आय मे वृद्धि करता था। यूनानियो ने लिखा है कि भारतीयो को, यानी पजाब के निवासियो को, धातुकर्म तथा तकनीक की बहुत थोडी जानकारी थी, और वे सिंचाई के लिए पनचक्की का इस्तेमाल करना भी नही जानते थे। तत्कालीन मगध के बारे मे विदेशी टिप्पणी मे (जो आज उपलब्ध नही है) ऐसी भर्त्सना कदापि न देखने को मिलती। अर्थशास्त्र के राज्य मे खनिकर्म तथा हर प्रकार की सिंचाई व्यवस्था आश्चर्यजनक रूप से उच्च स्तर की थी—जिसका ठीक कारण यह था कि राज्य के सीधे अधिकार-क्षेत्र की सीता भूमियो का राजवित्तीय लाभ के लिए सर्वाधिक उपयोग किया गया था।

मौर्यों के बाद राजा को कर के रूप मे फसल का छठा भाग देने की परम्परा अस्तित्व मे आयी, परन्तु यह ज्ञात नही है कि यह परिवर्तन कब से हुआ। राष्ट्र और सीता भूमियो का भेद तेजी से मिटता गया। 'राष्ट्र' शब्द 'देश' अथवा आधुनिक अर्थ मे 'राष्ट्र' का पर्यायवाची बन गया। राज्य को 'राष्ट्र' प्रणाली से राजस्व मिलता रहा—सीधे किसान से अथवा भूस्वामियो के एक बिचौलिये वर्ग से। दूसरी स्थिति मे पट्टेदार किसान को सीता दर से कर देना पडता था और कभी-कभी फसल का आधा भाग तक देना पडता था, इस कर मे और छठे भाग वाले कर मे जो अन्तर होता वह सब भूपति के खजाने मे चला जाता था। इस प्रणाली का उद्गम मौर्यकाल मे ही हुआ था, परन्तु बाद के राजतन्त्र मे इसका आधार बिचौलियो का एक नया भूपति-वर्ग बन गया। इस नये भूपति-वर्ग मे एकरूपता नही थी, फिर भी व्यवहार मे इसके अधिकारो को स्पष्ट रूप से मान्यता मिली हुई थी और इसकी जिम्मेदारी हो गयी कि यह राज्य को, जो अब उसका अपना राज्य हो गया था, सहायता दे, यद्यपि बाह्य रूप से अब भी निरकुश राजतन्त्र का ही अस्तित्व था।

६.४ राज्य और पण्य-उत्पादन

अर्थशास्त्र का राज्य एक अन्य अद्भुत बात मे प्राचीन काल के दूसरे ज्ञात राज्यो से—भारत के अथवा बाहर के—भिन्न था, यह बडे पैमाने पर पण्य-उत्पादन करता था। जैसाकि हमने देखा है राज्य की मुख्य आमदनी सीता भूमियो से था, जिनकी एक चौथाई अथवा इससे भी अधिक उपज राज्य के गोदाम (पण्यगृह) मे पहुँचती थी, 'राष्ट्र' कर यद्यपि उतने भारी नही थे, पर उपज के रूप मे ही वसूल किये जाते थे। उपयोग मे लाने के लिए अनाज को कूटकर साफ करना और सम्भवत पीसना भी आवश्यक था, तेल के बीजो को पेलकर तेल प्राप्त करना जरूरी था, कपास को धुनकर व कातकर सूत निकालना जरूरी

था, ऊन को छाँटकर और साफ करके कम्बल बनाने जरूरी थे, इमारती लकडी को चीरकर और छीलकर तख्ते और कडियाँ तैयार करनी थीं, इसी प्रकार और भी कई जरूरी काम थे। राज भण्डारो का अध्यक्ष राज्य के निरीक्षण म ये सारे काम अधिकतर स्थानीय मजदूरा (स्त्री पुरुष दोनो) से उस समय करवा लेता था जब खेती के काम मे शिथिलता आ जाती थी, इह भोजन के अलावा कुछ मासिक मजदूरी भी दी जाती थी। अथशास्त्र मे पण्य सग्रह सम्बधी सभी प्रक्रियाआ का पूरा विवरण दिया गया है सफाई के हर दौर म किस सीमा तक नुक्सान होता है, कुशल मजदूरो से कितनी औसत उपज होती है, और अन्तत उपज का तौल या माप कितना होता है, इत्यादि, लगता है कि हम राज्यतत्र का ग्र थ नही, बल्कि किसी कारखाने की उपज का विवरण पढ रहे हैं। हिसाब किताब की ऐसी व्यवस्था के कारण धोखा देना बहुत कठिन रहा होगा। अकुशल राजकमचारी की लापरवाही के कारण राजस्व की जितनी क्षति होती थी उतना उसे जुर्माना देना पडता था, जो कुशल कमचारी नये स्रोता से अथवा काम के नये बेहतर तरीके इस्तेमाल करके अनुमान से अधिक आय दिखाता था, उसे पुरस्कृत किया जाता था। इसके अलावा, बजट बनाने की दृष्टि से राज्य के पण्य गृहो का बडा महत्त्व था और प्रत्येक पण्यगह मे एक वर्षा-मापक उपकरण रखा जाता था, जिसके रिकाड के आधार पर भूमि का वर्गीकरण करके राजस्व का अनुमान लगाया जाता था।

अन्त मे तैयार माल को बेच दिया जाता था। इस माल का अधिकाश भाग राज्य-सेवा के अय विभागो मे खप जाता था, जैसे, सेना म, पर यह हस्तातरण बिक्री द्वारा होता था और इसका पूरा पूरा हिसाब रखा जाता था। राज्य अपन सैनिको को अच्छा वेतन देता था, परन्तु युद्ध-अभियान के दौरान अधिक-से अधिक वेतन वापस लेने की कोशिश की जाती। इसके लिए वेतनधारी राज्य प्रतिनिधि व्यापारियो के वेश मे सैनिक छावनियो म पहुँचते और दुगुने दामो पर माल बेचकर मुनाफा राजकोष मे जमा कर देते थे। राज्य के प्रत्यक कमचारी को नकद वेतन मिलता था, वेतन का यह ब्योरा बडा विस्तृत और रोचक है (देखिए, अथशास्त्र ५ ३)। सबसे अधिक वेतन—प्रति वप ४८,००० पण—राजा के पुरोहित मन्त्री, राजमहिषी, राजमाता, युवराज और सेनापति को दिया जाता था। सबसे कम वेतन—प्रति वप ६० पण—भारी सख्या म सनिक छावनियो और राज्य की निमाण-याजनाओ पर कोल्हू के बल की तरह बडी मेहनत करनेवाले मजदूरा को मिलता था, इस श्रम को विष्टि कहत थ, और इसम कुछ हद तक जोर जबरदस्ती भी होती थी, पर वेतन अवश्य दिया जाता था जबकि साम ती युग मे इसी शब्द का अथ हो गया—जबरदस्ती की और बिना वेतन की बेगार, जो राजा अथवा स्थानीय सामन्त के आदेश पर, प्रकट रूप

मे सावजनिक भलाई के लिए, किसानो और कारीगरो को करो के बदले अथवा इनके अतिरिक्त देनी पडती थी। इस विष्टि श्रम के अतगत ज्यादातर ऊबड-खाबड प्रदेश मे सडके बनाने, सिंचाई के लिए नहरें खोदने, किलेबन्दी के लिए खाइयाँ खोदने और बाँधो के लिए मिट्टी-पत्थर ढोने का काम करना पडता था। प्रति वष ६० पणो (चाँदी के सिक्को) के इस वेतन से जाहिर होता है कि कडी शारीरिक मेहनत करते हुए साल भर गुजारा चलाने के लिए इतनी निम्नतम आय जरूरी थी, और सम्भवत इसम से आश्रितो के लिए भी कुछ बचता होगा। (यह वेतन प्रतिमाह १७ ५ ग्राम चाँदी के तुल्य था, अठारहवी सदी के आरम्भिक दिनो म ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी निम्नतम स्तर के भारतीय मजदूरो को लगभग ठीक इतनी ही मजदूरी देती थी।) बढइयो और शिल्पियो (काष्ठ शिल्पी) को राज्य की ओर से १२० पण वेतन मिलता था। प्रशिक्षित एव पूण शस्त्र-सज्जित पदाती को ५०० पण वेतन मिलता था, राज्य सेवा के लेखक (क्लक) और सख्यायक (लेखापाल) को भी इतना ही वेतन मिलता था (सेनाध्यक्षो तथा विभागाध्यक्षो को, जैसाकि स्वाभाविक था, इससे कही अधिक वेतन मिलता था)। कुशल धनक और अभियन्ता को प्रति वष १००० पण मिलते थे। विभिन्न वेश धारण करने म कुशल श्रेष्ठ गुप्तचर को भी इतना ही वेतन मिलता था, इसी प्रकार उस गुप्तचर को भी जो आमतौर पर गृहस्थ, व्यापारी अथवा साधु की जीविका म अपने को गोपनीय रखता था। ये गुप्तचर जिस किसी भी वर्ग की जीविका को अपनाते, उसी के स्तर के अनुसार उनकी दिनचर्या होती थी और इन्हें अतिरिक्त भत्ता भी नही मिलता था, इसलिए यह माना जा सकता ह कि मगध के गृहपति के जीवन-स्तर तथा रहन-सहन के लिए कम से-कम प्रति वष १००० पण वेतन काफी पर्याप्त था। निम्न स्तर के गुप्तचरो—हत्यारो, अक्खडो, विष देनेवालो और भिखारिन-वेशधारी स्त्रियो (जिन्ह राजमहल से लेकर सामान्य गृहस्थ के घर तक स्त्रियो के कक्षो मे अबाध प्रवेश मिलता था)—को ५०० पण मिलते थे, इतना ही वेतन ग्राम-सेवको को मिलता था।[1] राजकीय दूत को, गन्तव्य स्थान की दूरी के अनुसार, निर्धारित वेतन भत्ता मिलता था—अधिक दूर जाना हो तो दुगुनी राशि मिलती थी। राज्य-सेवाकाल मे विकलांग हुए व्यक्तियो को और सेवाकाल मे मत सेवको तथा अधिकारियो के असहाय आश्रितो को नियमित पेंशन दी जाती थी। दीर्घ-कालीन सेवा के लिए भत्ते के रूप मे चावल अथवा धान्य का और उपहार के रूप म वस्त्र या इसी प्रकार की अन्य चीज का विशेष अधिलाभाश दिया जाता था। ऐसी कोई चीज वितरित नही की जाती थी जिससे राजस्व मे स्थायी रूप से कटौती आ जाय, नकदी की कमी हो तो राजा अपने भण्डारो से कोई भी वस्तु उपहार म दे सकता था, परन्तु भूमि अथवा पूरा गाँव नही दे सकता था।

चाणक्य जैसे ब्राह्मण मन्त्री का यह निषेधादेश आश्चर्यजनक जान पड़ता है, जब हम देखते हैं कि बिम्बिसार और पसेनदि ने याज्ञिकों को गाँव दान दिये थे, पसेनदि तो राजकुमार या सैनिक अधिकारी को भी कभी-कदा कोई गाँव पुरस्कार में दे देता था। अर्थशास्त्र में ऐसा वंशागत उपहार देने के बारे में स्पष्ट निषेध है, परन्तु बाद में सामन्ती युग में यही एक आम रिवाज बन गया। मगधीय राज्य का सेवक अधिक-से-अधिक जिस उपहार की अपेक्षा रख सकता था वह था सीता भूखण्ड, जो उसे उन्हीं शर्तों पर मिलता जो दूसरों के लिए निर्धारित थीं, लेकिन सीता भूखण्ड प्राप्त करनेवाला व्यक्ति राज्य सेवा के दौरान अपाहिज हो गया हो अथवा बुढ़ापे के कारण सेवा-निवृत्त हुआ हो, तो उसके लिए शर्तें कुछ हलकी हो सकती थीं, परन्तु भूमि जोतना और नियमित रूप से राजस्व अदा करना अनिवार्य था।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि मगधीय शासन सुदृढ़ नकदी अर्थव्यवस्था पर आधारित था। 'पण' अथवा 'कार्षापण' शब्दों से कुछ भ्रम पैदा हुआ है। बाद में जाकर इन शब्दों का अर्थ 'ताँबे के सिक्के' हो गया, परन्तु अर्थशास्त्र का पण चाँदी का था, जैसाकि इस ग्रन्थ की सूचनाओं से और उस काल के अनेकानेक पुरातात्त्विक प्रमाणों से सिद्ध होता है। उस काल के ३.५ ग्राम चाँदी के मानक सिक्कों की कई सारी निधियाँ मिली हैं, लेकिन सोने का कोई सिक्का नहीं मिला है और ताँबे के सिक्के बहुत कम मिले हैं। जब हम चन्द्रगुप्त की विशाल सेना के बारे में सोचते हैं, और यह भी मानकर चलते हैं कि इस सेना में भत्यों, विष्टि मजदूरों अथवा बेगारों तथा परिचारकों की संख्या काफी अधिक रही होगी, तो लगता है कि इसके लिए विपुल मुद्राकोष की जरूरत पड़ती होगी। इस बात को विशेष रूप से स्मरण रखना जरूरी है कि अपने भूक्षेत्र के तमाम खनिकर्म पर राज्य का नियन्त्रण था। यह इसी से स्पष्ट है कि खनिक को, जो खनिज के सर्वेक्षण से लेकर उसके शोधन तक सारे कामों की देखभाल करता था, ऊँचा वेतन मिलता था। राज्य के एकाधिपत्य के बारे में चाणक्य की उक्ति है 'राजकोष का स्रोत खनिकर्म में है और सेना का स्रोत राजकोष में। जिसके पास कोष और सेना है वह सारी पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर सकता है (और राजकोष उसका भूषण बनता है)।'[1] यूनानी लोग भारी उद्योग के इस मूलभूत महत्त्व को भलीभाँति समझ सकते थे, परन्तु तत्कालीन पंजाब के लोग नहीं समझ पाये, न ही सम्भवतः मौजूदा समय के पहले के आम भारतीय राजनीतिज्ञ समझ पाये। अर्थशास्त्र में कच्चे खनिजों की विभिन्न किस्मों के भेद बताये गये हैं और इनके

---

१ आकरप्रभवः कोशः कोशाद्दण्डः प्रजायते।
पृथिवी कोशदण्डाभ्यां प्राप्यते कोशभूषणा ॥—अर्थशास्त्र २ १२ ३७

अवक्षरण तथा प्रद्रावण के बारे मे संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट सूचनाएँ दी गयी हैं। कही पर भी इस बात का आभास नही दिया गया है कि उपयोगी औजारो, बतनो तथा आभूषणो का निर्माण राज्य की ओर से होगा, राज्य धातु की काफी मात्रा व्यापारियो, शिल्पियो की श्रेणियो, स्वणकारो तथा निजी निर्माताओ को बेच देता था। यहाँ तक कि निजी तौर पर चाँदी के सिक्के भी चलाये जा सकते थे, परन्तु इसके लिए चाँदी के टुकडो को टकसाल में ले जाना जरूरी था, जहाँ मिश्र-धातु तथा तौल की जाँच के बाद, यदि वे मानक सिद्ध होते तो, उनपर समुचित चिह्न आहत किये जाते, इसके बाद वे सिक्के वैध मुद्रा माने जाते। जाली सिक्के बनाने पर कठोर दण्ड मिलता था। पता चलता है कि वस्त्र, बतन तथा टोकरियो-जैसी वस्तुएँ निजी तौर पर बनती थी और बेची जाती थी। तो फिर निजी पण्य-उत्पादक और राज्य के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध थे ?

व्यापारी या विक्रेता राज्य से अथवा किसी भी अन्य स्रोत से कोई भी उपलब्ध चीज खरीद सकता था। कोई भी किसान अपनी अतिरिक्त उपज, यदि उसके पास हो तो, किसी भी खरीददार को बेच सकता था या किसी उपयोगी वस्तु के साथ उसकी अदला-बदली कर सकता था। प्रत्येक जनपद के राजकीय पण्यगृहो मे आपात-काल के लिए न केवल धान्य तथा खाद्य-वस्तुओ का बल्कि रस्सियो, इमारती लकडी, औजारो एव इसी प्रकार की अन्य वस्तुओ का स्थायी सचय रखना पडता था। अकाल, अग्निकाण्ड, बाढ अथवा महामारी या ऐसी ही किसी विपदा से किसी वष असाधारण स्थिति पैदा होती तो इन्ही भण्डारो से जनसाधारण को राहत पहुँचायी जाती। सावत्थी के समीप (सहगौरा, गोरखपुर जिला) से मिले एक उत्कीण ताम्रपत्र स और महास्थान (बोगरा जिला, बाग्ला देश) से प्राप्त एक शिलाखण्ड पर उत्कीण लेख स भी न केवल यह सिद्ध होता है कि ऐसे राजकीय भण्डारो का अस्तित्व था बल्कि यह भी सिद्ध होता है कि वस्तु-सग्रह करने और सहायता देने के आदेश दिये जाते थे। इस आरक्षित सचय के अलावा बाकी सब-कुछ बेचा जा सकता था। माल खरीदने के बाद ही व्यापारी की असली दिक्कतें शुरू होती थी। एक कठोर नियम यह था कि, '(कोई भी व्यापारी अथवा विक्रेता) किसी भी पण्य-वस्तु को उसके निर्माण-स्थल पर नही बेच सकता था।' इसका अथ यह था कि खरीदे हुए माल को किसी-न किसी प्रकार तैयार करना होता था और फिर उसे आमतौर पर कही दूर ले जाना होता था। व्यापारी को माल के मूल्य मे तैयार करने तथा दूर तक ढोकर ले जाने की कीमत भी जोडनी पडती थी, माल और मुद्रा के प्रचलन को सन्तोष-जनक स्तर पर रखने के लिए इस पण्य परिवहन का बडा महत्त्व था। समय-समय पर बाँटो और मापो की जाँच होती थी (जिसके लिए अनुज्ञा शुल्क देना पडता था), साथ ही माल की भी जाँच-पडताल होती थी। एक जनपद से दूसरे

के पास यदि किसी प्रकार की सम्पत्ति हो तो मालिक उसे छीन नहीं सकता था, कोई भी दास, स्त्री या पुरुष, अपने श्रम की वैधानिक मूल्य मे गणना करके अपनी आजादी खरीद सकता था। वेतन पानेवाले मजदूर एक ऐसे समुचित अनुबन्ध-कानून द्वारा सुरक्षित थे जो एक ओर मजदूरो को बाँधता था तो दूसरी ओर उनसे काम लेनेवाले ठेकेदारो को भी। और फिर, सीमाहीन जगल भी था, जिसमे कोई भी साहसी व्यक्ति शरण ले सकता था। वहाँ अन्न सकलन करके जीवन निर्वाह करना सदैव सम्भव था और आटविको के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर वहा कृषि के लिए भूखण्ड भी साफ किया जा सकता था, जनपद की सीमा जब तक वहाँ न पहुँचे, तब तक राज्य की ओर से कोई परेशानी नही थी, न ही कोई कर देने की जरूरत थी। यद्यपि व्यापारी के ऐसे हित भली-भाँति सुरक्षित थे जिनका राज्य के हितो से टकराव नही था, फिर भी राज्य-कानून का आम दष्टिकोण यही था कि व्यापारी बुनियादी तौर पर धूर्त होता है और यदि उसे समय-समय पर भलीभाति जाँचा न जाये, नियन्त्रण मे न रखा जाये और दण्ड न दिया जाये तो वह सबके लिए घातक बन जाता है। बौद्ध दष्टिकोण से स्पष्टत इतने अधिक भिन्न किसी अन्य दृष्टिकोण की कल्पना नही की जा सकती।

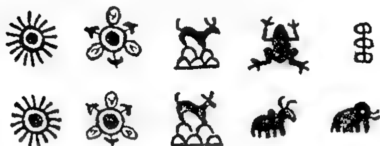
हर चीज का मूल्य कूता जाता था, यह बात अर्थदण्डो की सूची से जाहिर होती है, अर्थशास्त्र के एक प्रामाणिक अनुवाद की अनुक्रमणिका मे अर्थदण्डो की यह सूची साढे नौ कालमो मे दी गयी है और इसमे भी कई ऐसे विषय छोड दिये गये है जिन्हे अन्यथा पाप या अभद्र आचरण की कोटि मे शामिल किया जाता। ब्राह्मण पुरोहित भी, अन्य अनुबन्धित व्यक्तियो की भाँति, पूजा-पाठ के लिए अपनी सहमति के कारण कानूनी तौर पर बँधा हुआ था। तपस्वी को, जिनके पास छोटे-मोटे अपराध का जुरमाना देने के लिए भी सम्पत्ति नही होती थी, राजा के लिए प्रार्थनाओ के रूप मे अदायगी करनी पडती थी। वेश्यावत्ति को न तो अपराध समझा जाता था, न ही पाप, बल्कि एक पृथक मन्त्री (गणिकाध्यक्ष) के अन्तर्गत यह पेशा एक प्रकार का राजकीय उद्यम था। गणिकावत्ति के लिए भी उसी प्रकार सर्वांगीन नियम थे जैसे कि पण्य-व्यापार अथवा दूसरी कम कुतूहलजनक सेवाओ के लिए थे। एक सीमा तक धनार्जन के बाद गणिकाएँ अपना पेशा त्यागकर सम्भ्रान्त जीवन व्यतीत कर सकती थी, क्योकि उस समय इस पेशे को उतना हेय नही समझा जाता था जितना कि यह बाद मे हो गया, परन्तु राज्य का ऋण चुकाना अत्यावश्यक था। वयोवृद्धा गणिका राज्य की सेवा मे अधीक्षिका ('मातृका') भी बन सकती थी। मदिरा के लिए भी एक पृथक् मन्त्री (सुराध्यक्ष) था, जो शराब के उत्पादन से लेकर इसकी बिक्री तक सारी व्यवस्था देखता था। राज्य का एक विशेष अधीक्षक

(द्यूताध्यक्ष) सारे द्यूतागारों का संचालन करता था। इन सारे उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि नागरिक जीवन में हर क्षेत्र में मुद्रा-अर्थव्यवस्था व्याप्त थी। यहाँ सिर्फ यही ध्यान में रखना जरूरी है कि सबसे अधिक लोग 'मूक' सीता-ग्रामों में आबाद थे, जहाँ हर सम्भव प्रयत्न होता था कि उन्हें खेती के सख्त काम में सदा व्यस्त रखा जाय। गणिकाओं, सुरागारों तथा द्यूतागारों की सुविधाएँ केवल नगरों एवं कस्बों के लिए ही थीं, आमतौर पर गाँवों के लिए नहीं। जब हम कहते हैं कि मगधीय राज्य एवं समाज ने हर चीज का मुद्रा-मूल्य निर्धारित किया था, तो यह कथन मुख्यतः नगरीय जीवन, सार्थ-व्यापारी तथा राज्य-अधिकारियों पर लागू होता है, सीता भूमि पर जबरन बसाये गये गरीब किसानों पर नहीं।

६.५ असोक और मगधीय साम्राज्य का चरमोत्कर्ष

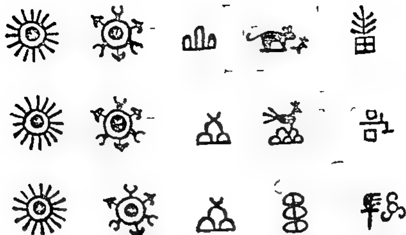
चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र और बिन्दुसार के पुत्र असोक (संस्कृत अशोक) ने राज सिंहासन लगभग २७० ई० पू० में सँभाला। उसके अभिलेख अब तक पढ़े गये भारतीय अभिलेखों में सबसे प्राचीन हैं। उसके जीवन के बारे में यत्र-तत्र जो आख्यान मिलते हैं, उनके आधार पर कोई क्रमिक विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। कहा जाता है कि अपने सौतेले भाइयों की हत्या करके असोक सिंहासन पर बैठा था, उसने कम-से-कम ३६ साल तक राज्य किया, जिनमें से आरम्भ के आठ साल तक उसका शासन बड़ा क्रूर रहा। एक आख्यान के अनुसार, असोक ने बंदियों को यातनाएँ देने के लिए जो विशेष 'नरक गृह' बनवाया था वह स्थल पटना के समीप यात्रियों को सदियों तक दिखाया जाता रहा। यह पार्थिव 'नरक' वास्तव में मगध के कारावासों के कठोर जीवन का परिचायक था। जो असंदिग्ध अपराधी उद्दण्ड और जिद्दी होते थे उन्हें कारागृहों में कठोर काम में जोतने के साथ-साथ यातनाएँ भी दी जाती थीं। सामन्ती युग के आरम्भ काल में ऐसी यातनाएँ देना बन्द हो गया था, पर परवर्ती सामन्ती युग में यह प्रथा पुनः शुरू हो गयी। विभिन्न विवरणों के कारण दो असोकों में कुछ भ्रम पैदा हो जाता है, जिसका कारण यह है कि ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के एक मगधीय राजा के सिक्कों पर भी लगभग वही चिह्न आहत हैं जो कि दो सौ साल बाद के महान् असोक के सिक्कों पर देखने को मिलते हैं। दोनों ही प्रकार के सिक्के असोक द्वितीय के समय में और बाद में भी प्रचलित रहे। अतः पहले के उस शिशुनाग राजा को कालासोक ('प्राचीन असोक') नाम देना स्वाभाविक ही था। मौर्य असोक ने अपने को देवानंपिय पियदसि (देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी) कहा है। 'देवानंपिय' आमतौर पर राजाओं की उपाधि थी, इसमें राजा के दैवी अधिकार का अर्थ निहित नहीं है, क्योंकि बुद्ध के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग होता था। मास्की (कर्णाटक) और गुजर्रा (मध्यप्रदेश) में खोजे गये शिलालेखों से जो असोक के दूसरे लेखों जैसे ही हैं यह सिद्ध हो

गया है कि इन्हें असोक ने ही खुदवाया है, क्योंकि इनमें पियदसि और असोक नाम समानार्थक हैं। बौद्ध वाङ्मय (संस्कृत, पालि और चीनी) ने असोक को अमर ही नहीं, एक आख्यान पुरुष बना दिया है, क्योंकि उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और भिक्षु संघ को उदारतापूर्वक दान-दक्षिणा दी थी। महान् असोक के सिक्कों को अभी हाल तक पहचाना नहीं गया था, क्योंकि उन पर कोई नाम अथवा लेख नहीं है, सिर्फ दूसरे आहत सिक्कों-जैसे चिह्न हैं।



चित्र १३ शिशुनाग सिक्के (चाँदी) जिनमें ऊपर के चिह्न उस राजा के हैं जो बाद में कालासोक (लगभग ४२० ई० पू०) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि यहाँ पाँचवाँ चिह्न असोक मौर्य के सिक्कों के (चौथे) चिह्न के लगभग समान ही है। पहले के सभी सिक्के परवर्ती शासनकालों में भी चलते रहे यदि विजय प्राप्त करके शासन पर अधिकार किया गया हो तो नया राजा कभी-कभी अपने चिह्न उन सिक्कों पर आहत करवाता था। नीचे की पंक्ति के चिह्न, जिनमें 'नन्दिन्' राजा का निजी चिह्न है उन मुद्राओं के हैं जिनका मौर्यों के पहले सर्वाधिक प्रचलन रहा और इसलिए ये अत्यधिक समृद्ध एवं दीर्घकालीन शासन के सूचक हैं। सम्भवतः इस चिह्न (नन्दिन्) के कारण ही नन्दराज अथवा नन्दवंश अपनी समृद्धि के लिए प्रसिद्ध हो गया।

असोक स्वयं जानकारी देता है कि राज्यारोहण के आठवें वर्ष में हुए विनाशकारी कलिंग (उड़ीसा) अभियान के बाद उसमें एकाएक परिवर्तन हो गया। इस युद्ध में एक लाख लोग मारे गये और इससे भी कई गुना लोगों की मृत्यु युद्धजनित कारणों से हुई। १५०,००० लोगों को निर्वासित किया गया, इस सन्दर्भ में जिस अपवह् क्रिया का प्रयोग किया गया है वह अर्थशास्त्र के उस शब्द के सदृश है जिसका अर्थ है—सीता भूमि में जबरन पुनर्वासित करना। यह मौर्यों की अन्तिम बड़ी युद्ध विजय थी। इसके बाद कलिंग के लोग—जितने भी बचे थे—असोक के विशेष संरक्षण में आ गये, मानो वे उसकी सन्तान हों। लगभग इसी समय से असोक मगध के धार्मिक उपदेशकों की ओर आकर्षित हुआ और वह बौद्धधर्म में दीक्षित हुआ। इस धर्म-परिवर्तन ने, जिसकी तुलना अक्सर रोमन सम्राट कान्स्टन्टाइन द्वारा ३२५ ई० में ईसाई धर्म स्वीकार करने से की



चित्र १४ पहले तीन मौर्य सम्राटों—चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और असोक—के सिक्के । यहाँ प्रत्येक राजा के केवल एक ही प्रकार के सिक्के दरशाये गये हैं, पर असोक ने कई दर्जन किस्म के सिक्के चलाये थे, क्योंकि उसके लम्बे और शान्तिपूर्ण शासनकाल मे अनेक टकसालो में सिक्के बनते रहे। किन्तु चन्द्रगुप्त के बाद मौर्यों के चाँदी के सिक्कों में ताँबे की मात्रा एकाएक बढ़ गयी और तौल में भी न्यूनाधिकता देखने को मिलती है, जो आदिम मुद्रा-स्फीति तथा प्रचलित मुद्रा पर दबाव की परिचायक हैं।

जाती है, ऐसे किसी संगठित चर्च की सृष्टि नहीं की जो राज्य से सम्बन्धित हो, न ही दूसरे भारतीय धर्मों को खत्म किया, जैसाकि राजकीय ईसाई धर्म ने रोमन साम्राज्य से मूर्तिपूजक विधर्मियों को खत्म कर दिया था। इसके विपरीत, असोक तथा उसके उत्तराधिकारियों ने ब्राह्मणों और जैनों तथा आजीवकों को भी उदारतापूर्वक दान-दक्षिणा दी। महान् असोक अपने राज्य के सम्मानित वयोवृद्धों से भेंट करता था, राज्य के दौरे पर निकलता तो ब्राह्मणों तथा श्रमणों से वार्तालाप करता और हर धर्म-जाति के व्यक्तियों को धन तथा उपहारों से सहायता करता। बुनियादी तौर पर यह परिवर्तन उतना धार्मिक नहीं था जितना कि एक भारतीय राजा द्वारा अपनी प्रजा के प्रति पहली बार प्रकट किये गये दृष्टिकोण के बारे में था : "जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह इसलिए कि प्राणियों के प्रति मेरा जो ऋण है उससे उऋण हो जाऊँ।"[1] राजत्व का यह अद्भुत आदर्श नया ही नहीं, प्रेरणादायक भी था, यह उस पूर्ववर्ती मगधीय राजतन्त्र के लिए सर्वथा विस्मयकारी था जिसमें राजा ही राज्य की परम सत्ता का प्रतीक

१ य च किंचि पराक्रमामि अहं किति भूतानं आनंणं गछेयं
—गिरनार का षष्ठ शिलालेख

मे निर्मित असोक का नया भव्य प्रासाद तथा इसी प्रकार के दूसरे भवन आराम और ठाट-बाट के लिए थे, दूसरे राजा भी ऐसा ही करते। अर्थशास्त्र का राजप्रासाद उपयोग और व्यक्तिगत सुरक्षा की दृष्टि से बनाया जाता और उसमे लकडी का इस्तेमाल होता, जबकि असोक ने अधिक मात्रा म पत्थरो का इस्तेमाल किया और इन पत्थरो को शीशे जैसा ओपदार बनवाया। असोक के स्तम्भा की शैली, ओप तथा सुदर घण्टाकार शीष, जिसका बाद के भारतीय स्तम्भो म खूब इस्तेमाल हुआ, हखामनि स्थापत्य की अनुकृति बताये जाते हैं। कहा जाता है कि असोक को दारयवहु प्रथम के अपदन प्रासाद का नमूना ही नही, कारीगर भी मिले थे। चूकि अपदन प्रासाद पाटलिपुत्र से २००० मील की दूरी पर था और ५०० ई० पू० के पहले बना था और सिकदर की रँगरलिया के दौरान ३३० ई० पू० मे इसे जला दिया गया था, इसलिए इस कथन को शब्दश सच मानने की जरूरत नही है। असोकीय कला, जिसमे मैं साँची के भव्य किन्तु कुछ बाद के तोरण द्वारा का भी समावेश करता हूँ, सुविकसित काष्ठशिल्प की परम्परा को सीधे पत्थर म उतराने की परिचायक है। कार्ले, कोडणे तथा दूसर स्थलो के चैत्यगृहो के उच्चित्रो से प्रकट होता है कि बहु मजिले भवन अधिकतर लकडी के बने होते थे, यहा तक कि विशिष्ट 'बौद्ध तोरण' भी आरम्भ म लकडी के ही बनते थे। पटना के समीप के कुमरहर स्थान की खुदायी मे जिस परवर्ती मौय सभा-मण्डप के अवशेप मिले है (जिसे पहले भ्रातिवश असोक का राज प्रासाद समझा गया था) उसका फश, उसकी भीतरी तथा ऊपरी छत, दरवाजे खिडकियाँ आदि, यहा तक कि नालियाँ भी, भारी इमारती लकडी से निर्मित थी। इस सभा-भवन के सुदर ओपदार प्रस्तर-स्तम्भ जमीन मे खडे गाडे गय भारी लटठो पर मिटटी के थर बिछाकर दढतापूवक खडे किये गये थे। आज तो यह परिवेश वक्षविहीन हो गया है, पर प्राचीन काल मे यहाँ इमारती लकडी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध थी, ईसा की सातवी सदी मे भी बिहार मे छीले हुए लटठो से मीलो लम्बी सडकें बनती थी। पटना की सर्वोत्तम क्लिबदी इमारती लकडी से हुई थी और इस पर मिट्टी का लेस चढा दिया गया था।

भारतीय कला व स्थापत्य की, जो निश्चय ही भारतीय सस्कृति की सबसे कम मूल्यवान् निधि नही है, शुरुआत असोक के समय से मानी जा सकती है बावजूद इसके कि सिंधु सभ्यता मे भी निमाण-काय हुआ था। असोक के पाटलिपुत्र प्रासाद के भग्नावशेप ४०० ई० म भी चीनी यात्रियो को भव्य प्रतीत हुए थे और वे उन्हें जिना तथा देवताओ द्वारा निर्मित समझते थे। असोक न ऐसे महत्त्व के सावजनिक निर्माण कार्यों पर काफी धन खच किया जिनसे राज्य को कोई मुनाफा नही था। साम्राज्य भर मे मनुष्यो और पशुओ के लिए चिकित्सा लय स्थापित किये गये जिनमे राज्य के खच पर इलाज की व्यवस्था थी। सभी

प्रमुख व्यापारी मार्गों पर एक एक योजन (पाँच से नौ मील तक की दूरी, इस शब्द का मूल अर्थ वह दूरी थी जो लम्बी यात्रा के दौरान बैलों को विश्राम के लिए छोडे बिना बैलगाडी द्वारा आसानी से तै की जाती थी) की दूरी पर सुव्यवस्थित रूप से छायादार कुंज, बावडियाँ, फलो के बाग तथा विश्राम गह बनाये गये थे। ये नयी सुविधाएँ अशोक के अपने राज्य मे ही नही बल्कि सीमाओ के बाहर भी जुटायी गयी थी, जाहिर है कि व्यापारियो के लिए ये वरदान जैसी थी, विशेषकर इसलिए कि अनेक पडावो पर वैद्यो तथा पशु चिकित्सका का प्रबन्ध था। ये सब काय पिछले अध्याय मे उद्धृत बौद्ध प्रवचन म बताय गय परोपकारी चक्रवर्तिन् राजा के कतव्यो के सदृश है। अर्थशास्त्र मे ऐसे कार्यो के बारे मे नही सोचा गया है जिनसे अर्थलाभ न होता हो, यद्यपि उस निष्ठुर ग्रन्थ मे भी इस बात पर जोर दिया गया है कि बूढो, अपाहिजो तथा अनाथो की सहायता करनी चाहिए।

इसका तात्पय यह नही है कि अशोक दान धम के कार्यों मे ही व्यस्त रहता था, कि उसन शासन-व्यवस्था की उपेक्षा की। वह स्पष्ट शब्दो मे कहता है कि राजा द्वारा हर समय प्रतिवेदका (गुप्तचरो) से समाचार सुनने की प्रथा अब नही रही। उसने यह बात चन्द्रगुप्त के व्यापक अभियानो, बिन्दुसार की बचे खुचे कबीलो को समेटने की सनिक-कार्यवाहियो तथा सम्पूण प्रायद्वीप मे फैले हुए राज्य को देखकर ही कही होगी। अशोक कहता है 'इसलिए मैंने यह प्रबन्ध किया है कि हर समय चाहे मैं खाता होऊ या मैं अन्त पुर मे रहूँ या शयनगह मे होऊ या टहलता होऊँ या सवारी पर होऊँ या कूच कर रहा होऊँ, सब जगह सब समय, प्रतिवेदक प्रजा का हाल मुझे सुनावें।' अथशास्त्र मे वर्णित राजा की दिन चर्या की उपेक्षा की गयी थी, परन्तु अब उसे विशेष प्रयत्न के साथ पुन लागू किया जा रहा था। किन्तु चाणक्यीय प्रशासन म महत्त्वपूर्ण परिवतन कर दिये गये थे। (अप्रमाणित परम्परा के अनुसार चाणक्य बिन्दुसार के शासन के आरम्भिक काल मे सेवा निवृत्त हुआ था।) अब स्वय राजा अपने पूरे राज्य का हर पाचवें साल दौरा करता था। अत इन पाँच सालो का अधिकाश समय दौरे मे ही व्यतीत होता होगा, जिसका अथ है—वर्षा ऋतु के दिनो के अलावा बाकी समय निरन्तर दौरे पर रहना। इससे पहले राजकीय यात्राएँ, आमोद प्रमोद जैसे शिकार, के लिए होती थी अथवा सैनिक अभियानो के लिए। इसी प्रकार प्रशासन के हर उच्चाधिकारी (युक्त, रज्जुक तथा प्रादेशिक) को आदेश था कि वह हर पाँचवें साल अपन समूचे अधिकार क्षेत्र का दौरा करे। इसके अलावा, राज कमचारियों तथा विशेष निधियो पर नियन्त्रण रखने के लिए पूर्णाधिकार प्राप्त अधीक्षक भी नियुक्त किये गये। इन्हे धम महामात्र कहा गया है, जिसका अथ होगा 'सदाचार-मन्त्री', परन्तु बाद मे इसका अथ हो गया 'दान धम सम्बन्धी

कार्यों का उच्चायुक्त'। असोक के समय मे इस पद का सही अर्थ था—'सम-दृष्टि का उच्चायुक्त'। समदृष्टि, संहितावद्ध कानून व सामान्य कानून के पर, एक ऐसा सिद्धान्त है जिस पर कानून और न्याय दोनों ही आधारित माने जाते हैं। धम्म' शब्द का आरम्भिक अर्थ भी ठीक यही था और इसलिए मिनान्दर द्वारा 'धम्मक' के लिए प्रयुक्त यूनानी शब्द 'दिकाइओ' बिल्कुल सही था। इन नये महामात्यों का एक काम यह था कि, कानून को माननेवाले सभी समुदायों एवं सम्प्रदायों की शिकायतों की जाँच करें और उन्हें न्याय दिलायें। साथ ही, ये महामात्य ऐसे सभी समुदायों एवं सम्प्रदायों के मतों और सिद्धान्तों की भी जाँच-पड़ताल करते थे। राजा जब दौरे पर निकलता तो वह स्वयं भी यह सब देखता था। आदिम समूह-कानून को आदिम समूह धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता। अर्थशास्त्र के जनपद निवासी, विशेषतः ग्रामवासी, निश्चय ही आदिम अवस्था में थे। कृषि से सम्बंधित कोई भी कार्य—हल जोतने से लेकर अन्त मे ओसाई तक—शुरू करने के पहले अनुष्ठान किये जाते थे (आज भी किये जाते हैं) और बहुत-सी प्रथाएँ अन्न संग्रहक समाज की विरासत थी। अतः समस्या थी—इन संकीर्ण और कभी-कभी परस्पर विरोधी विश्वासों को एक अन्न-उत्पादक बृहत्तर समाज में किस प्रकार समायोजित किया जाये। बौद्धधर्म का लक्ष्य भी यही था, परन्तु उसने यज्ञकर्म तथा हर प्रकार की आनुष्ठानिक बलि की निन्दा की है जब कि अर्थशास्त्र ने यज्ञ की उपेक्षा की है और जनपद की विपदा—चाहे सर्पों की, चाहे मूषकों की या महामारी की—से रक्षा करने के लिए जादू टोने का प्रयोग करने की सलाह दी है।

असोक ने सभी प्राणियों के वध पर प्रतिबंध नहीं लगाया, केवल कुछ विशिष्ट पशुओं और पक्षियों का वध ही वर्जित कर दिया था, जिसका कारण अज्ञात है पर सम्भव है कि टोटममूलक रहा हो। गाय-बैल तथा वृषभ आरक्षित नहीं थे, पर सड़क (साँड) वृषभ का वध नहीं होता था। सड़क को जहाँ चाह चरने के लिए खुला छोड़ दिया जाता (जैसा कि आज भी होता है), ताकि वह अच्छी नस्ल पैदा करे, यद्यपि उसे पवित्र माना जाता था। असोक के समय में अभी गोमांस, दूसरे किस्म के मांस की भाँति ही, खुले बाजार में और चौरस्तों पर बेचा जाता था। सम्राट् ने अपने महल में निरामिष भोजन का एक आदर्श स्थापित किया और राजा की पाकशाला से मांस लगभग गायब हो गया। राज्यादेश द्वारा यज्ञ-बलि पर रोक लगा दी गयी और ऐसे कुछ समाजों (उत्सव, मेला या गोष्ठी) पर भी जिनमें अत्यधिक मदिरापान और उन्मुक्त भोग विलास के साथ-साथ अपराध तथा दूसरे निन्दनीय कार्य भी होते थे। परन्तु यहाँ भी सम्राट् ने स्वीकार किया कि कुछ समाज अच्छे होते हैं, इसलिए आवश्यक हैं। पहले बताया जा चुका है कि ऐसा एक समाज—वसन्त का होली उत्सव—आज भी मनाया

जाता है, पर इसके अश्लीलतम लक्षण कानून व जनमत के कारण फीके पड गये हैं। वन्य पशुओ को घेरकर मारने के उद्देश्य से अथवा भूमि साफ करने के लिए जगलो को जलाना सवथा वर्जित कर दिया गया था। यह कोई बौद्ध सनक नही थी, बल्कि बस्तियो की रक्षा के लिए और प्राकृतिक सम्पदा को सुरक्षित रखने के लिए यह निषेध परमावश्यक था। ब्राह्मण धम के ग्रन्थ महाभारत के एक परवर्ती क्षेपक म भी यही निषेध मरणासन्न भीष्म के शब्दो मे व्यक्त हुआ है—जगलो को जलाना महापाप है। इसी महाकाव्य के प्रतापी पाण्डव वीरो ने भगवान् कृष्ण की सहायता से इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का खाण्डववन जलाकर साफ किया था, इसलिए इस प्रसग म भीष्म का यह उपदेश वडा बेमेल जान पडता है। इसका वास्तविक अथ यह है कि प्राचीन वदिक आय जीवन पद्धति पूण रूप मे नष्ट हो चुकी थी, समाज अन्न सकलन की अवस्था को पार करके अब पूण रूप से अन्न-उत्पादन की अवस्था मे पहुँच चुका था, इसलिए पशुचारी जीवन की कठोर प्रथाओ की अब कोई उपयोगिता नही थी। धम महामात्यो को विशेष आदेश था कि वह कारागार म पडे हुए अपराधियो की खैरियत की देखभाल करे। बहुत से बन्दी, जिन्हे पूरी सजा भुगतने के बाद भी कारावास मे रखा गया था, मुक्त कर दिये गये। जिन बन्दियो के जाति कुटुम्बवाले निराश्रित थ, उन्हे मदद पहुँचाने का नये आयुक्तो (रज्जुको) को आदेश दिया गया। कारागार म पडे हुए जिन बन्दियो को मृत्युदण्ड सुनाया गया हो उन्हे अपने जाति-कुटुम्ब वालो से मिलने के लिए तीन दिन की मुहलत दी जाती थी, पर प्राणदण्ड की व्यवस्था को खत्म नही किया गया था।

अशोक की राजाज्ञाएँ राजा की निरकुशता पर पहली बार प्रतिबन्ध लगाती हैं, ये पहली बार नागरिको को स्वत्वाधिकार प्रदान करती हैं। यह इसीसे प्रमाणित है कि राज्याधिकारियो को यह आदेश था कि वह इन राजाज्ञाओ को साल मे कम-से-कम तीन बार विशाल जनसमूह के सामने पढें और इन्हे सावधानी स समझायें। अब सक्षेप मे विचारणीय प्रश्न है इस असाधारण परिवतन की क्या आवश्यकता पडी ?

अशोक का सुधार-काय इस तथ्य का एक बढिया उदाहरण है कि मात्रा परिवतन के साथ-साथ अन्न मे गुण परिवतन भी होता है। गहस्थो, कृषको तथा कारीगरो की तादाद मे और जनपदो के विस्तार म इतनी अधिक वद्धि हो गयी थी कि भू राजस्व का नियोजन करनेवाला रज्जुक लाखो इन्सानो पर उसी प्रकार पूर्णाधिकार से शासन करने लगा था, जस कि अगरेजो के जमाने म जिले का कलक्टर करता था। जनपदो की सीमाओ मे अब अधिक अन्तर नही रह गया था, न ही व्यापार मार्ग अब जगलो से गुजरनेवाली चन्द सँकरी पगडण्डियाँ मात्र थे। आटविक पहले से कम रह गये थे और अब उनस कोई बडा खतरा नही था,

मिफ उपद्रव ही मचाते थे। असोक ने उनके पास भी धम्मदूत भेजे थे। अनेक साहसी व्यक्तियो ने जगलो मे जाकर वहा भूखण्ड साफ किये थे और उन पर खेती शुरू कर दी थी, ऐसे भूखण्डो का समावेश न राष्ट्र-भूमि मे किया जा सकता था, न ही सीता भूमि मे। मगध की शक्तिशाली सेना अब अनावश्यक होती जा रही थी और उसे पहले के स्तर पर बनाये रखना अत्यत खर्चीला काम था। असोक ने स्पष्ट ही कहा है कि 'धर्मानुशासन' लागू होने के बाद से सेना का इस्तेमाल केवल क्वायद और प्रदशन के लिए होता है।

देश नितान्त भिन्न सरचनावाले तीन प्रमुख भागो मे बँटा हुआ था साम्राज्य का पश्चिमी प्रदेश तथा पजाब बाहरी आक्रमण के लिए खुला था, इसलिए वहाँ एक या अधिक स्थानीय सेनाध्यक्षो के मातहत सजग सेना रखना जरूरी था। स्थानीय सेनाध्यक्ष को यह प्रलोभन हो सकता था कि वह स्वय को राजा घोषित कर दे, अथवा यूनानी, शक और दूसरे मध्य एशियाई उसे भगा भी दे सकते थे। असोक के लगभग पचास साल बाद ये दोनो प्रकार की घटनाएँ घटित हुइ। राज्य के दूसरे भाग, गागेय प्रदेश मे, तब तक सेना की जरूरत न थी जब तक पजाब मे शत्रु जमा न हुए हो। यह प्रदेश अब भी काफी सम्पन्न और समद्ध था। लेकिन धातुओ पर राज्य का एकाधिकार धीरे धीरे खत्म हो रहा था। बिहार मे ताबे की खानें जल-स्तर तक पहुँच चुकी थी, पर पम्प नही थे। लोहे की माँग इतनी अधिक बढ गयी थी कि मगध से उसकी पूर्ति सम्भव नही थी। मगधीय आक्रमण के काफी पहले, उत्तर के निजी उद्यमियो ने, दक्खन में लोहे के नये स्रोतो की खोज करके कुछ हद तक उनका विकास किया था (जसाकि बावरी जातक से पता चलता है)। सिकन्दर के सौ साल अथवा इससे भी पहले भारतीय इस्पात से बननेवाले सर्वोत्तम खड्ग हखामनि दरबार तक मे पहुँचते थे। धातुकर्म के इस श्रेष्ठ उत्पादन की निरन्तर बढती माँग को सर्वोत्तम कोटि के खनिजा के छोटे छोटे भण्डारो मे निकालकर ही पूरा किया जा सकता था। ऐसे खनिज भण्डार आन्ध्र व कर्णाटक के जगलो मे बिखरे हुए थे, परन्तु इन क्षेत्रो मे खनिजो की खोज करनेवालो पर अपना कठोर अनुशासन-तन्त्र स्थापित करना मगध के लिए बडा व्ययसाध्य था। राज्य का यह तीसरा भाग, दक्खन, उसी प्रकार आबाद करना सम्भव नही था जसे कि मगधीय सीता-क्षेत्र, क्योंकि यहाँ बढिया मिट्टीवाले भूखण्ड दूर दूर बिखरे हुए थे और यहाँ की मिट्टी मगधीय मिट्टी से एकदम भिन्न थी। मगधीय साम्राज्य के इस तीसरे भाग के भावी विकास का अर्थ था स्थानीय आबादी स्थानीय भाषाओ तथा स्थानीय राज्यो का नूतन विकास। असोक के समय म समस्त भारतभूमि का जो भाग उसके राज्य के अन्तगत नही था वहाँ किसी राजवशीय सत्ता का अस्तित्व नही था, वहाँ केवल वन्य अथवा अर्धवन्य कबीले ही थे। उसके शिलालेखो म राज्य की

पश्चिमी सीमा के परे के केवल यूनानी शासकों के नाम ही मिलते हैं, कलिंग के किसी राजा का भी उल्लेख नहीं है, यद्यपि सौ साल बाद ही हमें कलिंग के विजेता राजा खारवेल का नाम सुनने को मिलता है। अंतिम बात यह है कि, वन-कटाई का अर्थ था अधिकाधिक बाढ़ का आना और आय का घटते जाना, यहाँ तक कि मगध में भी, जहाँ पहले साफ की गयी भूमियाँ सर्वोत्तम थीं और शेष भूमियों में सिंचाई की व्यवस्था करना कठिन था। एक मौसम में भी विपदा आये—चाहे बाढ़ के कारण, चाहे महामारी की, चाहे वर्षा की कमी के कारण—तो बहुत बड़े क्षेत्र के राजस्व को पूर्ण क्षति पहुँचती थी, साथ ही, सहायता के कारण उतनी ही अधिक मात्रा में राजकोष पर अतिरिक्त भार पड़ता था। यह समस्या, अत्यधिक केंद्रीभूत प्रशासन की दूसरी हर समस्या की भाँति, यातायात के धीमे साधनों तथा लम्बी दूरियों के कारण अधिक जटिल हो जाती थी।

अशोक के सिक्कों को देखने से प्रकट होता है कि ये निष्कंप काल्पनिक नहीं हैं। चन्द्रगुप्त के बाद के चिह्नाहत मौर्य कार्षापण पूर्ववर्ती तौल के ही हैं, पर उनमें ताँबे की मात्रा अधिक है, उनकी बनावट अधिक अपरिष्कृत है और उनके तौल में इतनी अधिक न्यूनाधिकता है कि उन्हें निश्चय ही जल्दी-जल्दी में बनाया गया होगा। मुद्रा पर इस दबाव और मुद्रा की असंतुष्ट माँग के साथ-साथ सिक्कों की धातु में मिलावट (मुद्रा स्फीति) और उनके पार्श्व में आहत किये जानेवाले प्राचीन व्यापारी श्रेणियों के चिह्न भी गायब देखने को मिलते हैं। ऐसी स्थिति में नये व्यापारी पर नियन्त्रण रखना पहले से अधिक कठिन हो गया। दक्खन में तो कम सिक्कों से, चाँदी के हल्के सिक्कों से, यहाँ तक कि शीशे व जस्ते के प्रतीकात्मक सिक्कों से काम लिया जाने लगा था, इससे सूचित होता है कि व्यापार में महती वृद्धि हुई थी और व्यापारी कबीलाई लोगों के साथ वस्तुओं का आदान-प्रदान करके भारी मुनाफा कमा रहे थे। बताया जाता है कि मुद्रा का सर्वप्रथम अवमूल्यन स्वयं चाणक्य ने ही किया था, अनुश्रुति है कि उसने चाँदी की उतनी ही राशि से आठ गुना अधिक सिक्के बनवाये थे। पर राजकोष पर दबाव पड़ने पर अर्थशास्त्र ने दूसरे उपाय सुझाये हैं। आर्थिक कठिनाई में फँसा हुआ राजा लोगों की पूँजी पर, संचित माल, अनाज आदि पर विशेष कर लगा सकता था, पर एक बार, बार-बार नहीं। राज्य के सर्वव्यापी गुप्तचर, जनता को उत्साहित करने के उद्देश्य से, 'स्वेच्छा से' अपना अंशदान देते थे। नई पूजा-विधियाँ 'खोजी' जातीं, जैसे नाग-पूजा, भूतप्रेत पूजा आदि, इस प्रकार गुप्तचरों द्वारा फँसाये गये भोले-भाले लोग अपना अंशदान देते, जो चुपचाप राजकोष में पहुँच जाता। कौटिल्य जैसे ब्राह्मण-मन्त्री द्वारा सुझाया गया यह उपाय विचित्र जान पड़ता है, परन्तु तीसरी सदी तक अनेक ब्राह्मण आदिम तथा अवैदिक अंध-विश्वासों को तिरस्कार की दृष्टि से ही देखते थे। वैयाकरण पतंजलि प्रसंगवश

कहता है कि मौर्यों ने धनार्जन के लिए ऐसी पूजा विधियों का आविष्कार किया था। अन्त में, राजकीय ऋण और राजकीय कर्ज के स्थान पर अर्थशास्त्र व्यापारियों के विरुद्ध विशेष उपायों का सुझाव देता है। भलीभाँति वश करते हुए गुप्तचर धनी व्यापारी को शराब पिलाकर नशे में धुत करेंगे, उसे लूटेंगे, उस पर अपराध का झूठा आरोप लगायेंगे, अथवा उसे मार भी डालेंगे। तदनन्तर उस व्यापारी की मालमत्ता को जब्त करके राजकोष में जमा कर दिया जायगा। गुप्तचरों को चाहे जितनी सावधानी से चुना जाता हो, यह स्पष्ट है कि इन घातक उपायों ने मानव-चरित्र को इतना अधिक प्रभावित किया होगा कि लोग अपने को असुरक्षित समझने लगे होंगे।

अशोक के सार्वजनिक निर्माण-कार्यों से काफी अधिक धन चलन में आ गया था। उसके और उसके अधिकारियों के दौरों से परिवहन का बोझ हल्का होता था, क्योंकि स्थानीय अतिरिक्त उपज अपने-अपने क्षेत्र में ही खप जाती थी। प्रजा के प्रति नये दृष्टिकोण ने और व्यापारी मार्गों पर जुटाई गयी नयी सुविधाओं ने राज्य के लिए—उस राज्य के लिए, जो उस समय तक अधिकारी-तन्त्र द्वारा अधिकारी-तन्त्र के लिए चलाया गया था—एक सुदृढ़ वर्ग-आधार की स्थापना की। अशोक के बाद राज्य ने एक नये कार्य को आगे बढ़ाने का जिम्मा लिया—विभिन्न वर्गों में समन्वय स्थापित करना। अर्थशास्त्र ने इसकी कल्पना भी नहीं की थी, और असलियत यही है कि समाज के वर्गों का उदय एक प्रकार से उन छिद्रों से हुआ है जो भारतीय राजतन्त्र—व्यापक पैमाने पर भूमि की सफाई, भूमि अधिवास तथा अत्यधिक नियन्त्रित व्यापारवाले राजतन्त्र—में पैदा हो गये थे। समन्वय के इस कार्य के लिए विशेष अस्त्र था—नये अर्थ वाला सार्वभौमिक धम्म। नवोदित धर्म ने राजा और नागरिक के आपसी मेल मिलाप के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। आज भले ही यह सर्वोत्तम उपाय न प्रतीत हो, पर उस समय वह तुरंत कारगर सिद्ध हुआ। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि अशोक के समय से भारत के राष्ट्रीय चरित्र पर धम्म की छाप लग गयी। धम्म शब्द का अर्थ शीघ्र ही समदृष्टि से बदलकर भिन्न हो गया, यानी 'धर्म' हो गया—पर यह वह धर्म नहीं था जिसे स्वयं अशोक ने खुले आम स्वीकार किया था। इसके बाद भारतीय संस्कृति के विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही कि इस पर किसी-न किसी धर्म का भ्रामक बाह्य आवरण सदैव चढ़ा रहा। यह सर्वथा उपयुक्त ही है कि भारत का वर्तमान राष्ट्रीय प्रतीक अशोक के सारनाथ स्तम्भ के सिंहशीर्ष के अवशेषों के आधार पर बनाया गया है।

सातवाँ अध्याय

सामन्तवाद की ओर

७ १ नया पुरोहित-वर्ग

असोक के सुधारो के साथ ही प्राचीन कबीलाई आर्यों के पुरोहित वग—ब्राह्मण जाति—का उत्परिवतन पूण हो गया। पुराने ब्राह्मणवाद का सुदृढ आधार था—पजाब के कबीलो का पशुचारी जीवन और उनके निरतर के यन। इस आधार को सदा के लिए नष्ट कर दिया सवप्रथम सिकदर के विध्वसकारी हमले ने और उसके तुरत बाद की मगध की विजय ने। मगध के कृषिकम, दशन और बौद्धो, जैना तथा आजीवको के अहिसावादी सम्प्रदाया ने गगा की घाटी मे वैदिक कमकाण्ड के वास्तविक प्रसार पर रोक लगा दी थी, बस, ईसा पूव छठी सदी के सरलस्वभाव राजाओ ने ही कुछ यज्ञ किये थे। अथशास्त्र के रचयिता ने, ब्राह्मण होन पर भी, यज्ञ पर तनिक भी बल नही दिया है। यह बताया जा चुका है कि कृष्ण पूजा का उत्थान पजाब म वैदिक कमकाण्ड के ह्रास का सूचक था। इस प्रकार, एक महत्वपूण वग को कबीलाई बधना और परम्परागत वदिक कमकाण्ड के कार्यो से पहली बार मुक्ति मिली। प्राचीन भारतीय समाज म ब्राह्मण वग ही एक ऐसा समुदाय था जिसके लिए विधिवत् शिक्षा अनिवाय थी और उसकी अपनी एक बौद्धिक परम्परा रही। वेद, व्याकरण तथा कमकाण्ड पर अधिकार प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि शिष्य, ब्रह्मचय का पालन करते हुए किसी एकात आश्रम म बारह साल तक किसी ब्राह्मण गुरु की सेवा मे रहे। पवित्र ग्र था को, एक भी अक्षर की, एक भी स्वराघात की भूल के बिना, कण्ठस्थ करना पडता था, फिर भी वेदो को लिपिबद्ध नही किया गया था। सीजर के गाल प्रदेश के द्रुइद भी इसी प्रकार रटत थे और शिक्षा प्राप्त करते थे, पर भारतीय वेदाभ्यासिया की बौद्धिक उपलब्धि का स्तर अधिक ऊँचा था।।

असोक तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अपने समय के अग्रगण्य ब्राह्मणों का आदर-सत्कार किया, तो इसका कारण यह था कि जाति-व्यवस्था शिक्षा व संस्कृति के क्षेत्र में, समाज में वर्ग व्यवस्था बनाये रखने में, मूलतः परस्पर विरोधी समूहों के एकीकरण एवं विलयन में, और सर्वसामान्यतः खेतिहर समाज के विस्तार में योग देकर अपने नये महत्त्वपूर्ण मिशन को पूरा करने में जुटी हुई थी। इन सभी बातों पर विस्तारपूर्वक विचार करना जरूरी है।

सिद्धान्त रूप में वैदिक बोली अपरिवर्तनीय बनी रही, पर जीवन्त भाषा के नाते संस्कृत में प्रान्तीय भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगे थे। ब्राह्मण वैयाकरणों की एक लम्बी परम्परा ने संस्कृत को नियमों में बाँधने का काम किया, परन्तु महान पाणिनि ने अपने सभी पूर्ववर्तियों की स्मृति को मिटा दिया। पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण पर किसी भी भाषा में सम्भवतः पहला वैज्ञानिक ग्रन्थ है। पाणिनि के उत्तराधिकारियों में सबसे प्रमुख थे पतंजलि (ईसा पूर्व दूसरी सदी का पूर्वार्द्ध), जिन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों पर अपना भाष्य लिखा और उसमें संस्कृत भाषा के सिद्धान्तों का तर्कपूर्ण शैली में बड़ी स्पष्टता से विवेचन किया। तब से व्याकरण संस्कृत के अध्ययन का सबसे सन्तापजनक विषय बन गया। पतंजलि का सुस्पष्ट एवं आकर्षक भाष्य संस्कृत गद्य का उत्कृष्टतम नमूना प्रस्तुत करता है। हर शास्त्र के सभी मूलभूत सूत्रों को कण्ठस्थ करने की प्रथा से सरल छन्दोबद्ध रचना को तो प्रोत्साहन मिला, पर गद्य का विकास रुक गया। पतंजलि के बाद के दीर्घकाल में संस्कृत के ढाँचे में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ। तदपि, निरन्तर विकसित होती क्षेत्रीय जनभाषाओं का समय समय पर अंशदान मिलने से संस्कृत के शब्दभण्डार एवं वाक्प्रचार में वृद्धि होती रही, इन जनभाषाओं का अपना स्वतन्त्र विकास होता रहा, पर इन पर संस्कृत का भी विशिष्ट प्रभाव था। ये मिश्रित भाषाएँ थीं, क्योंकि इनका उदय विभिन्न क्षेत्रीय मण्डियों में हुआ था। मगध की लोकभाषा लम्बे समय तक सारे देश का काम नहीं चला सकती थी, क्योंकि अन्न-उत्पादन के कारण तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या में विविधता उत्पन्न हो रही थी और लोग उत्पादन के अन्य तरीकों का इतना अधिक विकास कर चुके थे कि फलतः फूलते व्यापार में भाग ले सकें। यह बात असम पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायेगी असम की हर छोटी घाटी में एक अलग कबीलाई समूह है और हर समूह की अपनी एक विशिष्ट भाषा या प्रमुख बोली है। जब असोक ने अपने शिलालेख खुदवाये तो उस समय भारत की सर्वसाधारण स्थिति कुछ इसी प्रकार की रही होगी।

संस्कृत शीघ्र ही उच्चवर्ग की विशेष बोली बन गयी, जिसे शिक्षित लोग ही समझ पाते थे। इस भाषा में दी जानेवाली विधिवत शिक्षा पर ब्राह्मणों का ही अधिकार रहा। पहला लम्बा संस्कृत शिलालेख १५० ई० के आसपास गिरनार में

खोदा गया। इसम शकराज रुद्रदामन् बडे अभिमान से कहता है कि उसने उस (सुदशन) सरोवर का पुनरुद्धार किया जिसका निर्माण पहली बार चन्द्रगुप्त मौय ने करवाया था, साथ ही, यह अभिमान भी व्यक्त करता है कि सस्कृत भाषा पर उसका अधिकार है। इसका अथ यह है कि समृद्ध और शक्तिशाली विदेशी सस्कृत के जरिए अपने को भारतीय कुलीन-वग म स्थापित कर सकते थे—यद्यपि ईसा की चौथी सदी तक अभिलेखो म आमतौर पर सरल प्राकृत का इस्तेमाल होता रहा। नासिक की बौद्ध गुफाओ के अतिसस्कृतमय लेख विदेशी उत्पत्ति के शक दाताओ के हैं, जबकि स्वदेशी सातवाहन शासक अपने लेख अभी सरल प्राकृत म ही खुदवाते थे। बहुमुखी प्रतिभा का धनी धारा नगरी का राजा भोज (लगभग १०००-१०५५ ई०), जिसने सस्कृत म विज्ञान, ज्योतिष, स्थापत्य तथा काव्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे और काव्य तथा नाटको की भी रचना की, जान पडता है कि आदिवासी (नाग) राजकुमारी का पुत्र था, जिसका सस्कृत नाम शशिप्रभा था। कवि पद्मगुप्त-परिमल द्वारा रचित नवसाहसाकचरितम में भोज के पिता सिन्धुराज का राजकुमारी शशिप्रभा से प्रणय-सम्बन्ध और अन्त में उससे विवाह का तो कम-से-कम वणन है ही। वैश्य, वस्तुत आय होते हुए भी, सस्कृत के अध्ययन से जल्दी ही विरत हो गये, जबकि भारतीय एव विदेशी वशो के क्षत्रिय सस्कृत साहित्य को समृद्ध करते रहे। चौथी सदी के बाद से शासन के लेख्यपत्रो म प्राय सस्कृत का इस्तेमाल होता रहा। लिपिको की कायस्थ जाति की सहूलियत के लिए पत्रो, आदेशो, सूचनाओ, न्याय-सम्बन्धी फैसलो आदि के आदश नमूने तैयार किये गये, बाद म रची गयी ऐसी कुछ पुस्तकें आज भी उपलब्ध हैं (लेखप्रकाश, लेखपद्धति)।

सस्कृत पर, जिसमे आशीलिङ् जैसे विलक्षण क्रियारूप हैं, पुरोहितो की भाषा होने की छाप सदैव लगी रही, इसमे आम व्यवहार के सामान्य भविष्यत-काल तक का अभाव है। ब्राह्मण कमकाण्ड से ही बँधा रहा, यद्यपि अब यह मात्र वैदिक कमकाण्ड नही था। इस क्षेत्र मे उसके एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी थे आदिकालीन ओझा, जिनका प्रभाव अपने-अपने कबीलो तक सीमित था। ब्राह्मणधम ने बहुत-से कबीलाई पुरोहितो को भी, उनकी अन्धविश्वासी 'विद्या' सहित, आत्मसात कर लिया, कभी-कभी किसी श्रेणी-जाति या कबीलाई जाति का भी पौरोहित्य ब्राह्मण स्वीकार कर लेता और उसमे अपने कमकाण्ड को भी मिला लेता, पर इस प्रक्रिया मे आदिम अनुष्ठानो की निकृष्ट प्रथाओ को त्याग देने अथवा निस्तेज बनाने की सदैव कोशिश की जाती। बौद्ध, जैन तथा दूसरे सम्प्रदायो के साधु सभी प्रकार के अनुष्ठानो का त्याग कर चुके थे, और वह जातकम, अन्त्येष्टि, विवाह, पुसवन तथा उपनयन सस्कार विधियो मे पौरोहित्य नही कर सकते थे, जैसे कि ब्राह्मण कर सकते थे, और किया है। केवल ब्राह्मण ही बीजारोपण के

दक्खन का कगार, जिसमें पश्चिमी समुद्रतट के नदीमुखों से दक्खनी पठार तक के घाटों को और बौद्ध गुफा विहारों को दरशाया गया है।

समय अच्छी फसल के लिए आशीर्वाद दे सकता था, अशुभ ग्रहों को शांत कर सकता था, कुपित देवताओं को प्रसन्न कर सकता था और पंचांग बनाकर उसके आधार पर भविष्यवाणी कर सकता था। वैदिक यज्ञ अनुष्ठान केवल सिद्धांत रूप में ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते रहे, पर व्यवहार में इनकी अधिकाधिक उपेक्षा होती रही। कभी-कदा किसी राजा ने अश्वमेध जैसे यज्ञ भले ही किये हों, पर राजा के पुरोहितों के लिए भी आय के ये स्रोत अत्यंत अविश्वसनीय थे। नयी पूजा विधियाँ तभी फायदेमंद होतीं जब ये कृषकों तथा व्यापारियों के गृहपति-वर्ग के काम आतीं। यह काम किया ब्राह्मणों ने, जाति-व्यवस्था की परवाह किये बिना, पर सदा ही समुचित दक्षिणा प्राप्त करके और इस शर्त पर कि सर्वसाधारणतः ब्राह्मण प्रथाओं को उचित सम्मान मिले। ऐसा जान पड़ता है कि ईसा पूर्व तीसरी सदी में गृहपति शब्द को भूस्वामी अथवा धनी वैश्य अधिवासी का अर्थ प्राप्त हो चुका था। बड़े और प्रतिष्ठित कुटुम्ब के मुखिया को विशेष रूप से महाशाल कहा जाने लगा, भले ही वह गृहपति हो या न हो।

ब्राह्मणों ने धीरे-धीरे बची-खुची कबीलाई व श्रेणी जातियों में भी प्रवेश किया, यह प्रक्रिया आज तक चालू है। इसका अर्थ था नये देवताओं की पूजा, इनमें कृष्ण भी था, जिसने सिकंदर के हमले के पहले ही पंजाब से इंद्रपूजा को मिटा दिया था। परंतु कबीलाई पूजा विधियों तथा अनुष्ठानों के पृथक् वैशिष्ट्यों में हेर-फेर कर दी गयी थी, कबीलाई देवताओं को ब्राह्मणधर्म के प्रतिष्ठित देवताओं के समकक्ष मान लिया गया, और जिन कबीलाई देवताओं को आत्मसात करना कठिन था उन्हें प्रतिष्ठित बनाने के लिए नये ब्राह्मण धर्म ग्रंथों की रचना की गयी। इन नये देवताओं अथवा नये तादात्म्य के साथ नये अनुष्ठान भी अस्तित्व में आये और फिर इन नये पूजा-व्रतों के लिए चांद्र पंचांग में विशिष्ट तिथियाँ निर्धारित की गयीं। नये तीर्थस्थल अस्तित्व में आये और इन्हें प्रसिद्धि दिलाने के लिए उपयुक्त पुराण-कथाएँ रची गयीं, यद्यपि ये तीर्थस्थल ब्राह्मण-पूर्व आदिवासी पूजा-स्थल ही रहे होंगे। इस समूची प्रक्रिया के बारे में महाभारत, रामायण तथा पुराणों में भरपूर सामग्री मिलती है। आत्मसातीकरण की यह प्रक्रिया बड़ी रोचक है। न केवल कृष्ण को, बल्कि बुद्ध और आदिम मत्स्य, कच्छप तथा वराह-जैसे टोटेममूलक देवताओं को भी विष्णु-नारायण का अवतार घोषित कर दिया गया। वानरमुख हनुमान, जो किसानों में इतना लोकप्रिय है कि उसका एक विशिष्ट देवता बन गया है और उसके लिए पृथक् पूजा-पद्धति भी है, राम (विष्णु का एक और अवतार) का स्वामिभक्त सहचर-सेवक बन गया। विष्णु नारायण ने पृथ्वी को मस्तक पर धारण करनेवाले शेषनाग को अपनी छत्रशय्या के लिए लिया, साथ ही, वही नाग शिव के गले का हार और गणेश का अस्त्र बना। हस्तिमुख गणेश को शिव का, या कहिए कि शिव-पार्वती का, पुत्र

वना दिया गया। शिव स्वय राक्षसो और भूत पिशाचो का स्वामी है, पर इनमे से वेताल-जैसी अनेक दुरात्माएँ स्वतन्त्र हैं और इन अतिप्राचीन देवताओ की देहातो म आज भी खूब पूजा होती है। शिव के नन्दी की दक्षिण भारत मे नवपाषाण युग मे पूजा होती थी, पर वह किसी मानवी या दैवी स्वामी का वाहन नही था, नन्दी या वृषभ को स्वतन्त्र रूप म सिंधु सभ्यता की अनेकानेक मुहरो पर भी देखा जा सकता है। यह समुटीकरण निरतर चलता रहा है, और जो बहुत-सारे आख्यान गढे गये वे सब मिलाकर अर्थहीन, असगत और असम्बद्ध सामग्री का ढेर प्रस्तुत करते हैं। पर इस प्रक्रिया के महत्व को कम नही आकना चाहिए। नये आत्मसात किये गये इन आदिम देवताओ की पूजा दरअसल सस्कृतिया के पारस्परिक आदान प्रदान की प्रक्रिया का ही अग थी। उदाहरण के लिए, सब प्रथम, पूर्वकालिक नाग पूजको ने नाग की उपासना के साथ-साथ शिव की उपासना भी शुरू कर दी होगी और शिव भक्तो ने अपनी आनुष्ठानिक प्रथाओ के साथ-साथ नाग की उपासना शुरू कर दी होगी, तब अनेक लोग साल के एक विशिष्ट दिवस पर नाग की पूजा करने लगे, उस दिन धरती नही खोदते और और सांपो को भोजन रखने लगे। मातसत्तायुगीन तत्त्वा को आत्मसात किया गया मातृदेवियो को किसी न किसी नरदेवता की 'पत्नी' के रूप मे स्वीकार करके उदाहरणाथ, दुर्गा पार्वती (जिसके तुकाई, कालुबाई आदि अनेक स्थानीय नाम रहे हैं) शिव की पत्नी बन गयी और लक्ष्मी विष्णु की। देवताओ की मिश्रित गहस्थी मे भी समन्वय की यह प्रक्रिया जारी रही, स्कन्द और गणेश शिव के पुत्र बन गये। सामन्ती युग मे इन देवी-देवताओ का एक प्रकार से राज दरबार ही खडा कर दिया गया। देवी देवताओ के विवाह स्वीकृत मानवी विवाह-प्रथा के द्योतक हैं, इनके पूर्वकालिक पथक पथक, यहाँ तक कि परस्पर-विरोधी भी, भक्ता का सामाजिक सम्मिश्रण हुए बिना देवी-देवताओ के ऐसे विवाह कदापि सम्भव न होते। इस सम्मिश्रित समाज मे नयी जातियो को मोटे तौर पर उनकी आर्थिक अवस्थाओ के अनुरूप हैसियत मिली। उन्होंने अपने पूर्वकालिक कबीलाई जीवन की सगोत्र विवाह तथा सहभोजन की प्रथाएँ ज्यो-की-त्यो कायम रखीं। उनकी प्रतिष्ठा उनके देवताओ को व्यापक समाज की ओर से मिली प्रतिष्ठा के कारण सुरक्षित थी और अपने रूपान्तरित देवताओ के साथ-साथ दूसरे देवताओ की पूजा को अपनाने से वे उस समाज के अभिन्न अग बन गये। यह व्यवस्था यूनानी एम्फिक्तिओनी (खास तौर से डेल्फी के मन्दिर तथा उसकी पूजा विधि से सम्बन्धित पडोसी बिरादरिया का सघ) से मिलती जुलती थी, अन्तर केवल इतना ही था कि यहाँ समूह की स्थिति समूह की एकान्तिकता के अनुरूप ऊँची-नीची थी।

सस्कृतियो के पारस्परिक आदान प्रदान की इस प्रक्रिया के साथ वग सरचना

का, जिसका पहले कोई अस्तित्व नहीं था, उदय हुआ। चाणक्य की तरह कालान्तर के ब्राह्मण स्मृति ग्रन्थों ने भी इस बात पर बल दिया कि समाज-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए राजपद परमावश्यक है। बड़ी मछली छोटी मछली को न निगल पाये, इसकी व्यवस्था करने के लिए बल और दण्डनीति का प्रयोग करना राजा के लिए जरूरी हो गया, यद्यपि कबीलाई समाज को इसकी कभी आवश्यकता महसूस नहीं हुई थी। दक्षिण भारत के कबीलाई मूल के कई राजा बड़े अभिमान से कहते हैं कि उन्होंने हिरण्यगर्भ अनुष्ठान कराए। कुछ पुराणों में इस अनुष्ठान की विस्तारपूर्वक जानकारी दी गयी है। सोने का एक बड़ा सा पात्र बनवाकर मुखिया उसमें इस प्रकार सिकुड़कर बैठ जाता जैसे गर्भ में भ्रूण समाया रहता है। तब भाड़े के ब्राह्मण पुरोहित गर्भाधान व जातकर्म से सम्बन्धित अनुष्ठानों का मन्त्रपाठ करते। उसके बाद वह मुखिया उस 'हिरण्य गर्भ' से ऐसा बाहर आता मानो उसका नया जन्म हुआ हो, इस प्रकार उसे नयी जाति, कभी-कभी तो पहली बार, मिल जाती। परन्तु यह जाति वह नहीं होती थी जो कि शेष कबीले को समाज में आत्मसात करते समय दी जाती थी, बल्कि परम्परागत चार वर्णों में से एक होती थी—आमतौर से उसे क्षत्रिय वर्ण और ब्राह्मण पुरोहित का गोत्र प्रदान किया जाता। मध्ययुग के कुछ ऐसे 'नवजात' राजाओं ने एक साथ ब्राह्मण व क्षत्रिय दोनों वर्णों का दावा किया है, जैसे कि सातवाहन गोतमीपुत्र ने। वह हिरण्यपात्र ब्राह्मण-पुरोहितों को दक्षिणा के रूप में मिल जाता, और इस प्रकार सब प्रसन्न हो जाते। बाद के सभी राजाओं ने, कुछ बौद्ध राजाओं ने भी, घोषित किया है कि वह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के समर्थक हैं, यद्यपि उनमें से कुछ ने नागवंशी अथवा महाभारत के अर्धनाग अश्वत्थामन् के वंशज अथवा रामायण के किसी वानरराज के वंशज होने का दावा किया है। इस समूची व्यवस्था का प्रयोजन था—ब्राह्मण शिक्षा और क्षत्रिय शस्त्रबल से नवनिर्मित वैश्य व शूद्र वर्गों को दबदबे में रखना। कबीलाई नियमों से मुक्ति पाये हुए चन्द कुलीनों के समर्थन से मुखिया अपने ही भूतपूर्व कबीले का शासक बन जाता और कबीले के सामान्य सदस्य नये कृषक समुदाय में मिल जाते। कभी-कभी ब्राह्मण मुखिया के लिए महाकाव्यों अथवा पुराणों में प्रतिष्ठित वंशावली खोजने और ऐसी वंशावलियाँ तैयार करने से भी और आगे बढ़ जाते। यानी स्वयं ब्राह्मण उस कबीले में विवाह कर लेता, जिससे सामान्यतः नये कबीलाई ब्राह्मण पैदा हो जाते थे। कभी-कभी, जैसे ईसा की छठी सदी के आसपास मध्य भारत में, ऐसे मिश्रित वंशजों ने कबीले पर शासन भी किया है। कुछ बाद का बंगाल का राजा लोकनाथ गर्वोक्ति करता है कि वह ब्राह्मण पिता और कबीलाई गोत्र-देवी की सन्तान है। कौण्डिन्य नामक एक साहसी ब्राह्मण ने पहला हिन्द चीनी राज्य भी इसी प्रकार स्थापित किया था, उसने अपनी धनुर्विद्या के

बल से स्थानीय कबीले के लोगों को वश में कर लिया और सोमा नामक स्थानीय नाग कुमारी से विवाह कर लिया। आदिवासी समाज में प्रचलित मातृतन्त्र के कारण ऐसे विवाह सम्बन्ध आसानी से हो जाते थे। कहीं-कहीं यह व्यवस्था एक रिवाज बन गयी, जैसे कि मलाबार में, जहां स्थानीय मातृतन्त्री समाज की स्त्रियां और पितृतन्त्री नम्बूदिरि ब्राह्मण पिताओं के संयोग से नायर जाति ने जन्म लिया। इन दोनों समुदायों की आज भी अपनी पृथक सत्ता एवं प्रथाएँ हैं।

कबीलाई जन समुदाय का विघटन और आम कृषक समुदाय में उनका विलयन केवल *उनके मुखिया तथा कबीले के कुछ प्रमुख सदस्यों को अपने पक्ष में* कर लेने भर से सम्भव न होता। जाति वर्ग की अधिरचना को टिकाऊ रखने के लिए यह आवश्यक था कि लोगों की दैनन्दिन जरूरतों में भी रद्दोबदल हो। सर्वसामान्यतः समूचा कबीला एक नये कृषक जाति-समुदाय में आमतौर पर शूद्र वर्ण में, बदल जाता था, पर पहले की यथासम्भव अधिक से-अधिक प्रथाएँ *(सगोत्र विवाह प्रथा भी)* कायम रखता था। *ऐसे अविकसित क्षेत्रों में ब्राह्मणों* ने अग्रदूतों की भूमिका अदा की है, उन्होंने झूम खेती अथवा अन्न संकलन के स्थान पर पहली बार हल की खेती की शुरुआत की। नयी फसलों, दूर की मण्डियों की जानकारी, ग्रामीण बस्तियों के संगठन तथा व्यापार का आगमन भी उन्हीं के द्वारा हुआ। परिणामतः, राजाओं अथवा भावी राजाओं ने अछूते क्षेत्रों *को आबाद करने के लिए दूर-दूर से, आमतौर पर दूर की गंगा की घाटी से,* ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया। लगभग सभी उपलब्ध ताम्रपत्र (जो समूचे देश में टनों की मात्रा में मिले हैं) ऐसे शासन पत्र हैं, जिनमें—ईसा की चौथी सदी से आगे—ब्राह्मणों को दिये गये अग्रहारों को लिपिबद्ध किया गया है पर इन दानों का सम्बन्ध मन्दिरों से नहीं है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक गांव में एक या दो *भूखण्ड और गांव की फसल का लघु किन्तु निश्चित अंश पूजाओं और पुरोहितों—* ब्राह्मण या अब्राह्मण—के लिए अलग रहता था। किन्तु ब्राह्मण सभी प्रकार के करों से छूट की मांग करते थे और आमतौर पर उन्हें इनसे छूट भी मिल जाती थी, वे कर्जों पर विशेष रूप से कम ब्याज की और अन्य विशेषाधिकारों की भी मांग करते थे, पर ये मांगें हमेशा पूरी नहीं होती थीं।

अधिकतर ब्राह्मणों ने ही कबीलाई अथवा स्थानीय कृषक जाति की प्रथाओं को और उनकी आदिम जनश्रुतियों को, उनका पौरोहित्य संभालकर, विशिष्ट किन्तु परिवर्तित रूप में सुरक्षित रखा है। इससे अशोक द्वारा सभी भारतीयों के लिए प्रवर्तित 'धम्म' का स्वरूप ही बदल गया। यह स्वाभाविक ही था कि जो ब्राह्मण कबीलाई प्रथाओं तथा परम्पराओं का संरक्षक बन जाता, वह अपने विधानों को किसी-न किसी प्रकार उचित ठहराने के लिए धर्मशास्त्रों की (और जरूरत पड़े तो जाली) स्वीकृति प्राप्त करता। मध्ययुग में आम नियम यह था

कि प्रत्येक जाति, श्रेणी, गोत्र, कुटुम्ब और क्षेत्र की अपनी पृथक् कानूनी प्रथाएँ थी, जिन्हें प्राथमिकता देने के बाद ही राजा के न्यायाध्यक्ष निर्णय दे सकते थे। आज भी निम्नतम स्तर के भारतीय जन-समूह अपने आन्तरिक झमेलों का फैसला अपनी जाति पंचायतों में ही करते हैं। किसी उच्च न्यायालय में अपील करने की आवश्यकता तभी पड़ती है जब व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का विकास होता है अथवा किसी मुकद्दमे में विभिन्न समूहों के सदस्य उलझे होते हैं। अर्थशास्त्र की कठोर न्याय व्यवस्था, जिसने दूसरी सभी न्याय प्रथाओं की अवहेलना की, मौर्यों के बाद जल्दी ही विलुप्त हो गयी।

इस क्रियाविधि के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के, बल्कि परस्पर विरोधी भी, अनेकानेक तत्वों से, अल्पतम बल प्रयोग से ही, भारतीय समाज का निर्माण हुआ। पर जिस प्रकार यह विकास हुआ उसी का यह परिणाम रहा कि, एक निश्चित सीमा के परे पण्य उत्पादन की, और इसीलिए संस्कृति की भी, प्रगति रुक गयी। अन्धविश्वास पर अधिक जोर देने का अर्थ था—निरर्थक अनुष्ठानों का बेशुमार फैलाव। मध्ययुग के दो ब्राह्मण राजमन्त्रियों ने धर्मशास्त्रों के आधार पर राजधर्म से सम्बन्धित जिन दो पुस्तकों की रचना की है वे अर्थशास्त्र से नितान्त भिन्न हैं। ये दो कृतियाँ हैं भट्ट लक्ष्मीधर (लगभग ११७५ ई०) की कृत्यकल्पतरु और हेमाद्रि (लगभग १२७५ ई०) की चतुर्वर्ग चिन्तामणि। लक्ष्मीधर कन्नौज के गाहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र का महामन्त्री था और हेमाद्रि देवगिरि (दौलताबाद) के यादव राजा रामचन्द्र का मुख्यमन्त्री। दोनों ही संहिताओं में प्रत्येक तिथि-पर्व के लिए अनुष्ठानों के विधानों की भरमार है। इन दोनों ग्रन्थों को पूरा प्रकाशित किया जाये तो प्रत्येक के बारह मोटे पोथे तो बनेंगे ही, पर इनमें अधिकतर तीर्थयात्राओं, हर प्रकार के अतिचार, वास्तविक या काल्पनिक, के लिए प्रायश्चित्तों, मृतक संस्कारों तथा शुद्धियों से सम्बन्धित विधानों की ही चर्चा है। उनसे कुल मिलाकर यही जाहिर होता है कि निचले स्तरों पर अन्धविश्वासों से भरा शासन लादने में शासक-वर्ग को भी कुछ निरर्थक कमजोरियाँ स्वीकार करनी पड़ीं। उनमें प्रशासन के नाम पर कुछ भी नहीं है, न्याय-व्यवस्था इस उपयुक्त नियम पर आश्रित रह जाती है कि प्रत्येक समूह को अपने अलिखित नियमों का उपयोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि साक्ष्य के आधार पर न्यायाध्यक्ष कोई निर्णय नहीं दे पाता तो अग्निपरीक्षा, विषपरीक्षा, तप्त-लौहपरीक्षा आदि का भी सहारा लिया जाता, पर अपराध स्वीकार करवाने के लिए दी जानेवाली यातनाओं के रूप में इनका इस्तेमाल नहीं होता था। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त दोनों पुस्तकों की रचना के बाद पच्चीस-पच्चीस साल के भीतर ही उनमें सम्बन्धित दोनों राज्यों को मुसलमानों की अपेक्षाकृत छोटी सेनाओं ने ही पूरी तरह नष्ट कर दिया। हेमाद्रि की स्मृतियों के प्रति आस्था

और प्रशासक के रूप मे अतिरंजित ख्याति भले ही रही हो, पर मानभाव साहित्य मे उस पर यह आरोप है कि अपने ही राज्य की रक्षा-व्यवस्था को कमज़ोर करने के लिए उलाउद्दीन खिलजी से उसने घूस ली थी।

ब्राह्मणो ने जिन जाति नियमो का समथन किया, उन्हे लिपिबद्ध करने का उन्होने कभी प्रयत्न नही किया। रोमन ius gentium की तरह समानता के सिद्धान्तो पर आधारित एक व्यापक और सावजनिक न्याय प्रणाली के लिए जिस आधार की जरूरत थी वह नष्ट हो गया, अपराध और पाप को बुरी तरह गडमड कर दिया गया और न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तो को ऐसी धार्मिक दन्तकथाओ के ढेर मे दबा दिया कि वह किसी भी मूखतापूण काम को हास्यास्पद रूप से उचित ठहरा सकती है। मध्ययुग मे श्रेणियो और नगरो के जो विविध दस्तावेज़ उपलब्ध थे, उनके अध्ययन एव विश्लेपण को महत्त्व नही दिया गया। इन अनेक समूहो (कबीलाई, जातीय, श्रेणीय और सम्भवत नगरीय समूहो) से भारतीय सस्कृति को जो योगदान मिलनेवाला था वह नष्ट हो गया। बुद्ध और असोक ने लोगो को सभ्य व सामाजिक बनाने की दिशा म जिस काय की शुरुआत की थी, उस फिर आगे बढाने की कोई कोशिश नही हुई। जाति-बन्धन और जातिगत अलगाव की कठोरता ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि सभी वर्गों, पेशो, जातियो तथा धर्मों के लिए सवसामान्य न्याय व समानता को लागू करने की सम्भावना ही समाप्त हो गयी। इसी का यह एक परिणाम है कि समूचा भारतीय इतिहास ही लुप्तप्राय हो गया है। ईसा पूव पाँचवी सदी के कबीलो (लिच्छवियो, मल्लो और पजाब के ग्रामों) ने अपनी आजादी की रक्षा उतनी ही दढता से की थी जितनी दृढता से यूनान के नगर-राज्यो ने की थी और इस दिशा मे इनका सघप मकदूनिया के खिलाफ अथेन्स के सघप से कही अधिक तीव्र था। परन्तु किसी ब्राह्मण अरस्तू ने इनके सविधानो का अध्ययन नही किया। अथेन्स की सावजनिक सभाओं की तरह इनकी सभा परिषदें भी (जैसाकि परम्परा से ज्ञात होता है) वाद विवाद और वाक्पटुता के लिए प्रसिद्ध थी, पर कोई भी इतिहासकार हमे जानकारी नही देता कि इन स्वतन्त्र समुदायो की कौन-कौन सी सस्थाएँ थी और वे किस प्रकार नष्ट हुई। प्राचीन यूनानी ग्रन्थो की साहित्यिक उत्कृष्टता और मध्ययुगीन सस्कृत पुराणो की नीरस एव अन्तहीन बकवाद की तुलना से इन दोनो देशो के पुरातत्त्व मे जितना अन्तर दिखायी देता है, उतना दरअसल नही है। मेगास्थनीज ने भारत के 'स्वतन्त्र नगरो' का उल्लेख किया है, यूनानियो के लिए इन शब्दो का सुस्पष्ट ऐतिहासिक अथ था, भले ही मकदूनिया न उन्हें अपन अधीन कर लिया हो। अरस्तू इस बात का विशेष रूप से उल्लेख करता है कि, स्पार्टा, क्रीट तथा अन्य यूनानी नगरो म सहभोजन एक महत्त्वपूण जनतान्त्रिक प्रथा थी। यजुर्वेद के 'सग्धि और 'सपीति' का भी ठीक यही अथ है—मिलकर खाओ और

मूर्खतापूर्ण क्यों न हो,
प्रभाव पड़ा। प्राच
संग्रह किया, कई ज
व्यावहारिक अरबों न
सम्वर्धित संस्कृत के
किया। पर आज स्थि
लिए अनन्त' नामक
की पहचान के बारे में
सम्बन्ध कम-से-कम च
तृणों से लेकर बड़े वृक्ष
इसी प्रकार, ब्राह्मणों
व मिस्र तक के तीर्थस
स्थलों की पहचान कर
लिखे गये, न ही इन
भारत के घटना-स्थलों
लिए, कभी-कभी भारत
अरब व्यापारियों और
इतनी उपयोगी स्रोत-स

तीव्र वृद्धि और दी
खाका प्रस्तुत किया गय
अन्त में हालत यह हो ग
बारह साल तक वेदाध्य
लगा। पराश्रयिक जाति
कभी तो ब्राह्मण कर दे
जाता था। इक्के दुक्के
कुलीन महामना ब्राह्मण
जमे आश्चर्यचकित विदे
झूठ बोलते नहीं देखा गय
असहाय, नीरस, प्राय
विजय थी, जिसे चाणक्य
के रूप में चुना था। जैस
वृद्धि से भी यह जाहिर थ
के लिए शासक-वर्ग को भ
करना पड़ा। संस्कृति की

) निष्ठा—इन सबका भारतीय विज्ञान पर बड़ा घातक
न भारतीय आयुर्वेद ने अनेक उपयोगी औषधियों का
ी बूटियों की जानकारी वनवासियों से मिली। अलबत्ता
भी, जो गेलन और अरस्तू से परिचित थे, रोग-निदान से
एक ग्रन्थ को उपयोगी पाया और अरबी में उसका अनुवाद
ति यह है कि अनेक आयुर्वेदाचार्य कई प्रकार की ऐंठनों के
नस्पति के इस्तेमाल का सुझाव तो देते हैं, किन्तु इस बूटी
वे एकमत नहीं हैं। विभिन्न प्रदेशों में इस संस्कृत नाम का
दह किस्म की वनस्पतियों से जोड़ा जाता है—साधारण
ी तक, और लगता है कि इन सबके गुणों लिखे जाते हैं।
ने देश भर के पवित्र तीर्थस्थलों की और देश के बाहर बाकू
लों की लम्बी सूचियाँ तैयार की थीं। पर इनमें से अनेक
पाना आज सम्भव नहीं है, क्योंकि न तो यात्रा-विवरण
स्थलों की सही पहचान की सूचनाएँ मिलती हैं। प्राचीन
और लोगों के बारे में ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करने के
अवशेषों की पहचान के लिए भी, हमें यूनानी भूगोलविदों,
चीनी पर्यटकों के विवरणों की शरण में जाना पड़ता है।
ामग्री हमें किसी भी भारतीय ग्रन्थ में नहीं मिलती।
कालीन विघटन की जिस निराशाजनक कथा का यहाँ
र है वह असोक के बाद की पन्द्रह सदियों की कथा है।
थी कि देहात का ब्राह्मण, किसी सुदूर स्थान में जाकर
यन करना तो दूर रहा, अक्षरज्ञान से भी वंचित रहने
गत विशेषाधिकार कभी स्वेच्छा से त्यागे नहीं गये, कभी-
की बजाय अनशन करके प्राण त्यागने को तैयार हो
वाली ताम्रपत्रों से भी यही जाहिर होता है कि उच्च-
उस जमाने को बहुत पीछे छोड़ चुका था जब एरियन-
ी कह उठते थे कि, 'पर वास्तव में, किसी भारतीय को
ा।' किन्तु ब्राह्मणवाद की प्रत्यक्ष पराजय, दरअसल,
आत्मनिर्भर एवं स्वतन्त्र तथा निरस्त्र देहात की पूर्ण
ने राज्य की शक्ति और राजकोश के उत्पादक आधार
कि पहले कहा जा चुका है, अन्धविश्वासों की असीमित
कि, समाज के नियन्त्रण में श्रम को प्रभावकारी बनाने
ी कई बन्धनों और औपचारिक प्रथाओं को स्वीकार
प्रगति के लिए आपसी मेल-जोल और विचारों के

आदान-प्रदान की आवश्यकता होती है, और वस्तुत ये दोनो ही बातें वस्तुओ के लेन देन की तीव्रता—पण्य-उत्पादन—पर निर्भर करती हैं। आबादी के साथ भारतीय उत्पादन बढा है, पर यह पण्य उत्पादन नही था। गाँव अधिकतर अपनी उपज से ही अपना काम चला लेते थे। जिन थोडी सी वस्तुओ का लेन देन होता था, वे भी भूमिकर, खिराज और करो के रूप मे सामन्त स्वामी अथवा आयकर अधिकारी—दोनो प्राय एक ही व्यक्ति होते थे—के हाथो मे पहुँच जाती थी। ग्राम्य समाज के इसी अलगाव के कारण मध्ययुगीन भारत मे विभिन्न धर्मो तथा धार्मिक दर्शनो का बेशुमार फैलाव हुआ, पर बौद्धधर्म की तरह भारत के बाहर इनका प्रचार प्रसार नही हुआ—गौण अपवाद है तो केवल बृहत्तर मलेशिया।

७ २ बौद्धधर्म का विकास

चीनी यात्री युवान् च्वाङ् संस्कृत और भारतीय बौद्धधर्म का विशिष्ट अध्ययन करने के उद्देश्य से ६३० ई० के तुरन्त बाद नालन्दा विहार के विद्यापीठ मे पहुँचा। वह लम्बा रास्ता तय करके, रेगिस्तान व बर्फ से ढँके पर्वतो को पार करता खोतान से गन्धार तक ऊँचे ऊँचे स्तूपो और समृद्ध विहारो को देखता, पजाब होकर राजगिर के समीप बौद्धधर्म की जन्मभूमि मे पहुँचा था। सम्मान्य विदेशी विद्वान होने के नाते नालन्दा विहार के प्रमुख आचार्य शीलभद्र ने उसका स्वागत किया। चीनी जीवनीकार ने युवान च्वाङ् के स्वागत के बारे मे लिखा है

> 'उन्हे राजा बालादित्य के प्रकोष्ठ मे बुद्धभद्र के भवन की चौथी मंजिल पर ठहराया गया। सात दिन तक अतिथि-सत्कार करने के बाद धर्मपाल बोधिसत्व के भवन के उत्तर मे एक अतिथि-गृह मे उन्हे जगह दी गयी और उनकी दैनन्दिन जरूरत की चीजो की मात्रा बढा दी गयी। उन्हे प्रतिदिन १२० ताम्बूल-पात्र, २० सुपारियाँ, २० जायफल, एक औंस कपूर और एक 'शाङ् महाशाल' चावल मिलता था। इस चावल के दाने काली मूंग की फली से भी बडे थे और पकाने पर उनमे ऐसी सुगन्ध निकलती जैसी अन्य किसी चावल मे नही होती। यह चावल केवल मगध मे ही पैदा होता था, अन्यत्र कही नहीं। चूंकि यह चावल केवल राजाओ और सदाचारी महापण्डित भिक्षुओ को ही दिया जाता था, इसलिए इसे महाशाल कहते थे। उन्हे हर महीने तीन 'तो' तेल दिया जाता, और वह हर रोज चाहे जितने घी दूध का सेवन कर सकते थे। एक सेवक व एक ब्राह्मण उनकी परिचर्या के लिए नियुक्त था, विहार के सामान्य कार्यों से उन्हे छूट मिली हुई थी, और बाहर निकलने पर सवारी के लिए उन्हे हाथी मिलता था। नालन्दा विद्यापीठ मे कुल मिलाकर १०,००० आनिवासी व अतिथि भिक्षु थे, पर केवल दस व्यक्तियो को ही, जिनमे युवान् च्वाङ एक थे, ये सुविधाएँ प्राप्त थी। जहाँ भी वे गये, उनका सर्वत्र इसी प्रकार

मूर्खतापूर्ण क्यों न हो) निष्ठा—इन सबका भारतीय विज्ञान पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। प्राचीन भारतीय आयुर्वेद ने अनेक उपयोगी औषधियों का संग्रह किया, कई जड़ी बूटियों की जानकारी वनवासियों से मिली। अत्यन्त व्यावहारिक अरबों ने भी, जो गेलन और अरस्तू से परिचित थे, रोग निदान से सम्बंधित संस्कृत के एक ग्रन्थ को उपयोगी पाया और अरबी में उसका अनुवाद किया। पर आज स्थिति यह है कि अनेक आयुर्वेदाचार्य कई प्रकार की ऐंठना के लिए 'अनन्त' नामक वनस्पति के इस्तेमाल का सुझाव तो देते हैं, किन्तु इस बूटी की पहचान के बारे में वे एकमत नहीं हैं। विभिन्न प्रदेशों में इस संस्कृत नाम का सम्बन्ध कम से कम चौदह किस्म की वनस्पतियों से जोड़ा जाता है—साधारण तृणों से लेकर बड़े वृक्षों तक, और लगता है कि इन सबके नुस्खे लिखे जाते हैं। इसी प्रकार, ब्राह्मणों ने देश भर के पवित्र तीर्थस्थलों की और देश के बाहर बाकू व मिस्र तक के तीर्थस्थलों की लम्बी सूचियाँ तैयार की थीं। पर इनमें से अनेक स्थलों की पहचान कर पाना आज सम्भव नहीं है, क्योंकि न तो यात्रा विवरण लिखे गये, न ही इन स्थलों की सही पहचान की सूचनाएँ मिलती हैं। प्राचीन भारत के घटना-स्थलों और लोगों के बारे में ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करने के लिए, कभी कभी भग्नावशेषों की पहचान के लिए भी, हमें यूनानी भूगालविदों, अरब व्यापारियों और चीनी पर्यटकों के विवरणों की शरण में जाना पड़ता है। इतनी उपयोगी स्रोत-सामग्री हमें किसी भी भारतीय ग्रन्थ में नहीं मिलती।

तीव्र वृद्धि और दीर्घकालीन विघटन की जिस निराशाजनक कथा का यहाँ खाका प्रस्तुत किया गया है वह अशोक के बाद की पन्द्रह सदियों की कथा है। अन्त में हालत यह हो गयी कि देहात का ब्राह्मण, किसी सुदूर स्थान में जाकर बारह साल तक वेदाध्ययन करना तो दूर रहा, अक्षरज्ञान से भी वंचित रहने लगा। परार्थिक जातिगत विशेषाधिकार कभी स्वेच्छा से त्यागे नहीं गये, कभी-कभी तो ब्राह्मण कर देने की बजाय अनशन करके प्राण त्यागने को तैयार हो जाता था। इक्के दुक्के जाली ताम्रपत्रों से भी यही जाहिर होता है कि उच्च-कुलीन महामना ब्राह्मण उस जमाने को बहुत पीछे छोड़ चुका था जब एरियन जैसे आश्चर्यचकित विदेशी कह उठते थे कि, 'पर वास्तव में, किसी भारतीय को झूठ बोलते नहीं देखा गया।' किन्तु ब्राह्मणवाद की प्रत्यक्ष पराजय, दरअसल, असहाय, नीरस, प्रायः आत्मनिर्भर एवं स्वतः पूर्ण तथा निरस्त्र देहात की पूर्ण विजय थी, जिसे चाणक्य ने राज्य की शक्ति और राजकोश के उत्पादक आधार के रूप में चुना था। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, अंधविश्वासों की असीमित वृद्धि में भी यह जाहिर था कि समाज के नियन्त्रण में धर्म को प्रभावकारी बनाने के लिए शासक वर्ग को भी कई बर्बर धर्मों और औपचारिक प्रथाओं को स्वीकार करना पड़ा। संस्कृति की प्रगति के लिए आपसी मेल-जोल और विचारों के

आदान-प्रदान की आवश्यकता होती है, और अततः ये दोनों ही बातें वस्तुओं के लेन देन की तीव्रता—पण्य-उत्पादन—पर निर्भर करती है। आबादी के साथ भारतीय उत्पादन बढा है, पर यह पण्य उत्पादन नहीं था। गांव अधिकतर अपनी उपज से ही अपना काम चला लेते थे। जिन थोडी सी वस्तुओं का लेन देन होता था, वे भी भूमिकर, खिराज और करो के रूप मे सामन्त स्वामी अथवा आयकर अधिकारी—दोनो प्राय एक ही व्यक्ति होते थे—के हाथो मे पहुँच जाती थी। ग्राम्य समाज के इसी अलगाव के कारण मध्ययुगीन भारत मे विभिन्न धर्मो तथा धार्मिक दर्शनो का बेशुमार फैलाव हुआ, पर बौद्धधर्म की तरह भारत के बाहर इनका प्रचार प्रसार नहीं हुआ—गौण अपवाद है तो केवल बृहत्तर मलेशिया।

७ २ बौद्धधर्म का विकास

चीनी यात्री युवान्-च्वाङ् संस्कृत और भारतीय बौद्धधर्म का विशिष्ट अध्ययन करने के उद्देश्य से ६३० ई० के तुरत बाद नालन्दा विहार के विद्यापीठ मे पहुँचा। वह लम्बा रास्ता तय करके, रेगिस्तान व बर्फ से ढँके पर्वतो को पार करता खोतान से गन्धार तक ऊँचे ऊँचे स्तूपो और समृद्ध विहारो को देखता पजाब होकर राजगिर के समीप बौद्धधर्म की जन्मभूमि मे पहुँचा था। सम्मान्य विदेशी विद्वान होने के नाते नालन्दा विहार के प्रमुख आचार्य शीलभद्र ने उसका स्वागत किया। चीनी जीवनीकार ने युवान्-च्वाङ् के स्वागत के बारे मे लिखा है

'उन्हें राजा बालादित्य के प्रकोष्ठ मे बुद्धभद्र के भवन की चौथी मजिल पर ठहराया गया। सात दिन तक अतिथि-सत्कार करने के बाद धर्मपाल बोधिसत्व के भवन के उत्तर मे एक अतिथि-गृह मे उन्हे जगह दी गयी और उनकी दैनन्दिन जरूरत की चीजो की मात्रा बढा दी गयी। उन्हे प्रतिदिन १२० ताम्बूल पान, २० सुपारिया, २० जायफल, एक औस कर्पूर और एक 'शाङ्' महाशाल चावल मिलता था। इस चावल के दाने काली मूग की फल्ली से भी बडे थे और पकाने पर उनमे ऐसी सुगन्ध निकलती जैसी अन्य किसी चावल मे नही होती। यह चावल केवल मगध में ही पैदा होता था, अन्यत्र कही नहीं। चूकि यह चावल केवल राजाओ और सदाचारी महापण्डित भिक्षुओ को ही दिया जाता था, इसलिए इसे महाशाल कहते थे। उन्हे हर महीने तीन 'तो' तेल दिया जाता, और वह हर रोज चाहे जितने घी दूध का सेवन कर सकते थे। एक सेवक व एक ब्राह्मण उनकी परिचर्या के लिए नियुक्त था, विहार के सामान्य कार्यों से उन्हे छूट मिली हुई थी, और बाहर निकलने पर सवारी के लिए उन्हे हाथी मिलता था। नालन्दा विद्यापीठ मे कुल मिलाकर १०,००० आतिथेय व अतिथि भिक्षु थे, पर केवल दस व्यक्तियो को ही, जिनमे युवान च्वाङ् एक थे, ये सुविधाएँ प्राप्त थी। जहाँ भी वे गये, उनका सर्वत्र इसी प्रकार

अतिथि-सत्कार हुआ।'

स्वय नालदा विहार के बारे मे जीवनीकार ने लिखा है

'एक के बाद एक छह राजाओ ने छह विहार बनवाये, फिर ईंटा का एक बाडा बनाया गया, इस प्रकार सभी भवनो को मिलाकर एक बडा विहार बन गया, जिसमे सबके लिए एक प्रवेश द्वार था। कई प्रकोष्ठ थे और वे आठ विभागो म बँटे हुए थे। कीमती चबूतरे सितारो जस फैले थे और सगयशव के मण्डपो के शिखर पवत-चोटियो-जैसे थे। मदिर इतना ऊँचा था कि कुहासे मे खो जाता था और उसके सभा मण्डप बादलो से भी ऊपर दिखायी देते थे। उद्यानो मे नीले जल की धाराएँ बहती थी, चन्दन के वृक्षो की बहार के बीच हरे कमल चमकते थे और बाडे के बाहर एक आम्र कुज था। सभी प्रकोष्ठो मे भिक्षुओ के आवास-गृह चार मजिल के थे। कडियाँ इन्द्रधनुष के सभी रगो से रँगी थी और उन पर पशुआ की आकृतियाँ उकेरी हुई थी। स्तम्भो को लाल व हरा रग दिया गया था। स्तम्भ व प्रवेश द्वार अनुपम अलकरण से उत्कीण थे। स्तम्भमूल ओपदार पत्थरो के थे और गहस्यूणाएँ चित्रो से सुशोभित थी। भारत मे हजारो विहार हैं पर वैभव व भव्यता मे नालदा बेजोड है। वहा सदैव १०,००० भिक्षु, आतिथेय व अतिथि, निवास करते हैं। ये भिक्षु महायान और हीनयान की १८ शाखाओ के सिद्धातो का अध्ययन करते हैं, साथ ही, वेद व दूसरे पुराने लौकिक ग्रथो का भी अध्ययन करते हैं। वे व्याकरण, चिकित्साशास्त्र और गणितशास्त्र का भी अध्ययन करते है। निर्वाह के लिए राजा की ओर से उन्हें १०० गाँवो का राजस्व मिला हुआ था, और प्रत्यक गाँव म २०० परिवार थे, जो उन्हे प्रतिदिन कई सौ 'तान्' चावल, घी और दूध लाकर देते थे। इस प्रकार, बिना भिक्षा मांगे ही विद्यार्थियो की चार आवश्यकताएँ (वस्त्र, भोजन, आवास और औषधि) पूरी हो जाती है। इसी अनुदान के कारण वे विद्या के क्षेत्र मे आगे बढ पाये हैं।'

नालदा के ध्वसावशेषो से भी सिद्ध होता है कि इस विवरण मे कोई अतिशयोक्ति नही है, यद्यपि पुरातत्ववेत्ता अभी एक भी विहार के क्रमिक विकास का सुनिश्चित ब्यौरा प्रस्तुत नही कर पाये हैं। उस युग मे भी सात मजिलो के भवन होते थे और बुद्धगया का महाबोधि मदिर आज की १६० फुट की ऊँचाई तक पहुँच चुका था। भिक्षुओ की गतिविधिया के बारे म स्वय युवान्-च्वाङ ने लिखा है

'विनय (लिउ), अभिधम (लुन) और सूत्र (किङ्) बौद्ध पिटक ग्रथ हैं। जो इनम से एक वग की पुस्तको की पूण व्याख्या कर सके उसे कमदान से मुक्ति मिल जाती है। यदि वह दो वर्गों की व्याख्या कर सके,

तो उसे इसके अतिरिक्त ऊपर का आसन अथवा कक्ष मिलता है, जो तीन वर्गों की व्याख्या कर सके तो उस देखभाल और आज्ञापालन के लिए कई सेवक मिलते है, जो चार वर्गों की व्याख्या कर सके उसे उपासक-सेवक मिलते है, जो धर्मग्रन्थो के पाँच वर्गों की व्याख्या कर सके उसे एक अनुरक्षक मिलता है। यदि कोई परिष्कृत भाषा, सूक्ष्म अन्वेषण, गहन दृष्टि तथा अकाट्य तर्कों से सभा मे (शास्त्रार्थ मे) विजय प्राप्त करता है तो उसे बहुमूल्य आभूषणो से सज्जित हाथी पर बिठाकर दल-बल के साथ (जुलूस मे) विहार के प्रवेश-द्वार तक ले जाते हैं। इसके विपरीत, यदि कोई वादविवाद मे पराम्त हो जाता है, अथवा अनुपयुक्त तथा अपरिष्कृत शब्दावली का प्रयोग करता है अथवा तर्कशास्त्र के किसी नियम का उल्लघन करके तदनुरूप शब्दो का प्रयोग करता है, तो वे उसके चेहरे को लाल व सफेद रग से विद्रूप बनाते है और उसके शरीर पर धूल व मिट्टी पोतते है, और फिर उसे किसी निजन स्थान मे छोड आते है या किसी खड्ड मे ढकेल देते हैं।'

स्पष्टत, यह बौद्धधम उस बौद्धधम से कोसो दूर था जिसका ईसा पूव छठी सदी मे इसके सस्थापक ने मगध म प्रतिपादन किया था। ऐसे तपस्वी भिक्षु अब भी थे जो नगे पैर यात्रा करते, खुले म सोते, बचे-खुचे अन्न की भिक्षा ग्रहण करके उदर-निर्वाह करते और लोकभाषा मे ग्रामवासियो या आटविको को उपदेश देते, पर उनकी सख्या व प्रतिष्ठा निरन्तर घटती जा रही थी। भिक्षु के लिए निर्धारित चीथडो से सिले हुए वस्त्रा के स्थान पर अब कीमती केसरिया रग मे रँगे बढिया सूती कपडे, उत्तम ऊन अथवा विदेशी रेशम के सुरुचिसम्पन्न वस्त्रा का इस्तेमाल होता था। लगता है कि यदि स्वय बुद्ध (जो अपनी अन्तिम पार्थिव यात्रा के दौरान नालन्दा ग्राम से गुजरे थे) उस भव्य सस्थान मे, जो उनके नाम पर चलता था, पहुँचते तो उनकी खिल्ली उडायी जाती और उन्हें निकाल दिया जाता, बशर्ते कि सयोगवश वह कोई अलौकिक चमत्कार दिखाकर अपने को साबित कर पाते। बुद्ध ने ऐसे चमत्कारो की हँसी उडायी थी, पर अब ये उस धम के अभिन्न अग बन गये थे और अनेकानेक बुद्धो के अलौकिक चमत्कारो की कथाएँ भी फैल चुकी थी। अतिप्राचीन प्रजनन-अनुष्ठान, कुछ परिष्कृत होकर, तत्रविद्या के रूप म पुन प्रचलित हुए, इन्होंने न केवल नये सम्प्रदायो को जन्म दिया, बल्कि ये बौद्ध, जन व ब्राह्मण धम-कम मे भी प्रविष्ट हुए। जिस प्रकार अपरिग्रह व सादगी के भिक्षु-सघ के पूवकालीन नियम त्याग दिये गये थे उसी प्रकार पद प्रतिष्ठा के बोलबाले के कारण पुरातन सिद्धात भी धुंधले पड गये थे। ऊपर उल्लिखित महायान बौद्धधम ने ईसा की दूसरी सदी मे और उसके बाद से इस रमणीय जीवन को शारीरिक व मानसिक रूप स अगीकार

कर लिया था। हीनयान (विभाजन के बाद महायानियों द्वारा दिया गया तिरस्कारसूचक नाम) ने बाह्य रूप में पूर्वकालिक सादगी को कुछ हद तक कायम रखा। उन्होंने एक निर्धारित संख्या में पालि धर्मग्रंथों को भी सुरक्षित रखा, जबकि महायानियों ने बौद्धग्रंथों की संस्कृत में मनमर्जी से रचना की, पुनरचना भी की। तिब्बती व चीनी अनुवादों में जो महायानी बौद्धग्रंथ उपलब्ध हैं उनसे एक पूरा पुस्तकालय खड़ा हो सकता है, हालांकि असंख्य ग्रंथ, अनूदित हुए बिना ही, अपने संस्कृत मूल में नष्ट हो गये हैं। इन दोनों बौद्ध सम्प्रदायों की विहार व्यवस्थाओं में नगण्य अंतर था, क्योंकि हीनयानी विहारों को भी प्रचुर अनुदान मिलता था और कालांतर में (जैसाकि श्रीलंका व बर्मा में अवशिष्ट प्रथाओं के रूप में देखने को मिलता है) प्रत्येक विहार का संचालन एक ही परिवार के अधिकार में रहने लगा, आवश्यकतानुसार, विहाराध्यक्ष का पद अधिकार में रखने के लिए उस परिवार का कोई तरुण प्रव्रज्या भी ग्रहण कर लेता था। फूट पड़ने के पहले भी भागे हुए दासों, थाटविकों, भागे हुए अपराधियों, संक्रामक रोगियों कर्जदारों तथा आदिवासी नागों का संघ में प्रवेश वर्जित था। संघ और राज्य के बीच समझौता हो गया था। परिणामतः, नागरिक जीवन में जो स्थान चक्रवर्तिन का था, उसी के अनुरूप धर्म के क्षेत्र में बुद्ध को दर्जा दिया गया।

आरम्भिक बौद्ध अनुशासन का एक प्रमुख पक्ष मानव शरीर के जुगुप्साकारी एवं मलिन अंगों पर बल देता है। भिक्षु के लिए यह आवश्यक था कि नियमपूर्वक अपने ही शरीर के घृणित गुह्यांगों पर बड़ी बारीकी से ध्यान केंद्रित करे। उसे हिदायत थी कि वह श्मशान में काफी समय तक रहकर देखे कि गिद्ध, सियार व कीड़े आदमी के शव को किस प्रकार खाते हैं। पर उत्कृष्ट बौद्ध कलाकृतियों को देखकर कोई भी अनुमान नहीं कर पायेगा कि ऐसा भी होता था। अनगिनत मुकुटधारी बोधिसत्व ऐश्वर्यशाली किन्तु अंगों को प्रकट दिखानेवाले वस्त्र धारण की हुई स्त्रियां, और उनके रमणीय पुरुष सहचर में धार व भारहुत से लेकर अजंता व अमरावती तक बिखरे पड़े हैं। इन वैभवशाली भित्तिचित्रों और उत्कीर्णों की एकरूप संगति को नष्ट करनेवाला और भिक्षु को बुद्ध के उपदेश की याद दिलानेवाला ऐसा कोई दृश्य नहीं जिसमें किसी सड़े हुए आधे खाये शव का अथवा मवाद भरे घावोंवाले कुष्ठपीड़ित भिखारी का दिखाया गया हो। इन कलाओं में उस अतिदरिद्र ग्रामवासी (पामर) के आम कष्टों का भी चित्रण नहीं है जिसकी अतिरिक्त उपज तो भिक्षु हजम कर लेता था, पर जिसकी दरिद्रता की इस निष्ठुर सिद्धांत के आधार पर उपेक्षा की जाती कि, किसी पूर्वजन्म के कर्मों के कारण ही उसे अब कष्ट भोगने पड़ते हैं।

आरम्भिक पालि बौद्धग्रंथों में इन्द्र तथा ब्रह्मा को बुद्ध के उपदेशों का श्रद्धा

पूवक सुननेवालो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। महायान ने अपने देवकुल मे कई सारे नये देवताओ का, जिनम गणेश, शिव और विष्णु भी हैं, समावेश कर लिया, पर ये तमाम देवता बुद्ध के अधीनस्थ थे। इस समूह मे कुछ विशिष्ट देवियाँ भी शामिल कर ली गयी, उदाहरण के लिए, अनुपम सुदरी तारा और मातृदेवी हारीती, जो मूलत शिशुभक्षक राक्षसी थी। धमग्रन्थो मे सर्पो व राक्षसा के भय निवारण के लिए जपे जानेवाले मन्त्र तत्र (धारणियो) का भी समावेश हो गया। साथ ही, नाग-राक्षस अनेक विहारो का सम्मानित सरक्षक था। स्पष्टत बुद्ध इन सबमे ऊपर थे—अपने अलग व अगम्य स्वग मे विराजमान एक प्रकार के परमेश्वर। परतु पूवजन्म के बुद्धा की सख्या सीमा से परे पहुँचा दी गयी और इनमे एक मसीही बुद्ध मैत्रेय का भी समावेश कर दिया गया। कई लोकप्रिय कथाओ का ज्यों-की-त्यो बुद्ध के पूवजन्मो की कथाआ (जातको) म बदल दिया गया, इन पूवजन्मो मे उन्होंने बुद्धत्व के लिए अपने को क्रमश परिशुद्ध किया था। हर नये मत को और हर नये साधिक नियम को बुद्ध के बारे मे नयी-नयी कथाएँ लिखकर उचित ठहराया गया। बुद्ध के पार्थिव शरीर के अवशेषो की सवत्र पूजा होने लगी और उनके आकार तथा उनकी मात्रा मे इतनी अधिक वद्धि हुई कि हाथी के झुण्ड से तुलना की जा सके। पर ब्राह्मण इस खेत्र मे अधिक निपुण थे और उन्होंने अपनी निपुणता दिखायी भी। ब्राह्मणो ने जिन देवताओ के प्रतिष्ठापन के लिए पुराणो की रचना की वे व्यापक रूप से पूजे जाते थे—किसाना से लेकर उन कबीलाई सरदारो तक जो राजपद प्राप्त कर चुके थे। एक सुप्रसिद्ध उदाहरण है कश्मीर के सरक्षक-नाग नीलमत का, जिसकी पूजा बौद्धधम के कारण अप्रचलित हो गयी थी, पर ब्राह्मणा ने विशेष रूप से नीलमत पुराण की रचना करके इसे पुनर्स्थापित किया और इसके साथ साथ अपन को भी। ईसाई धम अथवा इस्लाम की भाँति बौद्धधम कभी भी राजधम नही बना, न ही इसने अपने प्रतिद्वद्वियो के दमन के लिए शासन-व्यवस्था का इस्तेमाल किया। आरम्भ से ही बौद्ध सघ म ब्राह्मण रहे हैं जिन्होंने जातिभेद को भले ही त्याग दिया हो पर अपनी बौद्धिक परम्परा को कायम रखा। प्रचलित ब्राह्मण विचारधारा को (अनुष्ठान अथवा पूजा विधि का नहीं) प्राय मानकर चला जाता था, जैसे कि ब्राह्मणो ने भी गोमास खाना छोड दिया था और अहिंसा का अपना प्रमुख आदश स्वीकार कर लिया था। बौद्धा और ब्राह्मणा के दशनो के सारतत्त्व एक-दूसरे से मिलने लग गये थे। दोना ही जगत की भौतिक वास्तविकता अस्वीकार करते है। स्पष्टत, शकर मे अथवा उसके द्वारा खण्डन के लिए प्रस्तुत किये गये प्रतिद्वद्वियो के सिद्धातो मे ऐसा कुछ भी नही है जिसे असोक अथवा उसका कोई पूववर्ती बौद्धधम की मान्यता के रूप म पहचान पाता। आज ता यह जानने म भी कठिनाई होती है कि ठीक वाद विवाद

का विषय क्या था, क्योंकि उभय पक्षों के प्रतिपादनों में स्वरूप का भेद भले ही रहा हो, पर विषय-वस्तु की दृष्टि से नगण्य अंतर था। जहाँ तक व्यावहारिक रूप में बौद्धधर्म के घटते प्रभाव का प्रश्न है, इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि असोक कलिंग के एक विनाशकारी युद्ध के बाद ही अहिंसावादी धर्म में दीक्षित हो गया था। इसके विपरीत, कन्नौज का बौद्धधर्म परायण राजा हर्ष शिलादित्य (६०५-६५५ ई०) अधिकांश भारत को अपने अधीन करने के लिए कम-से-कम तीस साल तक लगातार लड़ाइयाँ लड़ता रहा। इसी प्रकार, चँगीज खान (तमूजिन) और उसके उत्तराधिकारी मंगोल शासकों ने अपने सैनिक अभियानों से अधिकांश यूरेशिया महाखण्ड में इतना रक्तपात व विध्वंस मचाया कि उनकी तुलना में सिकन्दर का अभियान मामूली सीमावर्ती छापा प्रतीत होता है, फिर भी ये मंगोल सम्राट भले बौद्ध मान गये। परन्तु किसी भी बौद्ध राजा ने धर्म की प्रतिष्ठा या प्रचार के लिए हत्या या जिहाद नहीं किया।

असोक ने जिस राज्याश्रय की शुरुआत की थी वह बारहवीं सदी तक चालू रहा, जब अन्त में मुसलमानों ने उत्तर भारत के सभी बौद्ध विहारों को लूटा और नष्ट कर दिया। हिन्द-यवन शासक अगथोक्लीज ने अपने सिक्कों पर बौद्ध प्रतीकों का अंकित कराया, जैसे कि मिनान्दर ने 'धम्मक दिकाइओस' शब्दों को अंकित कराया था। कुषाणों के साथ विपुल अनुदानों के एक नये युग की शुरुआत हुई और इनसे महायान को सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ, यह राजवंश ईसा की चौथी सदी तक शासन करता रहा। किसी मुस्लिम पूर्व राजा ने इन दोनों को निरस्त नहीं किया। मौर्यों के तुरन्त बाद के शासकों ने ब्राह्मण धर्म को प्रश्रय दिया। प्रथम शुंग शासक ने अश्वमेध यज्ञ किया। पर बौद्धधर्म पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा कि साँची के शुंगकालीन सम्बन्धित स्मारकों से प्रकट है। गुप्त शासकों द्वारा ब्राह्मणों को दिये गये दानों के बारे में जो ताम्रपत्र मिलते हैं उनमें ईसा की चौथी सदी से महाभारत के श्लोक प्रमुखता से उद्धृत किये गये हैं, पर साथ ही बौद्ध विहारों का पुनरुद्धार किया गया और उनको दिये जाने वाले दान में भी वृद्धि हुई। बौद्धों पर पहली बार वास्तविक अत्याचार हुए ईसा की सातवीं सदी के आरम्भकाल में जब पश्चिमी बंगाल के राजा नरेन्द्रगुप्त-शशांक ने गंगा की घाटी में दूर तक धावा बोला, अनेक बौद्ध मूर्तियों को नष्ट किया और गया के बोधिवृक्ष को भी कटवा डाला। पर हर्ष की दानशीलता से कुछ ही वर्षों के भीतर जल्दी ही सब कुछ न केवल पहले-जैसा हो गया, बल्कि अधिक वैभवशाली हो गया। परन्तु बौद्धधर्म की अवनति और अस्थिर स्थिति उस समय ही दृष्टिगोचर होने लगी थी जब युवान् च्वाङ समृद्धिशाली नालन्दा में अध्ययन कर रहा था। नालन्दा के विनाशकारी अन्त के बारे में उसका दुःस्वप्न ६५५ ई० के आसपास शब्दशः फलित हुआ, जब हर्ष की मृत्यु के बाद वहाँ के विशाल

विहार को लूटकर नष्ट कर दिया गया। किन्तु अगली सदी मे पाल शासको ने मदद देकर इनकी आर्थिक दशा सुधार दी और अनेक नये विहारो की भी नीव डाली, जिनमे एक नालन्दा के समीप का वह विशाल विहार भी था जिसके कारण पूरे प्रान्त का बाद मे विहार नाम मिला। सेन शासको ने, जो निस्सन्देह आधुनिक अर्थ मे हिन्दू राजा थे, दानप्रथा को जारी रखा और पालो द्वारा स्थापित विहारो की सम्पदा की लुटेरो से रक्षा करने के लिए उनकी किलेबन्दी भी की। इसका केवल यही परिणाम हुआ कि १२००ई० के आसपास मुट्ठी भर सिपाहियो को लेकर जब मुहम्मद बिन-बख्तियार खिलजी ने मगध व पश्चिमी बगाल पर चढाई की तो इन विहारो को लूटकर पूरी तरह नष्ट कर दिया गया। उसी समय सारनाथ के विहार और भव्य स्तूप, जो बुद्ध के प्रथम धर्म प्रवचन के स्थान पर और उनकी सादी पर्णकुटी के इर्द गिर्द खड़े किये गये थे, सदा के लिए ध्वस्त कर दिये गये, इस प्रकार, जो स्थल बुद्ध के पहले से भी निरन्तर तापसो को निवास-भूमि व मिलन स्थल रहा वह छिन्न भिन्न हो गया। हूणो के हमलो से, खूखार पाशुपतो के हस्तक्षेपो से और धार्मिक फूट से सारनाथ सुरक्षित बचा रहा, और ११५० ई० के आसपास 'हिन्दू' राजा गोविन्दचन्द्र गाहडवाल की 'बौद्ध' रानी ने कुछ ही समय पूर्व उसका पुनरुद्धार करके उसे और भी समृद्ध बनाया। ईसा की चौदहवी सदी मे कोरियावालो ने एक भारतीय भिक्षु को आमन्त्रित किया था, पर वह भिक्षु उत्तर भारत के किसी चिरप्रतिष्ठित बौद्धस्थल से नही, बल्कि दक्षिण भारत से गया था जहाँ बौद्धधर्म चुपचाप विघटित हो रहा था। लोकायतो का अल्पसख्यक अबौद्ध सम्प्रदाय और शाक्य देवदत्त के बौद्धमत अनुयायियो का सम्प्रदाय मगध मे कम से कम ईसा की सातवी सदी तक जीवित रहे। इन्हे किसी ने नष्ट नही किया, बल्कि ये स्वय शान्तिपूर्वक विघटित हुए, एक ऐसे देश

चित्र १५ एक ब्राह्मण को दिये गये भूमिदान से सम्बन्धित ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण बौद्ध सम्राट हर्ष के हस्ताक्षर (बसखेडा ताम्रशासन एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड ४ पृष्ठ २१० के सामने)। वर्ष सम्भवत ६२८ ई० था। हर्ष ने ताम्रपत्र पर स्याही मे अपने हस्ताक्षर किये स्वहस्तो मम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य। फिर स्याही के इन अक्षरो को ताम्रपत्र मे उकेरा गया।

मे जहाँ अनेक परस्पर विरोधी मतो का सह अस्तित्व तो सम्भव था, पर जहाँ उनकी परम्पराओ और उनके सिद्धान्तो को लिपिबद्ध करके स्थायी रूप मे सुरक्षित रखने की चिन्ता किसी को नही थी। हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार का अथवा किसी राजा के बौद्ध या हिन्दू होने का सवाल ही निरर्थक है। जनक लोगो ने,

राजा और प्रजा दोनो ने, अन्त समय तक परवर्ती ब्राह्मण कमकाण्ड को प्रश्रय दिया, जैसे-तसे शालीन बनाये गये प्रागैतिहासिक देवताओ की पूजा भी की और साथ ही बौद्ध, आजीवक व जैन सम्प्रदायो को उदारतापूवक दान भी दिये। कन्नौज का हर्ष, जिसके बारे मे कोई सन्देह नही कि उसने बौद्धधम का प्रश्रय दिया और जिसने स्वय एक हत्यारे को निरस्त्र करके क्षमा कर दिया था, ब्राह्मणो को दिये गये दानपत्रो म, मध्ययुग के दूसरे राजाओ की भाँति, अपने को 'परम माहेश्वर' घोषित करता है। इसके अलावा, सूय उसका कुलदेवता था, कुषाणो के साथ पुन ईरानी प्रभाव बढा तो सूय पूजा का अधिक प्रचलन हुआ और इसके साथ ही 'मग ब्राह्मणो' का, जो सम्भवत मागी मूल के थे, एक नया सम्प्रदाय पैदा हुआ। हर्ष ने 'परमभट्टारक' की उपाधि भी ग्रहण की थी। उसका एक सस्कृत नाटक नागानन्द, जिसके अभिनय म उसने आत्म-बलिदानी बौद्ध नायक की भूमिका अदा की थी, शिव पत्नी गौरी (श्वेतागी पावती) को अत्यन्त भक्तिभाव से समर्पित है। इन सब बातो म उसे कोई अन्तर्विरोध नजर नही आया, न ही उन बौद्ध, जैन, आजीवक व अन्य सम्प्रदायो के साधुओ को जो ब्राह्मणो सहित हजारो की सख्या मे गगा-यमुना के सगम-स्थल पर हर पाँचवें साल सम्राट से दान दक्षिणा ग्रहण करने के लिए एक महासम्मेलन म एकत्र होते थे। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय म आधुनिक भारतीय चरित्र की जिन विसगतियो का जिक्र किया गया है, वे युवान् च्वाड् के भारत आने के पूव ही उभरकर सामने आ चुकी थी।

फिर भी, लगता है कि गाँव की विजय की अपेक्षा इसमे धन के भ्रष्टाचारी प्रभाव का अधिक हाथ रहा है। दरअसल, असोक के काफी पहले से इस परिवतन की शुरुआत हो चुकी थी। बुद्ध निर्वाण के कोई सौ साल बाद, मगधराज कालासोक के शासनकाल मे, वेसाली के भिक्षु अपने छोटे स्थानीय सघ के लिए न केवल दान स्वीकार करने लगे थे बल्कि धन भी माँगने लगे थे। इससे तत्कालीन दूसरे बौद्ध भिक्षु इनकी बुराई करने लगे। अन्त म, वेसाली म भिक्षु यश की अध्यक्षता मे उस समय के सर्वाधिक सम्मानित भिक्षुओ का एक सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमे इस नयी प्रथा को निन्दनीय ठहराकर इस पर रोक लगा दी गयी। भिक्षु भोजन तथा व्यक्तिगत उपयोग की आवश्यक वस्तुओ के अलावा अन्य कोई चीज ग्रहण नही कर सकते थे। इस नियम को इसके बाद विनय का अग बना दिया गया। इस स्पष्ट अनुशासन के बाद भी यदि हम सभी सम्प्रदायो के विहारो को दान दक्षिणा से समृद्ध हुआ देखते है तो इस परिवतन का निश्चय ही कोई शक्तिशाली कारण रहा होगा। इस बुनियादी कारण को खोजना सहज सम्भव है।

विहारो ने बुद्ध द्वारा समर्थित बताये जानेवाले चक्रवर्तिन् राजा के एकव्रतत्य

का पालन किया, पर असोक ने इसकी परवाह न करके सडकें, विश्रामगृह, जलाशय और मनुष्यो एव पशुओ के लिए चिकित्सालय बनवाये। विहारो मे जो सम्पत्ति सचित होती थी वह अक्सर पूजी के रूप मे उन आरम्भिक व्यापारियो तथा सार्थवाहो के बडे काम आती थी जो भारत के भीतरी क्षेत्रो मे पहुँचते थे। बावरी जैसे अग्रगामी ब्राह्मण, जो अधिक-से-अधिक कुछ मवेशी और चन्द शिष्यो को लेकर जगल मे पहुँच जाते थे, यह काम करने मे असमर्थ थे। यह काम व अग्रहार अधिवासी ब्राह्मण भी नही कर सकते थे जिन्हे राजा ऐसी अछूती भूमि पर बसाते जहाँ पहले हल की खेती न हुई हो पर जो क्षेत्र कृषि-भूमि म बदलने के लिए उपयुक्त हो। एक कारण यही है कि इन दो नितान्त भिन्न धर्मों का सह अस्तित्व, बिना किसी प्रकट सघर्ष के, सातवी सदी तक उत्तर भारत मे और नौवी सदी तक दक्षिण म बना रहा। मेरी दृष्टि मे यही मुख्य कारण है कि कई सदियो तक बौद्धधर्म का विकास होता रहा—उस समय से जब प्राचीन पशुचारी जीवन के यज्ञ, जिनके खिलाफ बौद्धो ने जबरदस्त आवाज उठायी थी, कृषिजन्य अन्न-उत्पादन के व्यापक फैलाव के कारण विलुप्त हो गये थे। मुख्यत इसी विशिष्ट अर्थवृत्ति के कारण बौद्धधर्म पडोसी देशो मे भी फला, इन देशो का अपने यहा चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित करने के लिए ब्राह्मणो को आमन्त्रित करने की कोई आवश्यकता महसूस नही हुई। ये देश वैदिक यज्ञ से तनिक भी परिचित नही थे, और ये बौद्धधर्म के उन जटिल, सूक्ष्म व प्राय दुर्बोध सिद्धान्तो का जिन्हे भारतीय, चीनी, तिब्बती तथा अन्य अनेक विश्रुत भिक्षुओ की लम्बी परम्परा ने परिश्रमपूर्वक कई भाषाओ मे अनूदित किया, महज सिद्धान्त-प्रेम के कारण नही ही अपनाते।

जानकारी मिलती है कि आरम्भ मे जो बौद्धधर्म प्रचारक चीन गये उनका स्थलमार्ग के व्यापारियो से सम्बन्ध था। बौद्ध विहारो की अर्थवृत्ति के बारे म जो सर्वसामान्य जानकारी मिलती है वह अशत चीनी उल्लेखो पर आधारित है और पश्चिमी दक्खन मे फले हुए गुफा विहारो के भग्नावशेषो के स्पष्ट किन्तु अब तक उपेक्षित पुरातात्त्विक प्रमाणो से इसकी पुष्टि होती है। चीन व भारत के ऐसे विहार उसी एक महासाघिक सम्प्रदाय (प्राक्-महायानी विधान) के थे अथवा उन बौद्ध सम्प्रदायो के थे जो सिद्धान्त व आचरण मे इसके काफी निकट थे। चीनी उल्लेखो से सिद्ध होता है कि उनके महासाघिक विहारो ने चीन के भीतरी क्षेत्रो के शान्तिपूर्ण विकास मे बडा योग दिया, बौद्धधर्म ऐसे क्षेत्रो मे शान्ति व अहिंसा का सन्देश लेकर पहुँचा। इन विवरणो से पुष्टि होती है कि विहारो के अपने उद्यान तथा खेत थे, दासो व मजदूरो से खेती करायी जाती थी, किसानो और व्यापारियो को उपज बेची जाती और कर्ज दिया जाता और अकाल के समय उदारतापूर्वक दान भी दिया जाता था। बहुत-से अनुबन्ध और

कुछ विहारा के लेखे जोखे आज भी उपलब्ध है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि इन मामला मे जिस प्रथा का पालन किया गया वह भारत की महासाघिक प्रथा के अनुरूप थी। वास्तव म, जो चीनी यात्री गहन अध्ययन के लिए भारत आये थे उन्होंने विहारो के प्रशासन पर उतना ही ध्यान दिया जितना कि बौद्ध तीर्थों और पवित्र धमग्र था पर। ई चिंट, जो युवान्-च्वाङ् के सौ साल बाद भारत म आया, विहारा के दैनदिन जीवन और स्वच्छता से सम्बधित छोटी छोटी बाता का भी उल्लेख करता है और रेशम के वस्त्र पहनने के औचित्य के बारे म भारतीय भिक्षुआ द्वारा प्रस्तुत किये गये बाधे किन्तु आवपक तर्कों का अपन विवरण म समथन करता है। चीन म भी भिक्षा माँगकर जीविका चलानेवाले पुरानी परम्परा के भिक्षु थे, परन्तु ऐसे भारतीय भिक्षुआ की तरह व भी विलुप्त हो गये।

पश्चिमी भारत मे कार्ले का विहार महासाघिकों का था, पर उसम दूसरे सभी बौद्ध सम्प्रदाया के भिक्षुओ को भी प्रवेश मिलता था। इस विहार म प्रयुक्त धातु और लकडी की सभी चीजें, सिवाय चैत्य के गभगृह म स्थापित किसी समय रँगी हुई कडिया के नष्ट हो गयी हैं। स्तम्भा और दीवारा का रग भी उड गया है। सम्भवत वैसाली के सुधार ने अथ प्रेमी भिक्षुआ का दक्षिण की ओर चले जाने को विवश किया जहाँ उन पर राज्य के नियन्त्रण अथवा मगध की प्रथा की पाबन्दी नही थी। पर रेडियो-कार्बन की विधि से पता चलता है कि कार्ले की नीव अशोक के पहले ही पड चुकी थी। यहाँ की प्रतिमाएँ सुन्दर ता हैं ही, विलासमय भी है, इनमे घोडा व हाथियो पर सवार सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए समद्ध स्त्री-पुरुषा के आकपक जोडे हैं। भिक्षुआ के विहार मे ऐसी प्रतिमाएँ होने की उम्मीद शायद ही कोई रखे, पर धनी व्यापारिया के लिए यही सब रुचिकर रहा होगा। शिल्पकारा को दूर दूर से खास तौर से आमन्त्रित किया गया होगा और प्रचुर धन देकर उनसे ये प्रतिमाएँ बनवायी गयी हागी। इसके अलावा पूरे चैत्य विहार के निर्माण म कुछ सदियो का समय लगा होगा, फिर भी, समूचे विन्यास मे एकरूपता है। इसका अथ है—योजना, अध्यवसाय और प्रबन्ध की निरन्तरता। बहुत सी प्रतिमाआ, गुफाओ और स्तम्भा पर इनके दाताओ के जो नाम उत्कीर्ण है उनसे प्रकट होता है कि दूर-दूर के व्यापारिया और श्रेष्ठिया का इस स्थल से सम्बन्ध रहा है। फिर भी, ऐसे अन्य अनेक दाता थे जिन्होंने इस विहार को चलाने मे और इसे पूरा करने म योग दिया, इनके अलावा ऐसे बहुत से छोटे मोटे अज्ञातनाम दाता थे जिनके दाना का कही कोई उल्लेख नही है। दाताआ मे कुछ अधिकारी थे, तो कुछ चिकित्सक आदि। उस क्षेत्र के व्यापारी सघ (वनिय गाम) का नाम भी दाता के रूप मे एक स्तम्भ पर अंकित है, पूरे मध्ययुग म इस सस्था का प्राधान्य रहा, पर मुस्लिम विजय के साथ एक नये प्रकार के व्यापारी का उदभव हुआ तो इसका महत्त्व घट गया।

ईसा की दूसरी सदी में जब आरम्भिक दाताओ के शक राजवंश को सातवाहनो ने समाप्त किया, तो राजा और उसके राज्यपालो न पूरे गाँव दान दिये जाने की पुष्टि की। पर कुछ दानाओ के नाम चौकानेवाले है। कुछ विहारो मे बँसारो, ठठेरों, कुम्हारो आदि की श्रेणियो के नाम न केवल उदार दाताओ के रूप म अंकित हैं, बल्कि वे विहार को उन्हें प्राप्त उस धनराशि का ब्याज भी देते है जो एक राजकुमार ने न्यास निधि के रूप मे इस आशय से जमा की थी कि उसके ब्याज से विहार को सतत अनुदान मिलता रहे। इनके अलावा व्यक्तिगत दाता भी हैं लिपिक, वैद्य, लुहार, बढई, मछुओ का मुखिया, एक हलवाह की पत्नी, एक गृहस्थ किसान की मा, इत्यादि। यह आशा नही की जा सकती कि सामान्य भारतीय ग्रामीण जीवन के ऐसे शिल्पकार या कारीगर या मजदूर इतना पैसा कमायें कि कुछ महत्त्व का दान दे सकें। इसलिए वह समाज बडे पैमाने पर पण्य-उत्पादन करनेवालो का रहा होगा, बाद में दक्खन म ही नही देश के दूसरे भागो म भी उतने बडे पैमान पर पण्य-उत्पादन नही हुआ। जाहिर है कि गुफा विहारो के उस प्रदेश म अर्थशास्त्र की पद्धति की सीता भूमियो का और राजकीय उद्यमो का विकास सम्भव नही था, क्योकि उनम से अनेक विहार आज भी अविकसित जगलो म है, जबकि उत्तर भारत के विहारो के भवनो के स्थान पर अब खेती होती है। परन्तु दक्खन के सभी गुफा विहार ऐसे व्यापारी मार्गो पर स्थित ह जो पश्चिमी नदीमुखो के बन्दरगाहो (कल्याण, ठाणा, चौल कुडा, महाड) स ऊँचे दक्खनी कगार के दर्रो (घाटो) से होकर मदान तक पहुँचते है। नये अंतिम पडाव-स्थल जुन्नर के इद गिर्द भी इसी प्रकार कम-से कम १३५ बौद्ध गुफाएँ हैं, यहीं जल्दी ही सातवाहनो की दूसरी राजधानी स्थापित हुई थी।

यहा राजाओ के धम परिवतन का कोई सवाल ही नही था, क्योकि आरम्भिक गुफा विहारो की स्थापना के समय दक्खन म कोई राजा थे ही नही। जुन्नर के ३० किलोमीटर पश्चिम मे नाणेघाट के महत्त्वपूर्ण दर्रे के पास जो आधिकारिक (विहारिक नही) गुफाएँ ह उनम सातवाहन राजाओ द्वारा यज्ञ दक्षिणा के रूप म ब्राह्मणो को दिये गये अनेकानेक दानो का विस्तृत विवरण अंकित है हजारो की सख्या मे मवेशी, हाथी, रथ, घोडे सिक्के, इत्यादि। इस यज्ञ के अलावा लेखो मे सातवाहनो द्वारा कृष्ण और उसके बलशाली हलधर भाई बलराम सकर्षण की पूजा का विशेष रूप मे उल्लेख किया गया है। अन्य शब्दो म, वाकणी की परम्परा टिकी रही और उत्तर म विकसित ब्राह्मण धम ज्यो-का त्यो दक्षिण मे पहुँच गया। बावजूद इसके, सातवाहन सभी गुफा विहारो को अनुदान देत रहे। भाजा की गुफा के प्रतिमा शिल्पो को देखकर, जिनम द्वारपाल रक्षको की प्रतिमाएँ विख्यात हैं यही लगता है कि इनका निर्माण मुख्यत राजकीय सहायता से हुआ है। परन्तु यहाँ के चैत्य का मुहरा ढह चुका है और इसके साथ

ही वे प्रमुख शिलालेख भी नष्ट हो गये है जो इस पर उत्कीर्ण रहे होंगे।

मजे की बात यह है कि बौद्ध विहारो को दिये गये दानो के बारे मे जो लेख मिलते है उनमे भिक्षुओ या भिक्षुणियो के दानो का भी उल्लेख है। दान देने के लिए उनके पास पैसा था, इस तथ्य से ही प्रमाणित होता है कि उन्होने वैसाली सम्मेलन के निर्णयो का प्रकट रूप से उल्लंघन किया या उनकी कोई परवाह नही की। आरम्भ मे यह प्रथा थी कि भिक्षु संघ मे प्रवेश चाहनेवाला व्यक्ति अपनी समूची धन-सम्पत्ति का वितरण करता था और तदनन्तर कौटुम्बिक जीवन का परित्याग करता था। अब वह धन और धनार्जन का अपना अनुभव साथ लेकर विहार मे पहुँचता था। कार्ले मे धनी उपासक बुधरखित ने दान देकर अपने नाम पर एक भव्य सभा मण्डप बनवाया था। वही नाम बाद मे उस विहार-क्षेत्र के एक सिरे पर बने हुए कक्ष पर भी उत्कीर्ण देखने को मिलता है, जिससे प्रकट होता है कि गृहस्थ जीवन त्यागने के बाद उसने उस कक्ष को अपना आवास बनाया होगा। कार्ले के ही नही, इस क्षेत्र के दूसरे सभी विहारो के मुख्य भागो मे ऐसी कोठरियाँ बनी हुई हैं जहाँ खुली हवा व प्रकाश नही पहुँचता, तो जाहिर है कि कीमती सामान रखने के लिए ही इनका इस्तेमाल होता होगा। सामने के अधिकांश कक्षो मे लकडी के मजबूत दरवाजे लगे थे, जिन्हे भलीभाँति बन्द करके उनमे भीतर व बाहर से एक खास साँकल द्वारा ताले लगाये जाते होगे। इन व्यवस्थाओ से प्रकट होता है कि विहारो मे पर्याप्त सम्पत्ति जमा रहती थी। ये विहार व्यापारियो के लिए महत्त्व के ग्राहक थे भिक्षुओ के लिए वस्त्र, पूजा के लिए धूप और कीमती सुगंधित द्रव्य, धातु की मूर्तियाँ, धातु के दीपक (कालिख से आज भी सारी छतें काली हैं) बडी संख्या मे उस क्षेत्र मे उपलब्ध नही थे। यह भी स्पष्ट है कि ये विहार यात्रा के महत्त्वपूर्ण पडाव थे, साथ के लिए विश्राम स्थल थे और संभरण-गृह तथा अधिकोष (बैंक)-गृह भी थे। उदाहरण के लिए, जुन्नर मे सभी गुफाओ को एक समूह मे एक-दूसरे के समीप बनवाना अधिक सुविधाजनक होता, पर एक ही पहाडी पर बनी होने पर भी साफ दिखायी देता है कि इन्हे छोटे छोटे समूहो मे यथासम्भव पृथक्-पृथक् बनाया गया है। इनमे से प्रत्येक समूह को एक पृथक् व्यापारी वर्ग का आश्रय प्राप्त था, जो इनके असंयोजित होने का कारण हो सकता है—साम्प्रदायिक मतो की विविधता का एक वित्तीय प्रतिपक्ष।

इस व्यवस्था और इसके द्वारा पोषित विहारो का तब विघटन हो गया जब बौद्धधर्म इस अर्थ-प्रणाली के लिए प्रेरक बनने की बजाय बोझ बन गया। विलासी वस्तुओ का दूरदेशीय व्यापार, विशेषत उत्तर भारत से और समुद्रपार रोमन साम्राज्य से होनेवाला व्यापार अब मन्द पड गया था और एक नितान्त नये व्यापारी-वर्ग द्वारा आवश्यक वस्तुओ के मुख्यत स्थानीय लेन देन के व्यापार मे

भारी वृद्धि हो गयी थी। स्थलीय व्यापारी-मार्गो मे गतिरोध और ईसा की तीसरी सदी मे रोमन साम्राज्य का प्राय पूर्ण पतन भी इसके पूरक कारण हो सकते हैं। दूसरी बात यह है कि गावो और नगरो की वृद्धि होने के कारण विहारो के स्थल बडे पमाने पर व्यापारिक व वित्तीय व्यवसाय के लिए उपयुक्त नही रह गये थे। उन्हे स्थानान्तरित भी नही कर सकते थे, क्योकि धार्मिक कृत्यो का, जो अन्ततोगत्वा वित्तीय नही, माधिक थे, यह तकाजा था कि विहार एकान्त स्थान मे हो। बडे-बडे सार्थ शनै-शनै बजारो (वाणिज्यकार=व्यापारी) और लमाणो (लम्बमार) के छोटे समूहो मे विघटित हो गये, और आज भी ये मौजूद है। शक्तिशाली श्रेणियाँ टूट गयी और उनके सदस्य दूर दूर के देहातो मे फैल गये, अथवा वे उत्पादको के ऐसे गरीब जाति-समूहो मे सिमट गये जो थोडे लाभ के लिए भी दूर-दूर तक यात्रा करते थे, जैसेकि बँसागे की बुरूड जाति के लोग और टोकरियाँ बनानेवालो के समूह आज भी करते है। उत्पादन बढा, किन्तु प्रति व्यक्ति पण्य उत्पादन और दूरव्यापी वस्तु विनिमय की रफ्तार, दोनो मे गिरावट आयी। लगभग छठी सदी से घाटो की सुरक्षा के लिए किले बन गये, जो नयी सामन्ती व्यवस्था के परिचायक थे। प्रकट रूप से इन किलो का मकसद था राज्य और यात्रियो की रक्षा करना, पर उनकी असली उपादेयता थी सार्थों से माल कर वसूल करना। सबसे विकट समस्या यह थी कि विहारो मे कीमती धातु, पीतल और काँसे की जो अपार सम्पदा जमा हो गयी थी उसकी सिक्को, बरतनो और औजारो के लिए बडी आवश्यकता थी। चीनी सम्राटो को भी अन्त मे आदेश जारी करके बौद्ध मन्दिरो तथा विहारो के लिए धातु की मूर्तियो के निर्माण पर पाबन्दी लगानी पडी थी। भारत मे ये आवश्यक आर्थिक उपाय अक्सर धर्मशास्त्रीय ऊहापोह के साथ, धार्मिक परिवर्तन के जरिये, खोजे जाते थे। विहार तो नष्ट हो गये, पर उनके निशान नही मिटे। प्राचीन मातृदेवियाँ, जिनके आद्य पूजा स्थल इन विहारो के समीप ही थे और जिन्हे बौद्धधर्म ने विस्थापित कर दिया था, कही कही ठीक उन्ही स्थलो पर पुन प्रकट हुई। कही-कही उन्होने उजडे हुए गुफा विहार मे ही अड्डा जमाया, जुन्नर की मातृदेवी के मानमोदी नाम को उसी स्थान पर युगो तक पीछे जाकर खोजा जा सकता है। कार्ले के विशाल पाषाण स्तूप का सम्बन्ध देवी यमाई के साथ जोडा जाता है। पर इन मातृदेवियो को दी जानेवाली रक्तबलि इन बौद्धस्थलो पर या तो बन्द कर दी गयी थी या कही दूर के स्थलो पर होती थी। उत्तर भारत का कुषाण पद्धति का हल, जिसका महाराष्ट्र के कुछ भागो मे आज भी इस्तेमाल होता है, आमतौर पर बौद्ध गुफाओ के आसपास देखने को मिलता है। सोलहवी सदी के महान मराठा सन्त तुकाराम ने अपने आराध्य देव विठोबा का बुद्ध (जिनके बारे मे उनकी जानकारी बहुत थोडी थी) के साथ तादात्म्य स्थापित किया। निश्चय

ही यह मात्र सयोग नही है कि तुकाराम उन्ही बौद्ध गुफाओ मे ध्यान लगाते थे और वहीं पर उन्होने अपने सरल धार्मिक अभगो की रचना की।

ऐसे परिवर्तनों के बुनियादी आर्थिक कारण एक अन्य सन्दर्भ मे अधिक स्पष्टता से समझे जा सकते हैं। कश्मीर के राजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०, सातवी सदी का सम्राट हर्ष नही) ने अपने समूचे राज्य की, चार को छोडकर, धातु की सभी मूर्तिया को बाकायदा गलवा डाला था। इस काम के लिए उसने एक खास मन्त्री—'देवोत्पाटन नायक'—नियुक्त किया था। प्रत्येक मूर्ति को सडको से घसीटकर ढलाईघर तक ले जाने के पहले कुष्ठरोगी भिखारियो द्वारा मलमूत्र डलवाकर सार्वजनिक रूप से भ्रष्ट किया जाता था। इस कृत्य के लिए कोई धर्मशास्त्रीय सफाई नही पेश की गयी। राजा के कुछ वेतनभोगी मुसलमान अगरक्षक भी थे पर उन्हे चोट पहुँचाने के लिए उसने जान बूझकर सूअर का मास खाया। फिर भी यह हर्ष एक सुसस्कृत व्यक्ति, साहित्यिक, और नाटक, नृत्य व सगीत का ममज्ञ था। उसने ब्राह्मणो की यथोचित मदद की और एक बौद्ध आचार्य का सम्मान किया दरअसल इसी बौद्ध आचार्य की अनुनय से चार मूर्तिया, जिनमे दो बुद्ध की थी, बच पायी। राजा को विद्रोही डामर सामन्तो के विरुद्ध घोर और खर्चीले युद्ध लडने के हेतु धन जुटाने के लिए इस धातु की बडी आवश्यकता थी। चौदहवी सदी मे बिना किसी प्रहार के और पश्चात लटमार व अत्याचार के बिना ही कश्मीर पर मुसलमानो का शासन स्थापित हो गया।

७ ३ राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन

मौर्यो के बाद के भारतीय राजवश काफी सुविदित है यद्यपि कालक्रम कही भी सुस्पष्ट नही है और किसी राज्य की सीमाएँ भी सुनिश्चित नही है। अलग अलग राजाओ पर किस्से-कहानियो के आकर्षक आवरण चढे हुए है। राज सभाओ म कही कोई विवरण नही मिलते, सिवाय बाद के कश्मीर की रूपरेखा के और सम्भवत चम्बा के शासको की वशावली के। फिर भी, प्रमुख नाम गिनाये जा सकते है। प्रमुख विभाग है कुषाण, सातवाहन, गुप्तकाल हर्षकाल और फिर ह्रास। अनेक शूरवीर राजाओ ने इस उप महाखण्ड मे इधर उधर हमले किये। पर गावो मे इस बात पर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया कि ऊपर के स्तर पर क्या हो रहा है। पूरी कहानी का सार सम्भवत यही है।

असोक के बाद उसके करीब आधे दजन उत्तराधिकारियो ने उसके साम्राज्य के विभिन्न भागो पर सम्भवत एक साथ ही शासन किया क्योकि प्रत्येक भाग की अपनी कुछ प्रमुख समस्याएँ थी। इतना स्पष्ट है कि असोक के उत्तराधिकारियो न बुनियादी नीति म कोई रद्दोबदल नही की। असोक के पौत्र दशरथ ने बराबर गुफाएँ आजीवको को भेंट की ना एक अन्य उत्तराधिकारी सम्प्रति जन मतावलम्बी होकर मरा। मौर्य नाम की प्रतिष्ठा राजशक्ति समाप्त हो जाने

पर भी, दीघकाल तक बनी रही। असोक के 'अतिम वशज' मगध के पूणवमन् ने शशाक के विध्वसक हमने के याद, गया के बोधिवृक्ष का और बौद्ध स्मारकों का पुनरुद्धार किया। मध्ययुगीन राजपूत कुलो के पारम्परिक प्रवतक बाप्पा रावल ने एक स्थानीय मौय को हटाकर ही राजस्थान मे अपना शासन स्थापित किया था। ऐसे छाट मोट 'मौर्यों' के बारे म दक्षिण म गोवा पयन्त दसवी सदी तक जानकारी मिलती है। चन्द्रगुप्त मौय के कुछ अमिट प्रताप के कारण ही शायद सत्रहवी सदी मे मराठा नाम चन्द्रराव मोरे उपाधि बन गया।

अतिम मौय सम्राट बृहद्रथ की उसके सेनापति शुगकुल के पुष्यमित्र न लगभग १८४ ई० पू० में उस समय हत्या कर दी जब वह सेना का निरीक्षण कर रहा था। शुगो ने फिर से यज्ञप्रथा शुरू की, पर उनकी कमजोर सैनिक गतिविधियो को देखते हुए यही जान पडता है कि उनके इस पुनरुद्धार मे कोई जोर नही था। बबरता से ऊपर उठे खारवेल ने न कवल कलिंग म अपनी राजसत्ता स्थापित की, बल्कि गगा की घाटी म भीतर तक हमला किया और इस प्रकार असोक की विजय को पलट दिया। यूनानियो ने मौर्यों के प्रान्तीय शासक सुभगसेन से काबुल की घाटी छीन ली थी और इस प्रकार, उन्ही के शब्दो म कहे तो, वह 'भारत को जीत चुके' थे। यूक्रेतीद के नेतृत्व मे वे पजाब तक बढ आये थे। प्रख्यात मिनान्दर न सियालकाट म अपनी राजधानी स्थापित की और वहा से गगा की घाटी म फैजाबाद तक और सम्भवत पटना तक हमले किये। उज्जैन के आसपास का प्रदेश शुग शासन का गढ बना रहा, पर ईसा पूव पहली सदी म दक्षिण से सातवाहनो ने यहा भी हमले किये थे। अलावा इस कथा के जो यत्र तत्र बिखरे उल्लेखो से बडी कठिनाई स तैयार की गयी है हम केवल कमल राजवशावलिया ही प्राप्त होती है। फिर भी, भारतीय संस्कृति की दृष्टि से यह युग महत्त्व का था। साँची की अनुपम शिल्पकला एव वास्तुकला, जहाँ के बौद्ध स्मारक पूणत नष्ट होने से बचे हुए सबसे प्राचीन भारतीय अवशेष ह अपना सिलसिला गुप्त युग तक बनाये रखती ह और इसका अपना निराला वभव ह। पतजलि का व्याकरण व सस्कृत ग्रन्थ, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है पुष्यमित्र शुग के समय का ही है। तक्षशिला के शासक अन्तलिकित के यूनानी दूत हेलिओदोर ने भिरासा के समीप एक गरुड-स्तम्भ स्थापित कराया था। इस पर उत्कीण लेख म वह अपने को कृष्णभक्त घोषित करता है, इस स्तम्भलेख की भाषा प्राकृत है और शब्द विन्यास स्पष्टत यूनानी भाषा शैली का ह। इस लेख स कृष्ण सम्प्रदाय के प्रसार के बारे मे हम बहुमूल्य जानकारी मिलती ह। यदुओ का यह श्यामवण नायक अभी सर्वेश्वर अथवा विष्णु नारायण का अवतार नहीं बना था। उस समय के अन्य शिल्पो और लेखो मे प्रकट होता है कि कृष्ण के हलधर भाई सकषण को और कभी-कभी दूसरे यदु वीरो को भी लगभग एक-सी

(उपाधि खखरात) नहपान का जामाता—नारियल के पूरे बाग, जिनमें से प्रत्येक में नारियल के कई हजार पेड थे, ब्राह्मणों को दान करने लग गया था। उपवादत बौद्धों के प्रति भी उदार था, पर पश्चिमी तट पर उसकी पहुँच के भीतर गुफा विहार नहीं थे। आज तो हर भारतीय उत्सव व अनुष्ठान में नारियल का उपयोग होता है, पर छठी सदी के पहले भारत के अनेक प्रदेशों मे इसका बहुत कम प्रचलन था। यह तथ्य भारतीय प्रथाओं की 'शाश्वतता और अपरिवर्तनीयता' पर एक उपयोगी टिप्पणी प्रस्तुत करता है। इस वृक्ष की लकडी, रेशे, शराब और दूसरी चीजें भी अत्यन्त मूल्यवान है, गिरी के 'कोमे' से स्वादु पक्वान्न बनाये जा सकते है और सूखने पर इससे जो तेल प्राप्त होता है वह खाना पकाने के ही नहीं, साबुन बनाने के भी काम आता है। इस वृक्ष के और इसके पूर्ण उपभोग पर आधारित भारी पण्य-उत्पादन के बिना पश्चिमी तट की पट्टी (जहाँ भारी वर्षा और उष्ण जलवायु के कारण नारियल भलीभाँति पलता है) के घने जंगलों को साफ करना कदापि लाभकारी सिद्ध न होता, यहाँ आज जैसी घनी आबादी का बसना तो बहुत दूर रहा। दक्खनी कगार के चन्द घाटों से चलनेवाले नारियल के व्यापार ने सार्थों को कुछ अधिक समय तक जीवित रखा, वे नमक और नारियल का पठार तक पहुँचाते और इनके बदले में कपडा, धातु के बर्तन और ऊपरी क्षेत्र का अनाज ले जाते।

कुषाणों ने एक प्रबल प्रतापी राजवंश के रूप में उत्तर में ७८ ई० से तीसरी सदी तक शासन किया, तदनन्तर धीरे धीरे उनकी अवनति हुई और चौथी सदी में पूर्व व पश्चिम के आक्रमणों से अन्त हो गया। चूंकि कुषाणों का साम्राज्य उनकी मध्य एशियाई जन्मभूमि से पंजाब व उत्तर प्रदेश तक फैला हुआ था, इसलिए उत्तरापथ को नया जीवन मिला और एशिया के भीतरी क्षेत्रों तक इसका विस्तार हुआ। इसके साथ बौद्धधर्म और भारतीय संस्कृति का भी उधर प्रसार हुआ। जान पडता है कि कुषाण राजवंश के संस्थापक कणिष्क प्रथम ने, बिना अपने नाम के, 'महात्राता' (सोतेर मेगास) उपाधि व राजसी शैलीवाले ही सिक्के चलाये थे। सुवर्ण मुद्राओं वाला कणिष्क सम्भवत इस प्रथम कणिष्क का पौत्र था। इस वंश का संस्थापक कबीले का मुखिया था, जिसे सुर्ख-कोताल लेख में वैदिक व ईरानी शैली में देवतुल्य बना दिया गया है। कणिष्क के उत्तराधिकारियों ने, अशोक की महान परम्परा के अनुरूप, सभी धर्मों को प्रश्रय दिया और बडे-से-बडे स्तूप बनवाये। उनके विविध सिक्कों पर बुद्ध, शिव व उसके पवित्र नन्दी की प्रतिमाएँ और मातृदेवी ननैया (चीनी नइ-नइ) का नाम अंकित है। कुषाण टकसालों को सिकन्दरी मुद्रा-तकनीक की जानकारी थी और उन्होंने इसका इस्तेमाल भी किया (उस समय के रोमन सम्राटों को भी इस तकनीक की जानकारी थी) और जान पडता है कि उन्होंने उसी राजधानी के

डिजाइनरों का इस्तेमाल किया। चांदी के सिक्कों के क्रमिक विलोप से प्रकट होता है कि उत्तर में श्रीमंतों के इस्तेमाल की रेशम, केसर, रत्न और मदिरा-जैसी अति मूल्यवान वस्तुओं का व्यापार बढ़ता जा रहा था। किसानों को स्थानीय वस्तु विनिमय से ही काम चलाना पड़ता था। अर्थशास्त्र की उत्पादन-प्रणाली को और धातु पर राज्य के एकाधिपत्य को निस्संदिग्ध रूप से त्याग दिया गया था। हिंद-यवनों के शानदार आकृतियुक्त सिक्कों की तुलना में शुंगों के सिक्के देखने में तुच्छ और भौंडे हैं। मौर्यों के बाद उत्तर में आहत-सिक्कों का युग गुजर चुका था, यद्यपि ठप्पे से बने या ढाले गये नये सिक्कों के साथ पुराने सिक्के भी चलते रहे। रुद्रदामन्, नहपान और इनके उत्तराधिकारियों द्वारा चलाये गये अनेक किस्म के चांदी के सिक्कों से यह अंतर स्पष्ट होता है कि उत्तर के समृद्धिशाली साम्राज्य में पण्य विनिमय केवल विलासी सामग्री का ही होता था और दक्षिण व पश्चिम के नवोदित समाज में व्यापार तथा उत्पादन अधिक उपयोगी वस्तुओं का भी होता था। दक्षिण में ईसा की दूसरी सदी के लुहार व मछुवे इतने धनी थे कि उनमें से कइयों ने विहारों का महत्त्वपूर्ण दान दिये, पर उत्तर में भी यही बात घटित होने की हम कल्पना नहीं कर सकते।

सातवाहन जिनके विषय में प्रसंगतः बहुत-कुछ कहा जा चुका है, बावरी के समय के अज्ञात 'अस्सकों' (अश्व-जन) के मुखियाओं से ऊपर उठकर ब्राह्मण-व्यवस्था के अंतर्गत चातुर्वर्ण्य समाज के राजा बन गये। बाद के युगों में इनकी उत्पत्ति एक ब्राह्मण विधवा से बतायी गयी, जिसका 'जब पैठण अभी एक खेड़ा ही था' तो एक 'नाग' ने गोदावरी के एक कुण्ड पर अपहरण किया था। इस बात को जान लेना जरूरी है कि, यद्यपि प्रायद्वीप में तांबे व लोहे की बड़ी मांग थी, सातवाहनों ने रोमन साम्राज्य के साथ के विलासी वस्तुओं के व्यापार से भी खूब लाभ उठाया। भूमध्यसागरीय मूंगे की भारत में जितनी मांग थी, उतनी मांग पश्चिम में भारतीय गोमेद व कॅल्सेडोनी की थी। लेखों और पुरातात्त्विक प्रमाणों से प्रकट होता है कि रोमन यूनानी दुनिया के सीसे, तांबे, चांदी व शराबों की घरेलू कामकाज के लिए दासों की, रखैलों व नर्तकियों की और कलावस्तुओं व कारीगरों की भारत में बड़ी मांग थी। बदले में भारत से कपड़ों, मसालों, हाथीदांत और चमड़े की चीजों का निर्यात किया जाता था। श्रेणियों और नयी बस्तियों की तीव्र वृद्धि के लिए आवश्यक वित्तीय सुविधाएं तथा चलायमान पूंजी, जैसाकि पहले बताया जा चुका है, (व्यापारियों और) विहारों से प्राप्त हुई। दक्खन में पहले से नवपाषाणयुगीन पशुचारियों के बड़े बड़े समूह थे, जो नदी घाटियों में ऊपर-नीचे भटकते रहते थे। उनकी स्मृति और उनके प्रागैति-हासिक महापाषाण आज भी शेष हैं, साथ ही, कुछ ऐसे पूजा स्थल भी हैं जिनका मूल उनके समय तक पीछे जाता है। कृषि के लिए केवल भारी हल और लोह

कम की जानकारी की आवश्यकता थी, और ये दोनो ही चीजें मूलत उत्तर से आयी। पर यहां की उवर काली मिट्टी, जो अपनी कपास की पैदावार के लिए प्रसिद्ध है, अपेक्षाकृत छोटे-छोटे भूखण्डो म ही फैली हुई है, इसलिए यह प्रदेश नजदीक-नजदीक की बस्तियो के लिए उपयुक्त नही है, जैसाकि उत्तर की नदी-घाटियो का जलोढ मिट्टी का प्रदेश है। इसलिए सातवाहन अभिलेखो मे हमे पहले पहल आरक्षा दल के रूप मे प्रयुक्त गुल्म यानी सैनिक टुकडी के बारे मे जानकारी मिलती है। इसका अथ यह था कि शक्तिशाली स्थायी सेना, जिसके बिना किसी सुसगठित हमलावर का मुकाबला करना सम्भव न था बडे पैमाने पर सामूहिक कवायद और सयुक्त अभ्यास के बिना विघटित होने को थी। परन्तु सनिक टुकडियो के रूप मे दूर दूर बिखरी हुई सेना रखन म कम खच था, इस प्रथा न भी बाद मे सामन्तवाद को प्रश्रय दिया। सातवाहनो के आश्रय मे ही, जिनका शासन ईसा की तीसरी सदी मे निस्तेज हो गया था प्राकृत साहित्य का सर्वांगीन विकास हुआ। अधिकाश प्राकृत कृतियाँ नष्ट हो गयी है, कथा-सरित्सागर-जैसी कुछ कृतियाँ सस्कृत काव्यानुवाद ही मे उपलब्ध हैं। सात सौ श्लोको का सकलन सत्तसई, जिसकी रचना का श्रेय सातवाहन राजा हाल को दिया जाता है, पर वास्तव म जिसम अनेक श्लोक बाद मे जोडे गये, लालित्य पूण एव आकषक रचना है, यद्यपि यह इसकी शैली के कारण ही है। यह वह युग था जब दक्खन के छोटे नगरो की कारीगरो की श्रेणियां अधिकाश व्यापारी-वस्तुओ का निमाण करती थी, इन्ही नगरो म एक प्रकार की नागरिक सस्कृति का उदय हुआ। वात्स्यायन के कामसूत्र का 'नागरक' इसी सस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। एक लम्बी श्रृखला की अन्तिम कडी की परिचायक इस कृति की रचना सातवाहनो के युग म अथवा उनके तुरन्त बाद प्रयत्नपूवक अथशास्त्र की पद्धति पर की गयी है। परन्तु इसका विषय है कामशास्त्र, न कि राजतन्त्र। इसम काम जीवन के सभी अगो का साफ साफ और वैज्ञानिक विवेचन है सामाजिक, वैयक्तिक, शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक तथा विलास-भोग विषयक। फिर भी, यह ग्रन्थ अश्लील नही है न ही इसकी तुलना सिकन्दरिया की उस कामोद्दीपक पुस्तक से की जा सकती है जिसमे उन दिनो भूमध्यसागरीय क्षेत्र म प्रचलित विकृत यौनाचार का वणन है। कामसूत्र की कामकला निश्चय ही शातोक्रियों की आदश कामना की कोटि की नही है, इसकी स्पष्ट विषयासक्ति के बावजूद इसम देश काल की विशेषता के अनुरूप एक प्रकार की निष्कपट सादगी है। इसम अल्पावधि के लिए ग्रामीण क्षेत्र म भ्रमण के लिए जानवाले नागरक को सलाह दी गयी है कि वह सुसस्कृत वार्तालाप, सुचारु कथावार्ता शिष्ट व्यवहार, सगीत, नत्य और मदिरापान के साथ साथ सभ्य तरीके से समस्त प्रकार के काम-साधन के लिए अपना ग्रामीण

बधुओं की गोष्ठियाँ आयोजित करे। इसमें प्रसगत कुछ उदाहरणा म सातवाहन-राजसभा के काम-जीवन का भी उल्लेख है। अन्त मे, पैठण का अधिष्ठाता यक्ष, जो ईसा की चौथी सदी के काफी पहले से खण्डक नाम से प्रसिद्ध था, स्थानीय शिव म बदल गया। उसकी पूजा मूल खण्डोबा नाम से समूचे महाराष्ट्र म फैल गयी है, खण्डोबा का पूजा-केन्द्र जेजुरी म है और सभी जातिया के लोग इसके भक्त हैं। उसके खास सेवक, स्त्री और पुरुष, मूल पूजाविधि की उन्मत्त आदिम प्रथा को आज भी प्रदर्शित करते हैं। पर, जैसाकि ऐसे लाभदायक धार्मिक अनुष्ठान क बारे मे स्वाभाविक है, इस पूजा का मुख्य लाभाश ब्राह्मण पुरोहित ही उडा लेते हैं।

पूर्वी तट और दक्षिणी छोर का भी सातवाहना के काल मे काफी अधिक विकास हुआ, यद्यपि सुदूर दक्षिण पर कभी उनका शासन नही रहा। कृष्णा के दक्षिणी तट पर स्थित नागार्जुनकोडा और काची के महान बौद्ध-केन्द्र दूसरी सदी के पहले स्थापित हो चुके थे, दोना के विकास म उसी प्रक्रिया ने याग दिया जो उस युग म अन्यत्र देखने को मिलती है—विहारो मे सचित सम्पत्ति और दूसरे स्रोतो की पूजी की सहायता से देशी व विदेशी व्यापार म वृद्धि के साथ-साथ नागरिक विकास।

दक्षिणी राजवशो की सूचियाँ पशेवर इतिहासकारो के सुखद अन्वेषण के के लिए उत्तम सामग्री हैं इक्ष्वाकु, पल्लव, बाण, कदम्ब, चेदि, कलचुरि, चालुक्य, चोल, पाण्ड्य, चेर और अन्य अनक राजवशो की सूचिया दिलचस्प होने पर भी सामान्यत अर्थहीन हैं। इनके बारे मे विशद जानकारी मध्यकालीन भारतीय इतिहास के ग्रन्थो मे पढने को मिल जाती है, पर इन ग्रन्था मे आमतौर पर सस्कृतियो के पारस्परिक आदान प्रदान की उपेक्षा की गयी है। जहाँ एक ओर 'उच्चतर' ब्राह्मण सस्कृति को कबीलाई लोगो पर लादा गया है या उन्होने इसे अपनाया है, वहाँ दूसरी ओर ब्राह्मणा न भी उतने ही अनुपात मे आदिम तत्त्वा को आत्मसात किया है।

अतिम सातवाहनो और प्रथम गुप्ता (ईसा की चौथी सदी) के बीच के काल म छोटे मोटे आक्रमण हुए और आदिवासी सरदारा ने राजा बनने के प्रयत्न किये। इन आदिवासी सरदारा मे गगा के मदान के कई नाग थे और उन जगलो के भी जो दक्खन की ओर भारत के मध्यभाग तक फले हुए थे। कुछ भीला ने भी इस दिशा म प्रयत्न किये किन्तु ५७ ई० पू० के आसपास शको न इनका सहार कर डाला जैन आचाय कालक ने इन शको को आमन्त्रित किया था, क्याकि उसकी बहन के साथ गदभिल राजा ने बलात्कार किया था। समूचे देश के अधिकाश हिस्सा म छोटे छोटे अनक राज्य पदा हो गये, जो लगातार लडते रहते थे, पर देश म जगलो और अविकसित भूमि का विस्तार अभी काफी था।

सवसामान्यत देश मे इस कलहग्रस्त वातावरण के बावजूद समाज मुख्यत खेतिहर था।

प्रथम दो गुप्तो—श्रीगुप्त और घटोत्कच—का केवल नामोल्लेख मिलता है, गुप्तवश के वास्तविक सस्थापक घटोत्कच पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम (३२०-३५ ई०) ने आदर के साथ केवल इनके नामो का उल्लेख ही किया है। इस वश के शेष सभी राजाओ के नामो के अन्त म 'गुप्त' शब्द है, इसलिए ये 'गुप्त राजा' कहलाये, पर ये राजा अपने को उच्चवशीय घोषित नही कर सके, न ही अपना उद्गम प्रकट्त किसी प्रतिष्ठित कबीले से सिद्ध कर पाये। हर राजा ने स्वेच्छा से अनेकानेक पूरक उपाधियाँ धारण की, जिससे इतिहासकार का काय जटिल हो गया। जिस वश का मौर्यों की तरह कोई कुल-आधार नही था और जिसके मूल के बारे मे सदैव अस्पष्टता रही, उसे चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ लिच्छवि-कुमारी कुमारदेवी का विवाह हो जाने से काफी कुछ सम्मान मिला। राजा व रानी के सम्मिलित नामोवाले सिक्के ढाले गये, और इनका पुत्र अपने मातृकुल का गव के साथ उल्लेख करता है। चन्द्रगुप्त प्रथम ने, अनुमान है कि, कोसल और मगध के एक भाग पर इस नय वश के राज्य को सुदृढ बनाया। अन्तिम विजय प्राप्त की उसके पुत्र समुद्रगुप्त (लगभग ३३५-७५ ई०) ने, जो दावा करता है कि उसने पूरी भूमि को जीत लिया है। कोसम्बी से प्रयाग लाकर स्थापित किये गये एक असोक-स्तम्भ पर उसकी (मरणोपरान्त) प्रशस्ति खुदी हुई है जो भाषा, शली व विषय-वस्तु की दृष्टि से उसी स्तम्भ पर समीप खुदे हुए महान असोक मौय के सरल शब्दो के साथ बडा वैषम्य प्रस्तुत करती है। अलकृत व लम्बे समासावाली जटिल सस्कृत मे रचित यह प्रशस्ति उसकी विजयो का केवल एक घोषणापत्र है। राजाओ की लम्बी तालिका मे एक-एक का नाम लेकर बताया गया है कि अमुक का मूलोच्छेद किया, अमुक को युद्ध मे हराया गया या अमुक ने मित्रता के लिए याचना की। असोक के समय म सही माने मे कोई दूसरे राजा नही थे। समुद्रगुप्त द्वारा इन नये और छोटे मोटे अथवा पुराने और ह्रासोन्मुख राज्यो का सफाया किये जाने का अथ था देश मे सुख शान्ति की स्थापना। अनेकानक पराजित राजाओ की सचित सम्पत्ति की लूट से एक वभवशाली किन्तु सुसस्कृत राजसभा को और लम्बे समय के लिए शक्तिशाली सेना को चलान मे सहयोग मिला, पर कर काफी हलके थे, जैसाकि चीनी यात्रियो के विवरणा से पता चलता है और स्वय गुप्त शासका के ताम्रशासनो मे भी इस बात की पुष्टि होती है। किन्तु विजया की गौरव गाथा मे सैनिक उपलब्धि का महत्त्व दृष्टि से ओझल हो गया है। समुद्रगुप्त ने आर्यावत्त के नौ नाग राजाओ को बलपूवक नष्ट किया और 'सारे आटविक राजाआ को अपना चाकर

बनाया।"

आटविक राजा इतने महत्त्वपूर्ण नहीं थे कि नाग शासकों की तरह उनके भी नाम गिनाये जाते, पर स्पष्टतः वे उसी घटना-क्रम की पूर्ववर्ती अवस्था का प्रतिनिधित्व करते थे। ये अनगिनत आटविक सरदार, जो छोटे पैमाने की कृषि का प्रचलन हो जाने से, इतने समर्थ हो गये थे कि ये पुरानी बस्तियों पर छापे मारने लग गये थे, ये छापे अलग-अलग भले ही तुच्छ रहे हों, परन्तु अपने समग्र रूप में बड़े उपद्रवी और हानिकारक थे। समुद्रगुप्त ने शान्तिमय अन्न-उत्पादन के मार्ग की इस अंतिम बाधा को भी गंगा के घाटी क्षेत्र से हटा दिया। न्यूनाधिक मात्रा में अन्न उत्पादन और राजप्रथा की ओर आगे बढ़े हुए नाना प्रकार के आटविक कबीले अब सीमावर्ती प्रदेशों—नेपाल, असम और मध्यभारत के जंगलों—में ही रह गये थे। ईसा पूर्व छठी सदी में जिस अभियान की शुरुआत हुई थी, अर्थशास्त्र के राज्य ने भूमि-सफाई के रूप में जिसे आगे बढ़ाया था और अशोक के धम्ममहामात्यों ने जिस काम को आटविक मुखियाओं के लिए अधूरा छोड़ दिया था, वह ईसा की चौथी सदी के अन्त में बल-प्रयोग द्वारा पूरा हो गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७६-४१४ ई० विक्रमादित्य उपाधिधारी और बहुत सी अनुश्रुतियों का नायक) ने एक नाग-कुमारी कुबेरनागा से विवाह किया, उसकी दूसरी रानियाँ भी थीं, जिनमें एक थी उसके भाई की विधवा ध्रुवस्वामिनी, जिसे उसने अद्भुत शौर्य का प्रदर्शन करके बचाया और वश में किया था। इसी राजा के शासनकाल में फाहियान भारत आया था और उसने देश में वर्णनातीत शान्ति व समृद्धि देखी थी। कुबेरनागा और चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री का विवाह दक्षिण के वाकाटक राजा से हुआ और उसने अपने अल्पवयस्क पुत्र के प्रतिनिधि के रूप में शासन किया। इस प्रकार, अधिकांश भारत और असम, अफगानिस्तान और सम्भवतः मध्य-एशिया तक विजित नये प्रदेश गुप्त साम्राज्य के अंग बन गये थे अथवा उसके प्रभाव-क्षेत्र में आ गये थे, और बंगाल तो वस्तुतः अब पहली बार खुला था। पटना अभी भी एक काफी बड़ा नगर था, यद्यपि अशोक का राज-प्रासाद खण्डहर बन चुका था।

(ह्रास की प्रक्रिया इतनी धीमी और क्रमिक थी कि इस-जैसी पुस्तक का हर्ष के बाद की किसी भी तिथि पर समाप्त किया जा सकता है। हर्ष का साम्राज्य गाँवों के छोर तक पहुँचनेवाली सामन्ती व्यवस्था से मुक्त और स्वयं सम्राट द्वारा शासित अन्तिम महान साम्राज्य था। मुहम्मद इब्न अल्-कासिम के नेतृत्व

१ रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनाच्युतनन्दिबलवर्मा अनेक आर्यावर्तराज-प्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य

—प्रयाग प्रशस्ति का एक अंश।

में पहले इस्लामी हमलावर मुलतान तक पहुँचे और वापिस लौट गये। पर अरबों ने शीघ्र ही सिंध पर स्थायी अधिकार जमा लिया, जिससे अग्रिम मोर्चे के साथ उनका सम्बंध मकरान तट के रास्ते स्थापित हो गया और इस प्रकार प्राचीन सिंधु सभ्यता का व्यापारी मार्ग पुनः खुल गया। उस युग के योग्यतम नाविक और उद्यमी व्यापारी होने के कारण अनेक मुसलमानों को हिंदू राजाओं ने बंदरगाह के अधिकारी या समकक्ष पदों पर नियुक्त किया, जैसाकि गोवा, सजाण तथा पश्चिमी तट के अन्य स्थानों में हुआ। पैगम्बर की मृत्यु के बाद एक सदी के भीतर ही उनके छोटे छोटे व्यापारी उपनिवेश कैण्टन तक स्थापित हो गये और उन्होंने शासकों से अपने धार्मिक अधिकारों के लिए बड़ी खूबी से सुरक्षा भी हासिल कर ली, पर इस उपकार का बदला उन्होंने नहीं चुकाया। मूर्ति भंजन के बहाने से महमूद गजनवी ने जबरदस्त हमले शुरू कर दिये। १०२५ ई० तक चलते रहे ऐसे कई हमलों में उसने उत्तर भारत के सर्वोत्तम मंदिरों को लूटा और ध्वस्त किया, इनमें सोमनाथ (काठियावाड) का अत्यधिक समृद्ध मंदिर और मथुरा तथा वाराणसी के मंदिर भी शामिल थे। उसकी लूट के बाद दूसरे हमलावरों का भी लालच बढ़ा, अनेक अरबी विद्वानों ने भारत के बारे में सुस्पष्ट व सही जानकारी देनेवाले विवरण लिखे—जिनमें अल बेरुनी के ग्रंथ (१०३१ ई०) से बेहतर कोई नहीं है—जो बढ़िया मार्गदर्शक ग्रंथ सिद्ध हुए। मुहम्मद गोरी की सेनाओं ने १२०५ ई० तक उत्तर की महान नदी घाटियों को रौंद डाला और इस विजय के साथ उत्तर भारत पर उन्होंने स्थायी अधिकार जमा लिया। विजित प्रदेश का शासन सँभालने के लिए सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दिल्ली को राजधानी बनाकर वहाँ उसने अपने जो प्रतिनिधि पीछे छोड़े थे वे जल्दी ही स्वतंत्र हो गये और उन्होंने अपने-अपने मुसलमान राजवंश स्थापित किये, शुरुआत हुई सम्राट् के गुलामों के रूप में, पर योग्यतम गुलाम सेनापति अन्त में तख्त पर बैठ गये। करीब सौ साल बाद अलाउद्दीन खिलजी ने दक्खन को लूटना शुरू कर दिया और उसके सेनापति मलिक काफूर ने १३१२ ई० तक इस काम को पूरा कर डाला। बादशाह का प्रतिनिधि निजाम-उल् मुल्क दक्खन में ही रह गया, पर पुनः मुस्लिम साम्राज्य भी विघटित होकर सामंती प्रशासनवाले प्रांतीय राज्यों में बँट गया।)

यह (गुप्त साम्राज्य) अर्थशास्त्र नियोजित साम्राज्य नहीं था, न ही असोक की तरह धर्म से कोई विशेष सहायता लेने की आवश्यकता थी। धर्म पहले से ही अपने प्रबल रूप में मौजूद थे, गुप्तों ने सहज भाव से उन सबकी उदारतापूर्वक सहायता की। अंततः संस्कृत भाषा को अभिलेखों के लिए पूरी तौर से अपना लेना इस बात का सूचक था कि एक व्यापक एवं सुविकसित उच्चवर्ग ब्राह्मण-पुरोहितों के वर्ग से सम्बद्ध हो गया है, पर बौद्धों के साथ भी उस वर्ग के बहुत

अच्छे सम्बन्ध थे। किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कदम, जिसके कारण आरम्भ में यकायक गुप्तों का वैभव बढ़ा और कालान्तर में पतन हुआ, गाँव के स्तर पर उठाया गया। सर्वप्रथम, शान्ति स्थापना और आटविक सरदारों का बहुत-कुछ सफाया हो जाने का अर्थ था—ग्रामीण बस्तियों में यकायक वृद्धि, जिसका श्रेय इस बार निजी उद्यमियों को था। बढ़े हुए उत्पादन से व्यापारियों ने लाभ उठाया, तो सम्वर्धित राजस्व से राज्य ने। पर गाँवों को जिन चीजों की जरूरत थी, उनकी पूर्ति करने में नगर व कस्बे असमर्थ थे। श्रेणियाँ—रेशम बुनकरों से लेकर तेलियों तक की—अब भी फल फूल रही थीं, पर, कुछ लाभ कमाते हुए, गाँवों की जरूरतों की नियमित रूप से पूर्ति करना उनके लिए असम्भव हो गया था। बड़े पैमाने के केन्द्रीभूत उत्पादन के वितरण के लिए परिवहन की समस्या का कोई हल नहीं था। चाँदी के सिक्कों के निरन्तर घटते चलन की चर्चा पहले की जा चुकी है। उपयोगी वस्तुओं के क्रय विक्रय के इस साधन की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी थी, जबकि सोने के सिक्कों से पता चलता है कि विलास की वस्तुओं का व्यापार अब भी फल-फूल रहा था। गुप्तकाल में ढाले गये चाँदी के बहुत कम सिक्के मिले हैं और निधि तो एक भी नहीं मिली है। अशोक ने चाँदी की स्फीत मुद्रा से काम चलाया, शकों और सातवाहनों ने चाँदी के छोटे सिक्कों से काम चलाया, और इनमें सातवाहनों ने तो कभी कभी जस्ते अथवा बिलन (चाँदी और ताँबा या वंग की मिश्रधातु) के सिक्कों से भी काम चलाया। किन्तु, जैसाकि स्पष्ट है, जितने तमाम सिक्के प्रचलन में थे वे इतने पर्याप्त नहीं थे कि बढ़ी हुई जनसंख्या और सम्वर्धित नये देहातों की जरूरत के स्तर पर पण्य-उत्पादन को वहन कर सकें, जैसाकि, उदाहरण के लिए, अर्थशास्त्र की अर्थ-व्यवस्था में सम्भव था। जानकारी मिलती है कि अधिकारियों का वेतन निर्धारित भूखण्डों की आमदनी से दिया जाता था, परन्तु अभी यह भूमिदान वंशानुगत सामन्ती अधिकार के रूप में नहीं था। सार्वजनिक निर्माण-कार्यों के लिए अनिवार्य श्रम अवश्य लिया जाता, पर मजदूरी दी जाती थी, दरिद्रतम वर्ग से यह मेहनत करों के बदले नहीं ली जाती थी, जैसाकि वास्तविक सामन्ती युग में आगे जाकर हुआ। इस व्यवस्था में सामन्तवाद के बीज मौजूद थे, पर छठी सदी के अन्त में ही यह व्यवस्था सामन्तवाद में बदली। मुख्य समस्या थी—पण्य उत्पादन के बिना और परम न्यूनतम नकद भुगतान के जरिये देहात को किस प्रकार स्वतः-निर्भर बनाया जाये।

इस समस्या का हल ग्रामीण कारीगरों की व्यवस्था में खोजा गया। अब प्रत्येक गाँव में अपने अपने लुहार, बढ़ई, पुरोहित, कुम्हार, चमार, नाई आदि थे। बाद में इन ग्रामीण कारीगरों (नारू-कारू) की संख्या बारह निश्चित कर दी गयी थी। प्रत्येक को भूमि का एक टुकड़ा मिला हुआ था, ताकि फुरसत के

समय वह खेती कर सके या अपने परिवार के अन्य सदस्यों से कराये। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक को हर किसान परिवार से फसल का एक अल्पांश (मराठी बलुतें) मिलता था। इस युग के गाँव अपना अन्दरूनी और भूमि-सम्बन्धी कार-भार सभा परिषद द्वारा चलाते थे। अब भी परती भूमि का विस्तार काफी अधिक था, जिसे स्थायी रूप से प्राप्त करने के लिए राजकीय अनुमति, और बाद में सामन्ती-स्वामी की अनुमति, आवश्यक थी। इस प्रकार, ग्रामीण कारीगर गाँव की व्यवस्था के अभिन्न अंग बन गये थे वे अपने श्रम को गाँव गाँव घूमकर बाँटते फिरनेवाले लोग नहीं रह गये थे, साथ ही, उन्हें मिलनेवाले पुरस्कार से यदि उनका काम न चले तो वे खेतिहर बन जा सकते थे। इस प्रकार, देहात की तक-नीकी जरूरतों और परम्परा से नियोजित देय के बीच समुचित संतुलन स्थापित हो गया था। ये कारीगर यद्यपि विविध जातियों के थे, और इनमें से कोई भी किसानों या भूमिधरों की प्रमुख स्थानीय उपजाति के नहीं थे, फिर भी इन कारी-गरों में अद्भुत सामूहिक एकता थी। इनके काम परम्परा द्वारा सुनिर्धारित थे हल, कुल्हाड़ियाँ तथा खेती के दूसरे औजार बनाना और इनकी मरम्मत करना, हर परिवार को साल भर में निश्चित संख्या में मिट्टी के बर्तन उपलब्ध करना, इत्यादि। अतिरिक्त काम के लिए या तो अतिरिक्त अनाज दिया जाता या विवाह, जुलूस, मृतक संस्कार अथवा ऐसे ही अन्य अवसरों पर जिनके लिए उन्हें अतिरिक्त काम करना पड़ता था, दिये जानेवाले भोजों में विशेष रूप से आम-न्त्रित किया जाता था। इस व्यवस्था के स्थापित हो जाने पर ग्रामीण समुदाय एक दृढ़, जीवनक्षम व बन्द इकाई में बदल गया। यही कारण है कि, मुस्लिम सामन्ती अत्याचार के बदतरीन दिनों में भी अन्तिम दुःसाहसी उपाय से—सामू-हिक ग्राम-त्याग द्वारा—देहात अपनी रक्षा करने में समर्थ था। जाहिर है कि, दूसरी जगह जाकर बसने के लिए उस समय खाली भूमि उपलब्ध थी, पर आज ऐसा साहस कर पाना सम्भव नहीं है। इसके अलावा, जाति-व्यवस्था से संरक्षण प्राप्त था, क्योंकि उस जाति विशेष के दूसरे गाँवों में बसे हुए लोग मुसीबत में फँसे अपने जात-बान्धवों की सहायता करने के लिए बाध्य थे। ग्रामीण जीवन ने जाति-व्यवस्था की निकृष्टतम प्रथाओं को जन्म दिया, पर यह भी स्मरण रखना होगा कि इसमें एक प्रमुख क्षतिपूरक लाभ भी था, जिसने जाति-व्यवस्था को टिकाऊ रखा।

स्पष्ट है कि, जैसे ही इस पद्धति के ग्रामीण उत्पादन में स्थिरता आयी, श्रेणियों का विघटन शुरू हो गया। गाँव के बढ़ई आदि कारीगरों के भूखण्डों का पहली बार गुप्त ताम्रशासनों में उल्लेख मिलता है। अतः गुप्तकाल का योगदान दो-तरफा था तुरन्त, सभी के लिए अत्यन्त लाभकारी पर अन्ततोगत्वा एक शक्तिशाली व सुसंस्कृत समाज की उन्नति के लिए अत्यन्त घातक। तब से गाँव

की पथक्ता या सकीर्णता अटल बनती गयी। किसान बडे धैर्य से साम्राज्यो को ध्वस्त होते देखता और अपने अधिकाधिक अनुपजाऊ होते जाते भूखण्ड म खोया रहता। गरीब साथ विनिमय के लिए नमक और धातुएँ लेकर पहुँचते थे, पर बाहरी दुनिया के साथ यह वस्तु विनिमय इतना पर्याप्त नही था कि इससे ग्रामीण सस्कृति का स्तर ऊपर उठ सके। यदा-कदा के मेलो या तीर्थयात्राओ से ही गावो का यह अलगाव किंचित मात्रा मे टूटता था। नगरो का तेजी से ह्रास हुआ और ६०० ई० तक पटना एक गाव मात्र रह गया, जयस्कधावार चलती फिरती राजधानियाँ बन गये।

ये परिवतन मध्ययुगीन मन्दिरो के निर्माण मे, शिल्पवास्तुकला की अनेक गतिशील प्रादेशिक शैलियो मे, प्रतिबिम्बित हुए। सामान्यत ये स्मारक राजसत्ता के केन्द्रो मे स्थापित किय गये और ये एक ओर दरबारी शान के सूचक है तो दूसरी ओर मध्ययुगीन हिन्दूधम की लोक प्रचलित पूजा विधिया के। बडे मन्दिरो ने राजकीय भूमिदानो से, भक्तो के चढावो से, रक्षाकरण्डो और प्रसादा की बिक्री से, प्रायश्चिता की दक्षिणा से और श्राद्धा से खूब लाभ उठाया। सबस निकृष्ट था देवदासियो की वेश्यावत्ति से होनेवाला भारी लाभ। अधिकाश धन मूल्यवान मूर्तिया अथवा देवताओ के आभूषणो के रूप मे जमा हो गया गया, अथवा पुरोहित-वग और उनके पराश्रयिको (इनमे कुछ महाजन और व्यापारी थे जो अपने कब्जे मे आयी मन्दिर की सम्पत्ति का कोई हिसाब भी नही देत थे) न हजम कर लिया, मन्दिरो को अक्सर खण्डहर बनने के लिए उपेक्षित छोड दिया जाता था। कोई भी हिन्दू मन्दिर बौद्ध विहारो-जैसे विद्याकेन्द्र नही चला पाया। साम ती दरबार ने, खास खास उदारवादी शासन के दौरान, दूर-दूर के पण्डितो को भले ही आकर्षित किया हो, किन्तु इसमे न स्थायित्व था, न ही सातत्य। आश्रयदाता की मत्यु के साथ ही पण्डितो की मण्डली बिखर जाती थी, जैसाकि धारा के राजा भोज और कन्नौज के हष के साथ हुआ। वाराणसी-जैसे तीथस्थलो के कुछ पण्डितो ने, जिनका मन्दिर या राजदरबार स कोई सम्बन्ध नही था, पृथक् पथक कुछ गरीब किन्तु बुद्धिमान शिष्यो को आश्रय म लेकर भारत की बौद्धिक धरोहर का कुछ हद तक जीवित रखा। गाँव का औसत ब्राह्मण क्वचित ही कही कुछ सीखने के लिए जाता था, यद्यपि वह अपने अग्रगामी पूवजो को प्राप्त अधिकारो, सुविधाओ और विशेष छूटो का उपभोग अब भी बस ही करता था। कुछ गाँवो को ब्राह्मण की कोई आवश्यकता ही नही थी, क्योकि अब्राह्मण गुरव पुरोहित, उन्ही सुविधाओ के अन्तगत, देहात की पूजा विधियो का काम चला लेते थे, निम्न जातियो के अनुष्ठानो को ब्राह्मणो के अलावा दूसरे लोग भी कभी-कभी पूरा कर दत थे, पर पचाग को समझने, पर्वों व अनुष्ठानो के लिए चान्द्र तिथियो की पूव-सूचना देने के लिए और दूसरी ऐसी ही जानकारी

के लिए न्यूनतम साक्षरता की आवश्यकता थी ही, जो प्रशिक्षित ब्राह्मण के अलावा दूसरे किसी के पास नही थी।

आरम्भ म गाँव की सारी अन-उत्पादक भूमि सामूहिक थी। ग्राम-सभा के निणय के अनुसार प्रत्येक अधिवासी परिवार को उसकी आवश्यकता और क्षमता (काम करनेवालो की सख्या) के अनुरूप भूखण्ड दिया जाता था। उस अवस्था मे व्यक्ति की निजी सम्पत्ति के रूप मे भूमि का अपने-आपमे कोई मूल्य नही था, भूमि की नक्द बिक्री क्वचित् ही होती थी, और जहा हुई वहाँ यह आसपास म समृद्ध व्यापार की सूचक थी उदाहरणाथ, नासिक मे, जहाँ उपवदात ने बौद्ध विहार को एक खेत सौंपन के लिए एक ब्राह्मण को इसकी कीमत के रूप मे चादी के ४००० सिक्के (काहापण) दिये थे। चूकि अधिकाश अधिवासी एक या दो सजात-समूह के होते थे, इसलिए समूह की सदस्यता और काश्तकारी का अधिकार साथ-साथ चलते थे। बिरादरी से निष्कासन का अथ था साथ-ही-साथ जातिबाह्य होना और उस देहात म काश्तकारी का अधिकार खो देना, अर्थात् निर्वासन, जो हठीले सदस्यो को गाँव की ओर से दिया जानेवाला सबसे बडा दण्ड था। सारी सेना राज्याधिकारियो के अधीन और बाद मे स्थानीय सामन्तो के अधीन रहती थी, देहात के पास बलप्रयोग के लिए कोई खास सैन्य-साधन नही था (यद्यपि गाँव की सीमाओ के भीतर किसी अजनबी को लूट लिया जाता, तो गाँव को उसे हर्जाना देना पडता था)। ताम्रशासनों में विशेष अधिकार के रूप मे खास तौर से उल्लेख है 'राजा के किसी अधिकारी का गाँव म प्रवेश करना तो दूर रहा, वह उसकी ओर उँगली तक नही उठायेगा'। ग्रामवासियो और ग्राम राजस्व के दानग्राही के लिए यह आदेश बडा भारी वरदान सिद्ध हुआ। सामन्तवाद की ओर अग्रसर होन के साथ-साथ राज्याधिकारियो को नयी उपाधियाँ भी मिलती गयी सामन्त (शुरू मे जिसका अथ था पडोसी, पडोसी राजा), ठक्कुर, रानक, राऊत आदि। स्वरूप की दृष्टि से स्थानीय विविधता भले ही असीम रही हो, पर असलियत प्राय एक सी थी। सामन्त का मुख्य काय, प्रयत्नपूवक जीवित रखी गयी पुरानी प्रथा के छद्मावरण मे, था जिन्स के रूप म राजस्व जमा करना और इसके एक अश को रोकड मे बदलकर राज्य (राजा) को सौंप देना। इसके अलावा, सामन्त को, आवश्यकता पडने पर, अपने खच से खडे किये गये निर्धारित सख्यावाले सशस्त्र सैनिको व घुडसवारो के दल सहित राजा की सेना मे शामिल होना पडता था। अनिवायत, परती भूमि को शुल्क लेकर बाँटना राजा या सामन्त का विशेषाधिकार बन गया, जिसके फलस्वरूप गाँव मे किसानो के दो वग बन जाते थे एक, उन 'स्थायी' अधिवासियो का जो, चाहे खेती जोतते हो या न जोतते हो, नियमित रूप से राजस्व अदा करते थे, और दूसरा 'बाद मे आनेवालो' का जो ग्राम-सभा म मतदान के अधिकार के

बिना अपने अपने खेत जोत सकते थे, पर उन्हे अपनी वास्तविक उपज के एक अंश का ही भुगतान करना पडता था। सामन्त कभी-कभी बांधो, नहरो आदि का प्रबन्ध करके, जिनका निर्माण एक गाव के बस की बात नही थी, भूमि को अधिक मूल्यवान बना देता था, पर जाहिर है कि सम्बन्धित गावो को इनके बदले उसे अधिक कर देने पडते थे। अन्ततोगत्वा, खेत प्रतिधारको के एक विशिष्ट वर्ग मे इस शर्त पर बांट दिये गये कि स्वयं भूमिधर या उसके उत्तराधिकारी सनिक सेवा देंगे अपने चरम रूप मे सामन्ती काश्तकारी (धृति)। व्यापारी और उनकी पूजी पर आश्रित वस्तु निर्माता कुछ खास केन्द्रो और बन्दरगाहो मे ही बस गये थे। आवश्यकता पडने पर विलुप्त श्रेणियो के स्थान पर सीमित उद्देश्यो के लिए पचमेल सदस्यो की 'गोष्ठिया' बना ली जाती थी, जैसे, किसी मन्दिर के निर्माण के लिए स्थापित एक ही गोष्ठी मे सामन्त, व्यापारी, किसान और देवदासी सम्मिलित होते। व्यापारियो के संघ प्रतिस्पर्धा पर नियन्त्रण रखते थे और उन्हे राजा से विशेष अधिकारपत्र मिले थे, जिनमे यह आश्वासन रहता कि सामन्त अथवा छोटे मोटे अधिकारी उन्हे और उनके कारीगरो को परेशान नही करेंगे।

७.४ सस्कृत साहित्य और नाटक

अब औपचारिक रूप मे सस्कृति के बारे मे कुछ कहना बाकी रह गया है। भारतीय सगीत का विवेचन कर पाना कठिन होगा, प्राचीनतम युग से इसकी अविच्छिन्न परम्परा तो रही है, पर कोई विश्वसनीय इतिहास नही मिलता। बाईस श्रुतियो वाले सप्तक का भारतीय सगीत सदैव ही कक्ष मे बैठकर सुननेवाले स्वर पारखी श्रोताओ के लिए रहा है। इसमे सुनिर्धारित राग पद्धति है, जिसमे सूक्ष्म स्वरानुक्रम व लय तो है, पर स्वराघात नही है, और न ही पश्चिमी सगीत-रचनाओ की भांति स्वरसमता एव सुरसगति है। समुद्रगुप्त के कुछ सिक्को पर उसे 'वीणाधारी' के रूप मे चित्रित किया गया है, पर ईसा की चौथी सदी के रागो के बारे मे कोई जानकारी नही मिलती। इसी प्रकार, वनवासी शबर वंशी वादन मे विशेष निपुण थे, और सम्भवत उन्होने ही बांसुरी का आविष्कार किया है। नृत्य, जिनका पेशेवर विशेषज्ञो द्वारा देवताओ के सामने, या प्रमुख उत्सवो मे और कभी-कभी विवाह तथा अन्य पारिवारिक समारोहो के अवसरो पर प्रदर्शन किया जाता, कबीलाई लोगो से अपनाये गये थे, जैसाकि गोंड उत्पत्ति के गोधळ नृत्य से प्रकट होता है। दृश्य कलाओ का गुण दोष विवेचन अधिक आसान है, पर उनके नमूने बडी सख्या मे उपलब्ध होने चाहिए। उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री के काफी घटिया स्तर के कारण मूर्तिकला व वास्तुकला पर समुचित प्रकाश नही पडता। विनाशक जलवायु, कलाकृति ध्वसन और घोर उपेक्षा के कारण अधिकांश चित्रकारी नष्ट हो गयी है। ये कलाएं धर्म अथवा

राजदरबार के आडम्बर के अधीन रही। शिल्पकौशल का समुचित मूल्य तो मिलता था, पर भारतीय शिल्पी को फायदियस् या माइकेल एंजिलो जैसी प्रसिद्धि और सामाजिक प्रतिष्ठा कभी नहीं मिली। वास्तुकला और मूर्तिकला के बारे में जो पारम्परिक संस्कृत ग्रन्थ हैं, उनका वस्तुतः उपलब्ध नमूनों से कोई ताल मेल नहीं बैठता। ग्रन्थकार आमतौर पर ब्राह्मण होता था और शिल्पकार प्रायः सदैव निम्न व अशिक्षित जाति का, इसमें अपवाद केवल हस्तलिपियों के सुलेखक या चित्रकार ही थे। धार्मिक परम्परा आदिम पद्धतियों की मूर्तियों का आग्रह करती थी, परन्तु जैसाकि स्वाभाविक है, आश्रयदाता चाहते कि देवी-देवता, चाहे कितने भी बेढंगे क्यों न हों, उनकी अपनी मानवाकृतियों में, प्रचलित उच्च फैशन के अनुरूप, वस्त्राभूषणों से सजाये जाएँ। महज कला के लिए भारतीय कला का आस्वादन आधुनिक अभिरुचि है, जिसे अधिकांश भारतीयों ने विदेशियों से सीखा है, पर यही विदेशी अभी हाल तक उस कला को फूहड़ और असभ्य देशी कलाकारों का कृतित्व कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे।

अब बचा साहित्य, जिसे इसके अपूर्व गुणों के कारण भारतीयों ने सुरक्षित रखा और जिसे आज भी मूल्यवान माना जाता है। शिशुनागों अथवा मौर्यों के समय का कोई लौकिक साहित्य रहा भी हो तो वह आज उपलब्ध नहीं है। सातवाहनों के साहित्य में से केवल हाल का गाथा संकलन उपलब्ध है। यहाँ संस्कृत साहित्य का विवेचन करना अनिवार्य हो जाता है क्योंकि जिस काला-वधि से इस ग्रन्थ का सरोकार है उसके बाद ही विविध प्रान्तीय भाषाओं में पुस्तक-रचना शुरू हुई। सिंधु सभ्यता में यदि कुछ लिखा गया, तो उसे हमें छोड़ ही देना पड़ेगा, क्योंकि आज वह सर्वथा विलुप्त जान पड़ता है, सिवाय मुहरों पर उत्कीर्ण उन थोड़े और संक्षिप्त लेखों के जिनका अभी उद्घाटन नहीं हो पाया है। यहाँ प्राचीन तमिल पर विचार कर पाना सम्भव न होगा। दरअसल, नाट्य का उद्गम आदिम पूजा-अनुष्ठानों में है। कई ऋग्वैदिक सूक्त संभवतः पाठ अथवा दो या अधिक पात्रों द्वारा अभिनय के रूप में प्रस्तुत किये जाने के लिए हैं। सबसे प्रसिद्ध उदाहरण उर्वशी पुरूरवस् की कथा है। प्राचीनतम ऋग्वेद में यह कथा अभिनीत संवाद के रूप में है—उस आदिम प्रथा का नाट्य रूप जिसमें किसी अप्सरा के साथ पवित्र आनुष्ठानिक विवाह (hieros gamos) रचने के बाद प्रजनन-सम्बन्धी अनुष्ठान में उस विवाहित पुरुष की बलि दे दी जाती थी। वैदिक पुरूरवस् मुक्ति के लिए खूब अनुनय विनय करता है, पर उर्वशी उस याचना को शान्त भाव से ठुकरा देती है। इस नाट्य-कथा ने धीरे-धीरे बदलते विरही प्रेमियों के प्रेमाख्यान का रूप ले लिया। गायन व नृत्य, आदिम प्रजनन-सम्बन्धी अनुष्ठानों की भाँति, संस्कृत नाटक के आवश्यक अंग हैं। अनिवार्य नान्दी प्रस्तावना और मांगलिक से प्रकट होता है कि भारतीय

रगमच अभिनय का उद्गम 'रहस्यानुष्ठानिक (धम) नाटको' से हुआ है। गद्य-सवाद के रूप मे दिये गये श्लोका को, गीति-नाट्य की भांति, सदैव वाद्य सगीत के साथ प्रस्तुत किया जाता था। नृत्य भी मौजूद रहा, यद्यपि सभी उपलब्ध नाटको के मच-निर्देशनो में उसका समावेश नहीं है। सामूहिक नृत्यो के अलावा, अलग-अलग पात्रो को रूढ प्रथाओ के अनुसार विभिन्न भावो का स्वाग भरना पडता था, जिससे व कथा को, आधुनिक कथाकली की भांति, प्राय एक भी शब्द का उच्चारण किये बिना प्रस्तुत कर सकते थे। 'नाट्य' शब्द का अथ भी स्वाग भरना ही है। सामान्यत नाटक रात भर चलते थे, पर कुछ ऐसी रगमच-गुफाएँ भी मिली है, जिनका प्रयोजन सम्भवत दिन के उजाले का इस्तेमाल करना था।

प्राय महाकाव्यो के कथानका पर आधारित ऐसा मनोरजन दशको का आकर्षित करता था, पर यह जरूरी नही था कि वे उस सस्कृत को समझें जिसम स्वय अभिजात वग द्वारा अपने लिए इन नाटको की रचना की जाती थी। इन नाटको के प्रमुख पुरुष पात्र परिष्कृत सस्कृत बोलते हैं, स्त्री पात्र और सेवक केवल प्राकृत बोलते है। आरम्भ मे वास्तविक जीवन मे ऐसा ही था। आज भी, दूर दराज के क्षेत्रो मे, भद्र पुरुषो की भाषा उनके अपने अनपढ स्त्री-समाज की और निम्न स्तरो के लोगो की बोली से काफी भिन्न होती है। फिर भी, अभिजात्यो को घर पर अपने परिवार के ज्यादा अनपढ सदस्यो के साथ प्राकृत मे ही बातचीत करनी पडती थी, पर नाटको मे गँवारू भाषा का इस्तेमाल करना उन्हे मजूर नही था। बाद मे नाटको म 'भाषा' का इस्तेमाल एक शुद्ध परिपाटी बन गयी। जितने लोग सस्कृत को समझते थे, उससे भी कम 'मत' प्राकृत को समझ पाते थे—मत इसलिए कि जनता की बोलियाँ तेजी से बदल रही थी। नौवी सदी मे राजशेखर ने, स्पष्ट है कि, गौण पात्रो के सवाद पहले सस्कृत मे लिखे और फिर निर्धारित नियमो के अनुसार उनका प्राकृत म अनुवाद किया, रूढि आविष्कार से कही अधिक बलवती बन गयी थी।

यद्यपि इस कोटि के रचना विधान म शुद्ध पद्यबद्ध नाटको को छोड दिया गया था, पर अनिवाय गीतो के समावेश के लिए नाटककार का कवि होना आवश्यक था। सुसस्कृत नाटक आदिम पद्धति के स्वाग-तमाशो को कभी भी पूणत स्थानापन्न नही कर पाये, देहाती मेलो मे निम्न जाति के घुमन्तू नट-गायक आज भी ऐसे तमाशा को प्रस्तुत करते हैं, अथशास्त्र ने ऐसे ही तमाश बीनो को सीता-ग्रामो से दूर रखने का आदेश दिया था। जिन आरम्भिक परिष्कृत नाटको के बारे मे जानकारी मिलती है वे बौद्ध विहारो द्वारा विशेष उत्सवो के अवसर पर प्रस्तुत किये गये थे। इस बात की पुष्टि मध्य एशिया से मिली हुई खण्डित हस्तलिपियो से और चीनी यात्रियो के विवरणो से होती है।

सारिपुत्त, मोग्गल्लान व कस्सप जैसे नायकों के गृहस्थ-जीवन को और इनकी धर्म-दीक्षाओं को अथवा स्वयं बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण को मंच पर विशाल दर्शक-समुदाय के सामने प्रस्तुत किया जाता था। अतः जिस प्रतिष्ठित नाटककार व कवि के बारे में हमें पहली बार जानकारी मिलती है वह है अश्वघोष, जिसने बाद के नाटककारों व कवियों के लिए आदर्श प्रस्तुत किया। बुद्ध के सौतेले भाई की दीक्षा और विरह-वेदना के कारण उसकी सुंदर पत्नी की मृत्यु को आधार बनाकर रचे गये अश्वघोष के सौंदरनंद काव्य में राजसी वैभव और उन्मुक्त प्रणय व्यापार का भरपूर चित्रण है—ऐसे भोग विलासी जीवन का जिसे त्यागना सभी भिक्षुओं के लिए अनिवार्य था। वस्तुतः, बौद्ध कला की अन्य विधाओं पर भी इस विषय वस्तु का अवश्य प्रभाव पड़ा होगा, जैसाकि अजन्ता के एक अनुपम भित्तिचित्र को देखने से प्रकट होता है। अश्वघोष के दूसरे काव्य बुद्धचरित में बाद के अनेक रचनाकारों ने काफी कुछ जोड़ा है और यही कारण है कि इसका चीनी अनुवाद संस्कृत पाठ से ठीक ठीक नहीं मिलता, पर इसका मुख्यांश अश्वघोष-रचित ही है। उसके नाटक नष्ट हो गये हैं (सिवाय खण्डित अवस्था में प्राप्त शारिपुत्र प्रकरण के), पर विविध संकलनों में उसके नाम से जो श्लोक मिलते हैं वे मंच पर सुनाने के लिए उसके द्वारा रचित किसी नाटक के अंश रहे होंगे। वस्तुतः, बाद के अनेक कवियों नाटककारों के कृतित्व के बारे में, जैसे, पाल युग के बारे में, कोई जानकारी नहीं मिलती, सिवाय ऐसे अवशिष्ट श्लोकों के जो इनके विलुप्त नाटकों से चुने गये हैं। इन नाटकों ने, बौद्ध हों या अ-बौद्ध, उसी वर्ग की रंगत और लहजे को अपना लिया जिसके लिए ये रचे गये थे। इनमें शृंगार की प्रधानता रही। भारतीय साहित्यिक रूढ़ियों ने प्रेम के बारे में काफी स्वच्छंदता से काम लिया है। बौद्ध संस्कृत नाटक अपने में उतने ही असंगत हैं जितने कि ब्रह्मचारी बौद्ध-भिक्षुओं के विहारों के वैभवशाली चित्र और कामोत्तेजक व आलंकारिक भास्कर्य। इनमें सामंती युग में कदम रखती राजसभा का जीवन, परम्परा और नाट्य रूढ़ियों को यथासम्भव निभाते हुए, प्रतिबिम्बित हुआ है।

भास, जिसका केवल नाम ही श्रद्धापूर्वक लिया जाता था, पुनर्जीवित हुआ वर्तमान सदी के आरम्भ में, जब उसके कुछ नाटकों की केरल में खोज हुई। इनकी रचना बाद की रूढ़ शैलियों के अनुरूप नहीं है, इसलिए इनकी प्रामाणिकता के बारे में आज भी वाद विवाद चल रहे हैं, पर नाटककार की प्रतिभा निस्सन्दिग्ध है। निश्चय ही इनमें सर्वश्रेष्ठ है स्वप्नवासवदत्तम् नाटक, जो प्राचीन काल के राजा उदयन के प्रमाख्यानों पर आधारित है। महामंत्री के अनुनय पर रानी वासवदत्ता यह घोषणा करवा देने के लिए राजी हो जाती है कि वह एक अग्निकाण्ड में जलकर मर गयी है, ताकि पत्नीनिष्ठ राजा को राजनीतिक दृष्टि

के लाभकारी एवं अन्य विवाह के लिए तैयार किया जा सके, जिसे अन्यथा, वह स्वीकार न करता। राजा अपनी 'मृत' प्रियतमा के स्वप्न देखता रहता है, जब कि वासवदत्ता वेश बदलकर अन्तःपुर में ही परिचारिका का काम करती है। नाटक के कुछ मार्मिक एवं अविस्मरणीय दृश्यों में यह राजा के अर्ध चेतन स्वप्नों में पहुंचती है, पर उसे पूरी तरह जगाने का साहस नहीं करती। बहुपत्नी प्रथा-वाले समाज के कारण नाटक को सुखांत में समाप्त करना सम्भव हो जाता है।

समस्त संस्कृत साहित्य में, सम्भवतः समस्त भारतीय साहित्य में, सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम कालिदास है। उसके जीवन के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती, पर उसका समय भास के बाद का है, और उसने अपनी कृतियों की रचना गुप्तों की, सम्भवतः उज्जैन के चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) की, राजसभा के लिए ही की होगी। उसके मनोहर काव्य मेघदूतम् में एक मेघ दूत बनकर एक निर्वासित यक्ष का प्रेम-सन्देश दूर देश में उसकी विरह-कामिनी प्रिया तक पहुँचाता है। काव्य में उन समस्त भारतीय प्रदेशों का अनुपम प्रकृति-चित्रण है जिनमें से होकर उसे जाना था। *रघुवंश* में राम के पूर्व-पुरुषों का चरित्र चित्रण है और परोक्ष रूप में इसमें गुप्तों की विजयों का वर्णन भी हो सकता है। अधूरे कुमारसम्भव में शिव व पार्वती के पुत्र के रूप में स्कन्द के जन्म की कथा है, देवों और मनुष्यों को कष्ट पहुँचानेवाले एक दानव का विनाश करने के लिए स्कन्द ने जन्म लिया बताया गया है। छन्द रचना और शब्द-संयोजन की दृष्टि से परिपूर्ण कालिदास के ये तीन काव्य संस्कृत काव्य-साहित्य की अद्वितीय कृतियां हैं। इनकी ब्राह्मणधर्मीय विषय-वस्तु का आधार महाकाव्य और पुराण हैं। कालिदास के नाटकों के कथानक भी इसी प्रकार के हैं, अपवाद है तो केवल मालविकाग्निमित्रम् नाटक, जो शुंग इतिहास पर आधारित है और उज्जैन के माध्यम से गुप्त राजसभा से भी सम्बन्धित है। विक्रमोर्वशीयम् में *उर्वशी-पुरूरवस् की कथा को मर्त्य राजा और अमर अप्सरा के* परम प्रणय-सम्बन्ध के आख्यान में बदल दिया गया है। नाटक के शीर्षक में सम्भवतः तत्कालीन गुप्त राजा की ओर इंगित है, नाटक का पुरूरवस् स्वर्ग के राजा इन्द्र के साथ बराबरी का व्यवहार करता है। किन्तु साहित्य व नाट्य दोनों की दृष्टि से कालिदास की सर्वोत्तम कृति है अभिज्ञान शाकुन्तलम् जिसकी विषय-वस्तु है राजा दुष्यन्त और मानवी-अप्सरा शकुन्तला का मिलन। कथा महाभारत से ली गयी है, पर प्रणय दृश्यों का प्रस्तुतिकरण मौलिक एवं प्रभावशाली है। एक शिशु को साथ लेकर नायिका अचानक राजसभा में पहुँचती है और कहती है कि यह शिशु राजा का पुत्र है परन्तु नायक राजा (एक शाप से स्मृतिलोप हो जाने के कारण) नायिका को पहचान नहीं पाता। मानवीय भावों एवं संवेदनाओं के चित्रण में कालिदास ने अद्वितीय क्षमता का परिचय दिया है। कालिदास के बाद

दूसरा स्थान भवभूति का है, जिसका उत्तररामचरितम नाटक भी महाकाव्य—रामायण—पर आधारित है। उसके मालतीमाधव में ऐसे प्रेमियों का चित्रण है जिन्हें कठोर-से कठोर परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है यहाँ तक कि कलि कदाचित् जान की भी सम्भावना रहती है, इसके कथन ने दर्शक-समुदाय का निश्चय ही अत्यन्त विनोदित कर दिया होगा। भवभूति ब्राह्मण और प्रतिष्ठित कवि था और उसका समय सम्भवतः आठवीं सदी का पूर्वार्द्ध है। उसके जीवन के बारे में भी बहुत कम जानकारी मिलती है। अन्य अनेक कवियों और नाटककारों के बारे में तो इससे भी कम जानकारी मिलती है—कभी केवल नाम अथवा किसी संकलन में कोई इक्का-दुक्का श्लोक, अथवा किसी दीमक-खायी हस्तलिपि में बचा गया कोई अंश। माघ, भारवि और अन्य कवि इस दृष्टि से अधिक भाग्यशाली हैं कि उनकी कुछ पूर्ण कृतियाँ उपलब्ध हैं, और आज भी दिलचस्पी से पढ़ी जाती हैं। कुमारदास के जानकीहरण महाकाव्य का पहले सिंहली भाषा के शब्दानुवाद करके उद्धार किया गया और तदनन्तर ही दक्षिण भारत में पायी गयी हस्तलिपियों से इसकी पुष्टि की गयी। यहाँ सरसरी तौर पर जिन कुछ नामों का उल्लेख किया गया है, वही केवल प्रतिष्ठित लेखक नहीं थे। [illegible] ने, जिसके नागानन्द नाटक की और उसमें उसके अभिनय करने की चर्चा [illegible] चुकी है, अन्य नाटक भी लिखे जिनमें से दो आज भी उपलब्ध हैं। [illegible] नौवीं सदी के अन्तिम चरण और दसवीं सदी के प्रथम चरण [illegible], जिसका प्रमाण है राजशेखर, जो स्वयं धनी भूस्वामी [illegible] आश्रयदाता था, उसने कुछ कृत्रिम नाटक, परिष्कृत [illegible] अनेक कृतियों की रचना की। उसके बाद यह [illegible], पर पूर्णतः नष्ट नहीं हुई, आगे की कुछ शताब्दि [illegible]

शूद्रक का सम्बन्ध किसी राजवंश से, सम्भवत सातवाहनों से, था; पर अन्य संस्कृत रचनाकारों की भाँति उसके बारे में भी कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। यह नाटक भासकृत माने जानेवाले एक रूपक ('दरिद्रचारुदत्त') से काफी साम्य रखता है और उसकी कथा का विस्तार करता है, पर विषय-वस्तु के चुनाव में दरबारी जीवन और महाकाव्यों के आख्यानों की उपेक्षा करके परम्परा को तोड़ता है। नायक चारुदत्त एक ब्राह्मण सार्थवाह व्यापारी है जो अब दरिद्र बन गया है। नायिका है सम्पन्न,सुंदर, प्रवीण और सुसंस्कृत गणिका वसंतसेना, जिसके पीछे पड़ा है राजा का बदमाश साला शकार, जो स्थानीय संस्थानक भी है। यह असभ्य खलनायक कई बार अपने प्रयासों में असफल रहता है, पर अंत में वह नायिका का गला दबाता है और उसे मरी समझकर छोड़ जाता है, और नायक पर उसकी हत्या का आरोप लगाता है। नाटक में एक गौण प्रेमकथा है और साथ ही एक जनप्रिय विद्रोही (आयक) द्वारा आयोजित क्रान्ति भी, जिसमें ऐन मौके पर उसे सफलता मिली। नायिका को बचा लिया जाता है और नायक को भी वधस्थल से छुड़ा लिया जाता है। इसमें विभिन्न पात्रों द्वारा बोली गयी प्राकृत में प्रादेशिक भिन्नताएँ हैं, जो वास्तविक जीवन के अनुरूप जान पड़ती हैं। वसंतसेना के वैभवशाली आवास के लम्बे और अनावश्यक वर्णन को छोड़ दें, तो नाटक के सभी अंकों में एकसूत्रता है, भाव और कर्म में संतुलन है, हास्य और करुणा का समन्वय है, और अच्छे अभिनय प्रदर्शन के लिए उपयुक्त होने के साथ-साथ पढ़ने में भी अत्यंत रोचक है। यह नाटक उन दो कृतियों में से एक है जिसे प्राचीन भारतीय साहित्य के रसास्वादन के इच्छुक व्यक्ति को (बहुत सारी लम्बी-लम्बी व्याख्यात्मक टिप्पणियों के बिना ही) किसी भी उपलब्ध अनुवाद में पढ़ लेना चाहिए। 1

जिस दूसरी कृति की सिफारिश की गयी है, वह गद्य में है दण्डी द्वारा अधूरी रचित और कम-से-कम दो अन्य लेखकों द्वारा परिपूरित कृति दशकुमार-चरित। ओज, आस्वाद, समाज के सभी स्तरों का ज्ञान, तरह-तरह के खला-ख्यान और स्वच्छंद साहसी-कर्म, संयत हास्य और सूक्ष्म व्यंग्य के मामले में संस्कृत की कोई भी अन्य कृति इसकी बराबरी नहीं कर सकती। दण्डी दक्षिण भारत का निवासी था और उसका समय सहज ही ईसा की सातवीं सदी का आरम्भकाल निर्धारित होता है। वह कवि और समर्थ साहित्यालोचक तो था ही, उत्कृष्ट गद्यकार और निश्चय ही अपने समय का बहुश्रुत पण्डित था। उसके गद्य की कठिनाई का एक ही स्पष्ट कारण है—संस्कृत भाषा पर उसका असाधारण अधिकार, जिसके फलस्वरूप वह शब्दों के साथ ऐसा खेल खेलता है कि उनका अनुवाद करना प्रायः असम्भव हो जाता है। यह खेल तुरन्त ही कम प्रतिभाशाली रचनाकारों के लिए रोग बन गया—ठीक भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला की

ही गुणाढ्य ने पैशाची भाषा मे अपनी बृहत्कथा की रचना की थी, इससे बाद के कई रचनाकारो को प्रेरणा मिली, पर आज यह कृति उपलब्ध नही है और इस कृति तथा इसके लेखक के अस्तित्व के बारे म भी कभी-कभी वाद विवाद उठ खडे होते है। इसके तीन सस्कृत रूपातर मिलन हैं बुधस्वामी और क्षेमेन्द्र क रूपातर अति निकृष्ट काव्य हैं, जैन कवि सोमदेव (लगभग १०७५ ई०) का रूपातर साहित्यिक दृष्टि से कुछ उच्च स्तर का है, पर उत्कृष्ट काव्य नही है। विषय सामग्री से स्पष्ट होता है कि व्यापारियो, कारीगरा और उच्च वर्णों क लोगा का मनोरजन करन के लिए य कथाएँ रची गयी थी। इन पर गुप्तकालीन दरबारी शैली की बजाय प्राकृत की और सातवाहन 'नागरक' की रुचि की स्पष्ट छाप है। इस कथा सग्रह से, जिसमे विशिष्ट भारतीय पद्धति म स्वाभाविक व अलौकिक दोनो का सम्मिश्रण है, दण्डी और बाण न भी प्रेरणा ग्रहण की। परन्तु जिन कथाओ को विश्व-साहित्य को भारत की सबसे बडी देन समझा जाता है वे है पचतन्त्र की कथाएँ, जो ईसप की नीतिकथाओ की शैली की हैं और ऐसे राजकुमारो की शिक्षा के लिए लिखी गयी थी जो विधिवत शिक्षा की कठिनाइयो को झेल न सकते थे। इस पर अर्थशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है, इसका कथाकार विष्णुशर्मन चाणक्य का प्रतिरूप है और दोनो के अपने नाम भी एक है। सीरियाई और अरबी मे अनूदित होकर (कलील ओ दिम्न) पचतन्त्र की ये कथाएँ पश्चिमी जगत म पहुँची और पिल्पे की कथाओ के रूप म प्रसिद्ध हुइ।

सस्कृत का साहित्य दीप बुझने के ठीक पहले बडी भव्यता से प्रदीप्त हो उठा। यह अन्तिम प्रखर प्रयास है, जयदेव का गीतगोविन्द—कृष्ण और उसकी अन्तरग प्रेमिका राधा के रहस्यमय मिलन पर आधारित रूपक शैली का गीति काव्य। मूल कामोत्तेजक आख्यान को उदात्त बना दिया गया है फिर भी पाठक को यह कृति काफी कामुक लग सकती है। सम्पूर्ण काव्य सगीत से ओतप्रोत है और इसीलिए जयदेव की यह महान कृति इस कोटि की अन्य सभी रचनाओ से श्रेष्ठ है। पर जयदेव का जीवन भी सेन राजसभा के, जिसम १२०० ई० के आस पास उसने अपनी पश्च आयु मे आश्रय लिया था, दूसरे साथी-कवियो से भिन्न रहा था। ब्राह्मण तरुण जयदेव गरीब किन्तु प्रतिभाशाली था और उसने अपनी ही जाति की एक सुन्दर तरुणी का तन मन जीत लिया था। दोनो ने चारणा की तरह नाचते गाते ग्रामीण क्षेत्रा का भ्रमण किया। जयदेव लोकभाषा मे अपन गीत रचता और स्वय उनकी धुनें तयार करता और उसकी पत्नी उन गीतो के साथ नत्य करती। लोकभाषा म रचित उसके कुछ गीत और राग आज भी उपलब्ध हैं। यह भी सम्भव है कि उसने गीतगोविन्द की रचना पहले लोकभाषा मे की हो और तदनन्तर राजसभा के लिए उसे सस्कृत म रूपान्तरित किया हो। साथ ही, जयदेव ने वष्णव धमसुधार के अभ्युदय का पूर्वाभास कराया था। यह



चित्र १६ हरिहर : वामभाग में विष्णु के और दक्षिणभाग में शिव के लक्षणवाला एक संयुक्त देवता। यह अनुकृति तैयार की गयी है बाज़ार में बिकनेवाले अश्मामुद्रित एक आधुनिक रंगीन चित्र से जिसकी भक्त लोग धातु अथवा पत्थर की अधिक कीमती प्रतिमाओं के स्थान पर पूजा करते हैं। यह पूजा-पद्धति नौवीं सदी से ज़ोर पकड़ती गयी परन्तु यह छोटे और बड़े भूस्वामियों के दो पृथक वर्गों के बीच बढ़ते उस विरोध को नहीं मिटा पायी जो शिव व विष्णु के भक्तों के बीच धर्मशास्त्रीय कलह के रूप में प्रकट हुआ था।

सुधारांदोलन शिव-पार्वती भक्त स्मार्तों और विष्णु-नारायण-आराधक वैष्णवों के कटु धर्मशास्त्रीय विवाद के छद्मवेश में प्रकट हुआ। बंगाल के वैष्णव प्रचारक

चैतन्य (१४८६-१५२७) का नाम विख्यात है। शंकर के शिवभक्तों के साथ रामानुज (बारहवीं सदी) के टकराव के फलस्वरूप दक्षिण में यह आंदोलन पहले ही सिर उठा चुका था। यह कलह, जिसमें सिर भी फूटे, उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण तक चलता रहा। असली बात से धर्म का कितना कम सरोकार था, यह एक ही सुगम तथ्य से प्रकट हो जाता है। दोनों पक्षों ने, न केवल मुसलमानों की बंगाल-विजय के प्रति उदासीनता दिखलायी, बल्कि उनकी वफादारी से नौकरी भी की, ये वही हमलावर थे जिन्होंने सभी सम्प्रदायों की मूर्तियाँ तोड़ी थीं और पवित्र पशुओं का चाहे दोपाये हों या चौपायें, वध किया था, और इस प्रकार समस्त ब्राह्मण रूढ़ियों को निर्ममता से रौंद डाला था। पर असली आंतरिक संघर्ष था शिव पार्वती के उपासक महासामंतों और कृष्ण अथवा विष्णु-नारायण के उपासक छोटे किन्तु अधिक उद्यमी व्यवसायियों के बीच। इन दो देवताओं को हरिहर के रूप में मिलाने का जो थोड़ा प्रयास किया गया उसमें सफलता नहीं मिली यद्यपि इसके काफी पहले शिव व पार्वती के उभयलिंगी संयोजन में, मातृ-देवियों का देवताओं से विवाह रचने में और अवतार के उपाय से अनेक उपासना विधियों का गठबंधन करने में सफलता मिल गयी थी। कारण यह था कि पूर्ववर्ती धार्मिक संश्लेषण ने एक अधिक उत्पादनशील समाज को जन्म दिया था, उदाहरणार्थ पशुचारी और अन्न संकलक तत्त्वों ने आपस में मिलकर अन्न-उत्पादन की अवस्था में प्रवेश किया था। परन्तु अब पर्याप्त उत्पादन उपलब्ध नहीं था, पूजा विधियों के संयोजन से उत्पादन में बहुत अधिक स्थायी वृद्धि नहीं हुई थी। यही था इस कटु विवाद का कारण। परन्तु वैष्णव जीवन के नये स्वरूप से ग्रामीण जनों का पहले पहल साक्षात्कार हुआ तो वे आनंदविभोर होकर झूम उठे, यहाँ तक कि अपने उल्लास का प्रदर्शन करने पड़ोस के गाँव में भी पहुँचने लगे। भारतीय गावों के उदासीन व नीरस जीवन में इस आंदोलन ने एक चमत्कारिक पहल पहल पैदा की। जयदेव के जन्मस्थान केंदुली (किंदुबिल्व) गाँव के निवासी आज भी हर साल उसकी जयन्ती नाच गान के साथ मनाते है, तो इसके कारण दूसरे है, उसका उत्कृष्ट काव्य नहीं, जिसे केवल विद्वान ही समझ सकते हैं। विशुद्ध सौंदर्य का उसका बोध इस प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित था कि साधारण जीवन में कितनी बुरी तरह से इस सौंदर्य की आवश्यकता थी।

जयदेव के पहले की सदी में मौलिकता के स्रोत अधिकाधिक सूखते जाने का प्रमाण है—उस समय के अनेकानेक सुभाषित काव्य संग्रह। प्राचीन संस्कृत में जो सबसे पुराना सुभाषित ग्रंथ (कवीन्द्र वचन समच्चय) उपलब्ध है उसे ११०० ई० के आसपास राजशाही जिले (बंगला देश) के अथवा उसके समीप के किसी बौद्ध विहार (सम्भवतः जगद्दल) के एक पण्डित उपाधिधारी ने तैयार किया था केवल नेपाल व तिब्बत में सुरक्षित हस्तलिपियों से ही इसका सम्पादन सम्भव

हुआ है। किन्तु भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध सुभाषित संग्रह सबमे अनूठा है। सम्भव है कि इस नाम का अकिंचन किन्तु काफी योग्यता वाला कवि वास्तव मे रहा हो। जातिप्रथा और सामाजिक रूढियो के बावजूद, यह नये प्रकार का काव्य ब्राह्मणो की गरीबी तथा विवशता का व्यक्त करता है, इनसे बचने के केवल दो ही उपाय थे—मक्खीगमना पुरोहितो की भीड म शामिल हो जाना अथवा छोटे-छोटे सामन्ती राजाओ के स्वेच्छाचारी एव क्षोभकारी आश्रय मे शरण लेना। प्रतिभा का निरर्थक अपव्यय हो जाने की चेतना ने नये प्रकार के नैराश्यपूर्ण काव्य को, आमतौर पर रूखे सुभाषित काव्य को, जन्म दिया। इसमे निम्न मध्यम वर्ग की नैतिकता से सम्बन्धित श्लोको को भी जोड दिया गया और कुछ कामोद्दीपक पद्य भी, जो इस बात के सूचक है कि वैभव मे साहित्यिक गुलछर्रे उडाना कवि की क्षमता के बाहर था। और अन्त मे अपरिहार्य अनुगामी बनकर आया—इस नैराश्यपूर्ण जीवन के, जिसे कवि वास्तव मे भोग रहा था सुदूर भविष्य मे कल्पित 'वैराग्य' वाला काव्य। आज ऐसे भारतीयो को भर्तृहरि-जैसे सुभाषितो को घिसी पिटी उक्तियो के रूप मे इस्तेमाल करते देखा जा सकता है जो थोडी सी प्राचीन विद्या हासिल कर चुके है और श्रमसाध्य एव तकनीकी काम करने से जी चुराते हैं।

सवाल उठना स्वाभाविक है क्या ऐसी कोई संस्कृत कृति नही थी जिसने भारतीय चरित्र को उसी प्रकार आकारित किया है, जिस प्रकार सर्वेन्तीज के डान क्विक्जोत ने स्पेनी विदग्धसमुदाय को प्रभावित किया है? जो एक पुस्तक काफी हद तक इस कोटि की है, वह है भगवदगीता, सक्षेप मे गीता। यद्यपि यह सम्भव प्रतीत नही होता कि ईसा की तीसरी सदी के अन्तकाल से पहले इसकी रचना हुई होगी, पर यह कृति कृष्ण के मुह मे डाल दी गयी और अतिसवर्धित महाभारत मे जोड दी गयी। इसमे कृष्ण एक परिपूर्ण एव काफी-कुछ पचीदे धार्मिक दार्शनिक सिद्धान्त के दैवी प्रतिपादक के रूप मे प्रकट होता है, इस देवता के लिए यह एक नयी पदप्रतिष्ठा थी, जिसका निकटतम आभास करानेवाला एकमेव उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् मे मिलता है, जहाँ प्रसगत ऋषि घार आगिरस ने एक मानवी शिष्य के रूप मे 'देवकीपुत्र' कृष्ण का जिक्र है, पर कही पर भी उसे उपदेशक या सर्वेश्वर नही बनाया गया है।

गीता की पृष्ठभूमि इस प्रकार बनती है। जब उभय पक्ष की सेनाएँ युद्ध के मैदान मे आकर खडी होती हैं तो पाण्डव वीर अर्जुन स्वजनो के होनेवाले सहार से विचलित हो जाता है और अपना धनुष नीचे रख देता है। तब उसका सारथी, यदुओ का श्याम-नायक साक्षात कृष्ण (मजे की बात यह है कि यदु कबीले के लोग दूसरे पक्ष की ओर से लडे), उसे अपने कर्त्तव्य-पालन का सफलतापूर्वक उपदेश देता है। भ्रातृहत्या का यह उपदेश ७०० से ऊपर सुगठित श्लोको मे दिया गया है, जिनके जल्दी से जल्दी वाचन मे भी कम से-कम तीन घण्टे तो लगे ही होंगे,

चैतन्य (१४८६-१५२७) का नाम विख्यात है। शंकर के शिवभक्तों के साथ रामानुज (बारहवीं सदी) के टकराव के फलस्वरूप दक्षिण में यह आन्दोलन पहले ही सिर उठा चुका था। यह कलह जिसमें सिर भी फूटे, उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण तक चलता रहा। असली बात से धर्म का कितना कम सरोकार था यह एक ही सुगम तथ्य से प्रकट हो जाता है। दोनों पक्षों ने, न केवल मुसलमानों की बंगाल विजय के प्रति उदासीनता दिखलायी, बल्कि उनकी वफादारी से नौकरी भी की, ये वही हमलावर थे जिन्होंने सभी सम्प्रदायों की मूर्तियाँ तोड़ी थीं और पवित्र पशुओं का, चाहे दोपाये हों या चौपायें, वध किया था, और इस प्रकार समस्त ब्राह्मण रूढ़ियों को निर्ममता से रौंद डाला था। पर असली आन्तरिक संघर्ष था शिव पार्वती के उपासक महासामन्तों और कृष्ण अथवा विष्णु-नारायण के उपासक छोटे किन्तु अधिक उद्यमी व्यवसायियों के बीच। इन दो देवताओं को हरिहर के रूप में मिलाने का जो थोड़ा प्रयास किया गया उसमें सफलता नहीं मिली यद्यपि इसके काफी पहले शिव व पार्वती के उभयलिंगी संयोजन में, मातृ देवियों का देवताओं से विवाह रचने में और अवतार के उपाय से अनेक उपासना विधियों का गठबंधन करने में सफलता मिल गयी थी। कारण यह था कि पूर्ववर्ती धार्मिक संश्लेषण ने एक अधिक उत्पादनशील समाज को जन्म दिया था, उदाहरणार्थ, पशुचारी और अन्न संचलक तत्त्वों ने आपस में मिलकर अन्न-उत्पादन की अवस्था में प्रवेश किया था। परन्तु अब पर्याप्त उत्पादन उपलब्ध नहीं था, पूजा विधियों के संयोजन से उत्पादन में बहुत अधिक स्थायी वृद्धि नहीं हुई थी। यही था इस कटु विवाद का कारण। परन्तु वैष्णव जीवन के नये स्वरूप से ग्रामीण जनों का पहले पहल साक्षात्कार हुआ तो वे आनन्दविभोर होकर झूम उठे, यहाँ तक कि अपने उल्लास का प्रदर्शन करने पड़ोस के गाँव में भी पहुँचने लगे, भारतीय गाँवों के उदासीन व नीरस जीवन में इस आन्दोलन ने एक चमत्कारिक चहल-पहल पैदा की। जयदेव के जन्मस्थान केंदुली (किंदुबिल्व) गाँव के निवासी आज भी हर साल उसकी जयन्ती नाच गान के साथ मनाते हैं, तो इसके कारण दूसरे हैं, उसका उत्कृष्ट काव्य नहीं, जिसे केवल विद्वान ही समझ सकते हैं। विशुद्ध सौन्दर्य का उसका बोध इस प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित था कि साधारण जीवन में कितनी बुरी तरह से इस सौन्दर्य की आवश्यकता थी।

जयदेव से पहले की सदी में मौलिकता के स्रोत अधिकाधिक सूखते जाने का प्रमाण है—उस समय के अनेकानेक सुभाषित काव्य संग्रह। प्राचीन संस्कृत में जो सबसे पुराना सुभाषित ग्रन्थ (कवीन्द्र वचन-समुच्चय) उपलब्ध है, उसे ११०० ई० के आसपास राजशाही जिले (बंगला देश) के अथवा उसके समीप के किसी बौद्ध विहार (सम्भवतः जगद्दल) के एक पण्डित उपाधिधारी ने तैयार किया था, केवल नेपाल व तिब्बत में सुरक्षित हस्तलिपियों से ही इसका सम्पादन सम्भव

हुआ है। किन्तु भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध सुभाषित सग्रह सचमुच अनूठा है। सम्भव है कि इस नाम का अकिंचन किन्तु काफी योग्यता वाला कवि वास्तव म रहा हो। जातिप्रथा और सामाजिक रुढियो के बावजूद, यह नय प्रकार का काव्य ब्राह्मणो की गरीबी तथा विवशता को व्यक्त करता है, इनसे बचने के केवल दो ही उपाय थे—मलोगमना पुरोहितो की भीड म शामिल हो जाना अथवा छोटे छोटे सामन्ती राजाओ व स्वेच्छाचारी एव लोभकारी आश्रय म शरण लेना। प्रतिभा का निरर्थक अपव्यय हो जाने की चेतना ने नये प्रकार के नैराश्यपूण काव्य को, आमतौर पर ऐसे सुभाषित काव्य को, जन्म दिया। इसम निम्न मध्यम वग की नैतिकता से सम्बन्धित श्लोको को भी जोड दिया गया और कुछ कामोद्दीपक पद्य भी, जो इस बात के सूचक है कि वैभव म साहित्यिक गुलछर्रे उडाना कवि की क्षमता के बाहर था। और अन्त ने अपरिहाय अनुगामी बनकर आया—इस नैराश्यपूण जीवन म, जिसे कवि वास्तव म भाग रहा था, सुदूर भविष्य म कल्पित 'वैराग्य' वाला काव्य। आज ऐसे भारतीयो को भर्तृहरि-जैसे सुभाषितो को घिसी पिटी उक्तियो के रूप मे इस्तेमाल करते देखा जा सकता है जो थोडी सी प्राचीन विद्या हासिल कर चुके हैं और श्रमसाध्य एव तकनीकी काम करने स जी चुराते हैं।

सवाल उठना स्वाभाविक है क्या ऐसी कोई सस्कृत कृति नही थी जिसन भारतीय चरित्र को उसी प्रकार आकारित किया है, जिस प्रकार सर्वेन्तीज के डान क्विक्झोत ने स्पेनी विद्वत्समुदाय को प्रभावित किया है? जो एक पुस्तक काफी हद तक इस कोटि की है, वह है भगवद्गीता, सक्षेप मे गीता। यद्यपि यह सम्भव प्रतीत नही होता कि ईसा की तीसरी सदी के अन्तकाल से पहले इसकी रचना हुई होगी, पर यह कृति कृष्ण के मुह मे डाल दी गयी और अतिसवर्धित महाभारत म जोड दी गयी। इसम कृष्ण एक परिपूण एव काफी कुछ पेचीदे धार्मिक दार्शनिक सिद्धान्त के दैवी प्रतिपादक के रूप म प्रकट होता है, इस रचना के लिए यह एक नयी पदप्रतिष्ठा थी, जिसका निकटतम आभास करानेवाला एकमेव उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् मे मिलता है, जहाँ प्रसगत ऋषि घोर आगिरस के एक मानवी शिष्य के रूप मे 'देवकीपुत्र' कृष्ण का जिक्र है, पर कहीं पर भी उस उपदेशक या सर्वेश्वर नही बनाया गया है।

गीता की पृष्ठभूमि इस प्रकार बनती है। जब उभय पक्ष की सेनाएँ युद्ध के मैदान म आकर खडी होती हैं, तो पाण्डव वीर अर्जुन स्वजनो के होनेवाले सहार से विचलित हो जाता है और अपना धनुष नीचे रख देता है। तब उसका सारथी यदुओ का श्याम-नायक साक्षात् कृष्ण (मजे की बात यह है कि यदु कबीले के लोग दूसरे पक्ष की ओर से लडे), उसे अपने कत्तव्य पालन का सफलतापूवक उपदेश देता है। भ्रातृहत्या का यह उपदेश ७०० से ऊपर सुगठित श्लोको म दिया गया है जिनके जल्दी-से जल्दी वाचन मे भी कम से कम तीन घण्टे तो लगे ही होगे,

इतने समय मे तो सारा युद्ध ही सहज हारा जा चुका होता। इस समय कृष्ण, अपने को सर्वेश्वर घोषित करते हुए, सभी समकालीन दार्शनिक मतो का स्वय प्रतिपादक बनकर एक एक करके उनका प्रत्याख्यान करता है, पर सुस्पष्ट श्लोको म प्रतिपादित इन विविध मतो म से एक को भी नाम नही दिया गया है। चूंकि सभी मतो का प्रतिपादन एक ही देवता द्वारा हुआ है, इसलिए यही कोई खण्डन मण्डन नही, यद्यपि प्रसगत वदिक यज्ञ और आम कर्मकाण्ड की अवज्ञापूर्वक हलकी-सी खिल्ली उडायी गयी है। विशुद्ध जीवन, अहिंसा और लोभ एव स्वार्थ के त्याग की खूब बडाई की गयी है। जब किंकर्त्तव्यविमूढ अर्जुन सहजत पूछता है कि 'तो तुम मुझे हत्या करने के लिए क्यो कहते हो?', तो कृष्ण इस सीधे सवाल को अनुत्तरित छोडकर बडी सफाई से अपने प्रतिपादन के अगले मुद्दे पर पहुँच जाता है। जब स्थिति सकट बिन्दु पर पहुँचती है, तो यह दिव्य चरित्र अपना असली रूप प्रकट करता है और दिखाता है कि वही समस्त जगत का स्रष्टा है और सहारक भी। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, स्वर्ग, पृथ्वी और कई सारे पाताल लोको म व्याप्त हो जाता है, सर्व-सहारक के रूप मे उसने युद्ध के लिए तैयार उभय पक्ष के योद्धाओ का भी भक्षण कर लिया। अब निर्लिप्त भाव स स्वजनो की हत्या करने मे अर्जुन को कोई पाप नही लगेगा। फिर यह आश्वासन भी दिया गया कि जो कोई परमेश्वर मे परम आस्था रखता है तो वह अन्ततोगत्वा, लेकिन इसी लोक के जीवन मे नही, परमेश्वर मे लीन होने का श्रेयभागी बनता है। यदि अर्जुन इस विशुद्ध औपचारिक और प्रतीकात्मक युद्ध म विजय प्राप्त करता है तो अतिरिक्त पुरस्कार के रूप मे इसी लोक मे पृथ्वी के राज्य का सुख भी भोगेगा।

प्रभावशाली व्याख्यात्मक सस्कृत मे यह दिव्य किन्तु बहुत कुछ बिखरा हुआ सन्देश असगत मे सगति स्थापित करने के अपने प्रयास मे और सुस्पष्ट अन्त विरोधो को बिना तकलीफ के हजम कर जाने की अपनी क्षमता म भारतीय वैशिष्ट्य का परिचायक है। उपदेशक के रूप मे सर्वेश्वर का यह चुनाव जो उसकी फलती हुई व्यक्तिगत पूजा के कारण निर्धारित हुआ, उसी प्रकार बेमेल है जैसे यदि हेराक्लीज सभी प्रमुख यूनानी दर्शनो को एक सिद्धान्त के रूप मे नयी बाइबिल के एक अश मे सश्लेषित करके अपने नाम से प्रतिपादित करता। कृष्ण की गोपियो के साथ प्रणयलीला, मातृदेवियो के साथ मनमौजी, अपने ही मामा का वध और महाभारत मे बार-बार दी गयी कुटिल सलाह को देखकर उसके द्वारा दिये जानेवाले किसी भी प्रकार के नैतिक उपदेश म किसी के मन मे श्रद्धा उत्पन्न होना कठिन है। दरअसल इस महान कृति को लोकप्रिय बनने मे कुछ समय लगा। अपने युग मे भी यह कृति महाभारत के ब्राह्मण सम्पादको के मुख्य प्रयोजन को पूरा नही कर सकी। इसलिए सम्पूर्ण विजय के बाद उसी महावाक्य

मे उसी सर्वेश्वर ने एक नीरस उत्तरकथा के रूप मे अनुगीता सुनायी। इसमे केवल ब्राह्मणो और ब्राह्मणवाद की स्तुति है। अब कोई भी उसे पढने का कष्ट नही उठाता, जब कि पहली गीता बाद म अधिकाधिक जोर पकडती गयी। इसका बडा सीधा-सा कारण मध्यकालीन समाज के परिवतन मे निहित है।

यूवान् च्वाड् ने किसी ब्राह्मण की एक ऐसी जाली कृति का उल्लेख किया है जिसम एक राजा को अपने बधु-बाधवो के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उकसाया गया है। सदभ मे प्रकट होता है कि यह कृति गीता ही रही होगी, और इसे उस समय तक ब्राह्मणधम के सारतत्त्व के रूप मे ख्याति नही मिली थी, जैसी कि बाद मे मिली। इसका इस्तेमाल करनेवाला पहला असाधारण ब्राह्मण था शकर (लगभग ८०० ई०), जिसका गीताभाष्य आज भी प्रामाणिक माना जाता है, यद्यपि उसे शिव का भक्त समझा जाता है और गीता मे बौद्धमत की कई बातें सक्षिप्त रूप मे और बडे कारगर ढग से विष्णु के अवतार के मुह से कहलायी गयी हैं। बाद मे प्रतिद्व द्वी प्रचारक रामानुज ने उसी गीता से नितात भिन्न प्रेरणा प्राप्त की। ज्ञानेश्वर ने जनसाधारण के लिए इस कृति को उत्कृष्ट मराठी मे प्रस्तुत किया। तेरहवी सदी के अतकाल मे रचित इस ज्ञानेश्वरी का मराठी मे वही स्थान है जो उसी युग की किंतु अतिभिन्न स्तर की दिवाइना कामेदिया का इतालवी मे है। यहा तक कि आधुनिक युग म भी तिलक और गाधी न गीता से अपने-अपने निष्कप खोज निकाले—भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आदोलन को आध्यात्मिक आधार, जिसे वे आवश्यक मानते थे प्रदान करने के लिए। एक ही कृति से इतने विभिन्न व्यक्ति इतने विविध निर्देश प्राप्त कर पाएँ तो स्पष्ट है कि इसमे अनगिनत भिन्न भिन्न मत मौजूद हैं। दैवी अनुमोदन के कारण यह ऐसा एक रूढिवादी ग्रथ बन गया ह कि इसमे से रूढिवादियो को अप्रिय लगने वाले निष्कप भी प्राप्त किये जा सकते हैं। जिस अधविश्वास को गीता न इतना प्रोत्साहन दिया उसी अधविश्वास के युग म इस कृति ने मतभेद को भी कुछ हद तक जीवित रहा। पर क्या कारण है कि गीता का उद्भव इतना अस्पष्ट होने पर भी इसने इतनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की ? सभी पुराण किसी-न किसी देवता द्वारा कथित हैं, कुछ तो स्वय कृष्ण द्वारा भी, पर किसी मे भी इतना सामर्थ्य पदा नही हुआ। क्यो ?

गीता की असाधारण सफलता का कारण है उसका भक्ति का नया सिद्धात—एक ऐसे ईश्वर में अटूट निष्ठा जिसकी अपनी बहुत कुछ सदिग्ध करतूतो को भी इसम बाधक नही बनने दिया गया। यह व्यवस्था साम ती विचारधारा के सवथा उपयुक्त थी। निष्ठा या स्वामिभक्ति ही एक सुदढ शृखला म कृषिदास व सेवक को साम त से और साम त का राजा के साथ जोडती है। यही है साम ती समाज का वैचारिक आधार, फिर मातहतो की निष्ठा के वास्तविक मानवी पात्रो का

चरित्र कितना भी घणास्पद व निकृष्ट क्यो न रहा हो। ठीक यही स्वामिभक्ति सामतवाद का मूल आधार थी, इसने कई आदिम प्रथाओ को एक ऐसे समाज मे प्रतिष्ठित किया जिसे किसी प्रकार बबर नही कहा जा सकता था। हृष का पिता किसी असाध्य रोग से मरणशय्या पर लेटा था तो दुष्टात्माओ को शान्त करने के लिए उसके राजदरबारियो ने सावजनिक रूप से अपना मास काटकर दिया था। दक्षिण के गाग और पल्लव सामत अपने स्वामी (राजा) के कल्याण के लिए किसी देवी या देवता के सामने अपने सिर काटकर अपित करते थे, आठवी सदी से आगे के अनेक शिलालेखो और शिल्पो से इसकी पुष्टि होती है। कई मातहतो ने अपने इस फसले की घोषणा की है कि वे अपने स्वामी की मत्यु के बाद एक क्षण के लिए भी जीवित नही रहगे। वे सचमुच ही अपने स्वामी की चिता मे कूदकर प्राण देते थे, इस बात की पुष्टि मार्को पालो के विवरण से भी होती है। पर इस दु साहसी काय को उस सतीप्रथा का ही प्रसारण नही माना जा सकता, जिसका छठी सदी से शासक-वग मे अधिकाधिक रिवाज बढता जा रहा था और जिसके उद्गम का यूनानी विवरणो से भी अधिक पीछे जाकर प्रागतिहास मे खोजा जा सकता है, जसाकि सामन्ती सरदारो के इस व्यवहार के बारे म सम्भव नही है। भारतीय सामतवाद की अतिम अवस्था के ठीक उप काल मे ही शकर का अभ्युदय होता है और गीता अपने चरमोत्कप पर पहुँचती है। गीता की विसगतिया पूणत 'भारतीय चरित्र म' हैं, परतु भारतीय चरित्र अपने सुपरिचित साचे म सामती युग तक पूरी तरह ढल नही पाया था। बारूद द्वारा अर्जुन के धनुष को और नक्शे से कालातर के सामतवाद को उडा दिये जाने के बाद भी, बैको व शेयरो, रेलो व जहाजो, बिजली तथा कारखानो और मिलो की नयी दुनिया मे भी, भारतीय बुद्धिजीवी देशभक्ति के तकाजो को पूरा करन के प्रयोजन से सहजत गीता की शरण म चला गया। भारत जैसे-जसे आधुनिक समस्याओ से जूझता जाता है, वैसे-वसे इस पुस्तक की प्रतिष्ठा घटती जाती है। गीता जितनी पढी जाती है उससे कही अधिक पूजी जाती है, और जितनी पढी जाती ह उससे बहुत कम समझी जाती है। भौतिक वास्तविकता की पक्की पकड के आधार पर सुस्पष्ट चितन द्वारा ऐसे पचमेल विचारो को विस्थापित कर देने के बाद भी यह कृति अपनी सशक्त अभिव्यक्ति और अपने विशिष्ट लावण्य के कारण कुछ सौदयपरक सुख प्रदान करती रह सकती है।

यह अतिम उक्ति समस्त प्राचीन भारतीय सस्कृति के लिए समाधि-लेख का भी काम दे सकती है।

अतिरिक्त टिप्पणी

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग द्वारा किय गय हाल

के उत्खनन कार्य से, जिसका विवरण अभी प्रकाशित नही हुआ है, दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयो पर पर्याप्त प्रकाश पडता है भारत मे लौहयुग का आरम्भ और गगा की घाटी मे आर्यों का फैलाव। प्रो० नूरुल हसन और आर० सी० गौड के निर्देशन मे अतरजीखेडा (उत्तर प्रदेश) मे किये गये उत्खनन मे मत्भाण्डा का ऐसा स्पष्ट क्रम मिला है जो ब्रजबासी लाल के हस्तिनापुर के उत्खनन के क्रम से मेल खाता है। अलीगढ मे मिली जानकारी को यदि मैंने गलत नही समझा है, तो चित्रित धूसर भाण्डा के स्तर मे, जिसका समय रेडियो-कार्बन विधि से १००० ई० पू० या पहले का निर्धारित हुआ है, पहली बार लोहा देखने को मिलता है। इसके नीचे काले व लाल भाण्डो का स्तर है, जिसमे कुछ तांबा भी मौजूद है, फिर इसके नीचे गेरूए भाण्डो का धातु पूर्व स्तर है। फिर इसके नीचे अछूती नैसर्गिक मिट्टी है। इसकी एक सम्भव व्याख्या यह हो सकती है कि गेरू पोते भाण्ड, जो भली भाति पकाये हुए नही हैं और ऐसे मोटे व विस्तृत स्तर म रखे हैं जिसमे न कोई चुल्हा मिलता है, न ही फर्श, पशुपालको के मौसमी पडावो के अवशेष होगे। काले व लाल भाण्ड अधिक सुसम्बद्ध क्षेत्र मे फैले हुए है और ऐसे लोगो की अधिक स्थायी किस्म की बस्ती के सूचक है जिनकी उपस्थिति ने पहले के भाण्डो के इस्तेमाल पर रोक लगा दी, पहले के इन भाण्डो का प्रचलन इतने यकायक बन्द हो गया कि इनके कोई विपुल मध्यवर्ती अवशेष नही मिलते। सम्भव है कि इस दूसरे स्तर के भाण्डो वाले लोगो का सम्बन्ध उत्तरी राजस्थान के ऐसे ही भाण्डा वाले लोगो से रहा हो, परन्तु आर्य लोग जहा भी गये वहाँ वे उनके भाण्ड तकनीक को अपनाते गये। चित्रित धूसर भाण्डो को पूर्व भाण्ड का नाम दिया जाना चाहिए, लोहे के साथ इसका अदभुत सम्बन्ध है। यह नयी धातु प्रचुर मात्रा म मिलती है जो भूमि की स्थायी सफाई और सही मान म कृषि की सूचक है। साथ ही, इस धातु म तजी से वृद्धि होने से चित्रित धूसर भाण्डा के स्थान पर सादे, उपयोगी भूरे भाण्डो का प्रचलन बढता गया। यहाँ मे इतिहास मे तेजी से प्रगति होती है पर सुनिश्चित निष्कर्षों के लिए पहले पुरातात्त्विक उत्खनन और विस्तृत विवरणो का प्रकाशित होना अत्यावश्यक है। यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि अलीगढ दल के सर्वेक्षणो से पश्चिमी उत्तर प्रदेश (एटा जिला) मे ऐसे ही स्तर क्रमवाले अन्य अनेक स्थलो की खोज हुई है अत यहा प्रस्तुत किये गये नतीजे एक ही स्थल तक सीमित नही है।

OOO

अनुक्रमणिका



कोसम्बी का जीवन एक ऐसे परिवा
ज्ञान और सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में प्र
विख्यात रहा है। उनके पिता धर्मानन्द क
बौद्ध विद्वान थे जिनसे उन्हें धुमक्कड़ी मन
साथ विलक्षण मेधा भी विरासत में प्राप्त हु
प्रारम्भिक शिक्षा भारत में हुई लेकिन उ
पिता ने हार्वर्ड (संयुक्त राज्य अमरिका)
काम स्वीकार कर लिया और इसलिए
शिक्षा कैम्ब्रिज लैटिन स्कूल में हु
विश्वविद्यालय से उन्होंने गणित, इतिहास
में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। भारत
उन्होंने कुछ वर्ष बनारस हिन्दू विश्ववि
फिर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में
१९३२ ई० में उनकी नियुक्ति गणित
रूप में फरग्युसन कालिज, पूना में हु
वर्ष तक रहे। यही वह काल है जब
विविध क्षेत्रों में अधिकार प्राप्त करने की
के साथ एक चिंतक और विद्वान के रूप
नता की आधारशिला रखी।

प्रोफेसर कोसम्बी मानव समाज की व्य
उसे बदलने के लिए मार्क्सवादी पद्धति
थे लेकिन आधुनिक शोध की रोशनी में
द्वारा प्रस्तुत सामग्री में संशोधन करने से
के एक स्वतन्त्र चिंतक थे और उन्हों
वैज्ञानिक शोध के लिए समर्पित कर दि
विज्ञान के इतने विविध क्षेत्रों में और इ
साथ उन्होंने काम किया है कि एक व्यक्ति
के लिए वह अविश्वसनीय लगता है।

आधुनिक भारत की यह जाज्वल्यमा
१९६६ को क्षीति शेष हो गयी।